CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

संस्कृत अलंकार : उद्भव और विकास

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

संस्कृत अलंकार : उद्भव और विकास

डॉ० (कु०) सुषमा

इण्डो-विज़न प्राइवेट लिमिटेड
II ए-२२० नेहरू नगर, गाजियाबाद-२०१००१ (उ० प्र०)

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

प्रथम संस्करण : १९८६
स्वाम्य : डॉ० (कु०) सुषमा
मूल्य : १२५ रु०

संस्कृत अलंकार : उद्भव और विकास
लेखिका : डॉ० (कु०) सुषमा
प्रकाशक : इण्डो विज़न प्राइवेट लिमिटेड,
II ए-२२० नेहरू नगर, गाजियाबाद—२०१००१;
मुद्रक—देव प्रिण्टर्स, खत्ता रोड, शाहपीर गेट, (मेरठ)।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

समर्पण

वात्सल्यमयी माँ को सादर एवं सभक्ति

—सुषमा

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

प्राक्कथन

भारतीय साहित्यशास्त्र में अलंकार सम्बन्धी चिन्तन की सुदीर्घ परम्परा रही है। काव्यशास्त्र में अलंकारों की महत्ता इस बात से प्रकट होती है कि काव्यशास्त्र अलकार शास्त्र अभिधान से भी प्रसिद्ध रहा है। राजशेखर ने इसकी महत्ता का वर्णन करते हुए इसे वेद का सप्तम अंग स्वीकार किया है। उनके अनुसार अलंकार वेद के अर्थ का उपस्कारक होता है तथा अलंकारों के अभाव में वेदार्थ की अवगति नहीं हो सकती—

उपकारकत्वात् अलंकार सप्तममङ्गमिति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूप-परिज्ञानात् वेदार्थानवगति। **—काव्यमीमांसा**

अलंकार-प्रस्थान में तो अलंकार को काव्य-तत्त्वों में शिरोमणि माना ही गया है, इतरेतर ध्वनि आदि प्रस्थानों में भी उसकी महत्ता किसी न किसी रूप में स्वीकृत हुई है। प्रस्तुत पुस्तक **संस्कृत अलंकार : उद्भव और विकास** अलंकारों का एक साथ ही परिचय देने की दिशा में एक लघु प्रयास है। इस पुस्तक के लिखने में संस्कृत विद्वानों के जिन अनेक अमूल्य ग्रन्थों और लेखों से समुचित सहायता ली गई है, उनका उल्लेख पुस्तक में यथास्थान कर दिया है। डॉ० भोलाशंकर व्यास-कृत **'भारतीय साहित्य शास्त्र और काव्यालंकार'**, डा० राजवंश सहाय 'हीरा'—कृत **'अलंकारानुशीलन'**, डा० रामचन्द्र द्विवेदी-कृत **अलंकार-मीमांसा** तथा शोभाकान्त मिश्र-कृत **अलंकार-धारणा : विकास और विश्लेषण'** से यथावश्यक सहायता ली गई है। अतः इन सभी विद्वज्जनों के प्रति आभार-प्रदर्शन करना मैं अपना परम कर्तव्य समझती हूँ।

परम आदरणीय डा० महेश भारतीय, रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, एम० एम० एच० कालिज, गाजियाबाद, ने प्रकाशन के कार्य में जो सक्रिय सहयोग दिया है, वह शब्दातीत है।

इस पुस्तक के प्रकाशक इण्डोविज़न प्राइवेट लिमिटेड गाजियाबाद के प्रति मैं आभार प्रकट करते हुए हर्ष का अनुभव कर रही हूँ, जिसने इस पुस्तक को समयोचित प्रकाशित करने का भरपूर प्रयास किया है।

विनीता

सुषमा

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विषय-सूची

१. अलंकारशास्त्र का उदय और विकास — १

२. काव्य का स्वरूप और उसके उपादान तत्त्व — १०

३. काव्य में अलंकारों का स्थान — ३६

४. अलंकारों का क्रमिक विकास — ४५

५ अलंकारों का वर्गीकरण — ८२

६. शब्दालंकार — ९४

अनुप्रास (९५), यमक (११८), पुनरुक्तवदाभास (१२४), वक्रोक्ति (१२७), श्लेष (१२९), चित्र (१४१), प्रहेलिका (१४५),

७. सादृश्यमूलक अलंकार — १४८

८. सादृश्येतरमूलक अलंकार — १९८

विरोध (१९२), विभावना (२०३), विशेषोक्ति (२०८), अतिशयोक्ति (२१३), विषम (२२१), सम (२२५), असंगति (२२८), विचित्र (२३०), अधिक (२३१), अन्योय (२३३), विशेष (२३५), व्याघात ।

शृङ्खलाबन्धमूलक—कारणमाला (२४४), एकावली (२४६), मालादीपक (२४८), सार (२५०) ।

तर्कन्यायमूलक—काव्यलिंग (२५२), अनुमान (२५५) ।

वाक्यन्यायमूलक—यथासंख्य (२५६), पर्याय (२५९), परिवृत्ति (२६१), परिसंख्या (२६४), अर्थापत्ति (२६६), विकल्प (२६८), समुच्चय (२६९), समाधि (२७२) ।

लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक (२७३), प्रतीप (२७५), मीलित (२७८), सामान्य (२८०), तद्गुण (२८२), अतद्गुण (२८४), उत्तर (२८६) ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

गुढार्थंप्रतीतिमूलक—सूक्ष्म (२८६), व्याजोक्ति (२६१)।

रसादिप्रतीतिमूलक—रसवत् (२६३), प्रेय (२६७), उर्जस्वि (२६८), समाहित (३००), भावोदय भावसन्धि और भावशबलता (३०२)।

स्वभावप्रतीतिमूलक—स्वभावोक्ति (३०४), भाविक (३०८), उदात्त (३१२)।

मिश्रित वर्ग—संसृष्टि (३१५), संकर (३१८)।

९. उपसंहार ३२१

१०. सहायक ग्रन्थ-सूची ३२५

—:o:—

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

१

अलंकारशास्त्र का उदय और विकास

साहित्यशास्त्र (अलंकारशास्त्र) के इतिहास के विद्यार्थियों के समक्ष यह प्रश्न सदा जटिल रूप से उपस्थित रहा है कि उसका आदिकाल क्या है ? काव्य के क्षेत्र में भले ही **बाल्मीकि रामायण** को सामान्य रूप से आदि काव्य मान लिया जाता है, किन्तु अलंकारशास्त्र के आदिकाल की खोज के प्रसंग में निराशा के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगता। वर्तमान उपलब्ध ग्रन्थों में भामह का **'काव्यालंकार'** ही अलंकारशास्त्र के प्रथम ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु भामह ने स्वयं ही अपने **'काव्यालंकार'** में आचार्य मेधाविन् का उल्लेख पूर्ववर्ती आचार्य के रूप में किया है, यद्यपि उनके ग्रन्थ और उनके मन्तव्य आज भी खोज के विषय बने हुए हैं।

भामह के **'काव्यालंकार'** से पूर्व अलंकारशास्त्र के किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की उपलब्धि न होने पर भी विभिन्न विषयों के अन्य ग्रन्थों में अलंकार-विषयक चर्चा अवश्य प्राप्त हो जाती है। **'निघण्टु'** के व्याख्याकार यास्क ने **'निरुक्त'** में अपने पूर्ववर्ती गार्ग्य का उल्लेख करते हुए उपमा का लक्षण दिया है।[१] यास्क ने एक अन्य स्थल पर उपमा के कुछ भेदों की ओर भी संकेत किया है, जिनमें लुप्तोपमा (अर्थोपमा) मुख्य है।[२] उपमा के भिन्न-भिन्न अंगों का विकास पाणिनि से पूर्व हो चुका था, इसका आभास हमें उनके व्याकरण सूत्रों से होता है, जिनमें उपमान और उपमेय का उल्लेख किया गया है।[३]

इनके अतिरिक्त व्यास के वेदान्तसूत्रों में भी कुछ अलंकारों की चर्चा मिलती है, जिनमें उपमा और रूपक मुख्य हैं।[४] संस्कृत के अनेक कवियों ने भी साहित्य-

---

१. अथात उपमा। 'यदतत्तत्सदृशम्' इति गार्ग्यः। तदासां कर्मज्यायसा वा गुणेन, प्रख्याततमेन वा, कनीयांसं वा अप्रख्यातं वोपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्। —**निघण्टु** ३।१३।

२. लुप्तोपमानानि अर्थोपमानानि इत्याचक्षते। —**निरुक्त** ३।४।१।

३. (क) उपमानानि सामान्यवचनैः। —**अष्टाध्यायी** २।१।५५।
 (ख) उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। —**वही** २।१।५६।
 (ग) तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्। —**वही** २।३।७२।

४. (क) अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्। —**वेदान्तसूत्र** ३।२।१८।
 (ख) आनुमानिकमपि एकेषां इतिचेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च। —**वही** १।४।१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

सरिता के सरस स्रोत में कहीं-कहीं अलंकारशास्त्र के तत्त्वों की ओर संकेत किया है। उदाहरणार्थ हम **वाल्मीकि-रामायण** को ले सकते हैं। उसमें एक प्रसंग में—अर्थ का उदार चरित्र वाला होना, पदों का मनोरम होना, समाक्षरता, छन्द की दृष्टि से निर्दोषता, समास-सन्धि का समुचित आश्रयण, समता, मधुरता एवं प्रसाद गुण से युक्त होना तथा बन्ध-शैथिल्य से रहित वाक्ययोजना आदि काव्यगुणों की चर्चा करते हुए **रामायण** को इन गुणों से युक्त कहा गया है।[1] **महाभारत** में भी शलभाजनक संवाद के प्रसंग में शलभा के कथन को विविध दोषों से रहित कहते हुए दोष आदि काव्यतत्त्वों का उल्लेख किया है।[2]

कालिदास ने अपने काव्य-ग्रन्थों में यथास्थान अलंकारशास्त्र के विभिन्न रहस्यों की व्यंजना की है। एक स्थल पर उन्होंने रसादि की सत्ता रहने पर अलंकारों को अनावश्यक माना है।[3] दूसरे स्थल पर उन्होंने काव्य (नाट्य) को अनेक रसों से युक्त माना है और यह कहा है कि वह इसीलिए (रसयुक्त होने के कारण) समस्त जनों के लिए तृप्तिदायक हो पाता है।[4] इसी प्रकार काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी कवि कालिदास ने स्पष्ट संकेत किया है कि शब्द और अर्थ का सम्पृक्त रूप ही काव्यार्थ की सिद्धि करता है।[5]

---

१. उदारवृत्तार्थपदैः मनोरमैः तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान्।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्युदारदर्शनः।
तदुपगत समासन्धियोगं सममधुरोपनतार्थं वाक्यबद्धम्।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम्॥

रामायण-बालका० २।४२।

२. अपेतार्थं भिन्नार्थं न्यायवृत्तं न चाधिकम् नाश्लक्ष्णं न च सन्दिग्धं वक्ष्यामि परमं ततः।

न गुर्वक्षरवृसंयुक्तं परांगमुखसुखं न च,
नावृत्तं न त्रिवर्गेण विरुद्धं नाप्यसंस्कृतम्।
न न्यूनं कष्टशब्दं वा निद्रयाभिहितं न च,
न शेषमनुकल्पेन निष्कारणमहेतुकम्॥ —शलभाजनक संवाद,

महाभारत शान्तिपर्व—पृ० ६५६–६०, रामानन्द शा० संपा० प्रथम संस्करण, १६३२।

३. किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। —**अभि० शा०** १।१७।

४ त्रैगुण्योद्भवमत्रलोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्।

—**मालविकाग्निमित्रम्** १।४।

५. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। —**रघुवंशम्** १।१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य के प्राचीन काव्यों में अलंकार-शास्त्र के तत्त्वों का यथास्थान संकेत तो मिलता है, किन्तु अलंकारशास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में भामह के **'काव्यालंकार'** से पूर्व हमें कोई रचना उपलब्ध नहीं होती। शास्त्रीय ग्रन्थों में भामह से पूर्व भरतकृत **नाट्यशास्त्र** अवश्य ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिस में अलंकारशास्त्र के प्रायः समस्त अंगों का विवेचन हुआ है। भरत का रस-सिद्धान्त तो आदिकाल से अब तक अक्षुण्ण रूप से काव्यमनीषियों का मान्यसिद्धान्त है। रस के अतिरिक्त भाव, रसाभास, भाव-भास आदि तथा इनके समस्त आवश्यक उपकरणों में किसी ने परिवर्तन करने का साहस आज तक नहीं किया। इन्होंने उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों[1] की तथा भूषणादि ३६ काव्य-लक्षणों[2] की चर्चा की है। काव्य में आवश्यक गुणों[3] तथा परिहार्य दस दोषों[4] का भी विशद विवेचन इनके ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

इतना सब कुछ होते हुए भी इस ग्रन्थ को अलंकारशास्त्र का आदि ग्रन्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नाट्य है। नाट्य के अन्तर्गत आंगिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय के साथ वाचिक अभिनय भी आता है। इस वाचिक अभिनय के लिए नाट्य में काव्य की आवश्यकता पड़ती है। अर्थात् काव्य नाट्य के एक अंग के रूप में उसमें प्रयुक्त होता है। उस अंग के विवेचन के लिए ही **नाट्यशास्त्र** में इस विषय की चर्चा की गई है। इस प्रकार भरत की दृष्टि में काव्य नाट्य का एक अंग है और इसी दृष्टि से उन्होंने **नाट्यशास्त्र** में काव्य के उपादान तत्त्वों का विवेचन भी किया है।

भामह से पूर्व **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** में भी अलंकारशास्त्र के अनेक उपादान तत्त्वों का विवेचन प्राप्त होता है, जिसमें काव्यलक्षण, रस[5] और अलंकार प्रमुख[6] हैं।

---

१. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाः चत्वारो नाटकाश्रयाः ॥ **नाट्यशास्त्र** १७।४३।

२ भूषणाक्षरसंघातौ शोभादाहरणे तथा,
हेतुसंशयदृष्टान्ताः प्राप्ताभिप्राय एव।
निदर्शनं निरुक्तश्चसिद्धिश्चात्थविशेषणम्,
गुणातिपातातिशयौ तुल्यतर्कं पदोच्चयः।
दृष्टञ्चैव अपदिष्टं च विचारस्तद्विपर्ययः,
भ्रंशश्चानुनयोमालादाक्षिण्यं गर्हण तथा।
अर्थापत्तिः प्रसिद्धिश्च पृच्छासारुप्यमेव च,
मनोरथञ्च लेशश्च क्षोभात्थगुणकीर्तनम्।
ज्ञेयान्यनुक्तसिद्धिश्च प्रियवचनमेव च,
षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं काव्यबंधेषु निर्दिशेत् ॥ वही १७।१–५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

किन्तु इस पुराण को भी काव्यशास्त्र का ग्रन्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि पुराण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अलंकार आदि नहीं हुआ करते।[१]

नाट्यशास्त्र और पुराणों की परिधि से मुक्त अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ का दर्शन हमें सर्वप्रथम भामह के **काव्यालंकार** के रूप में होता है। इसे ही अलंकारशास्त्र का आदिकाल अथवा आदि काव्यशास्त्र कहा जा सकता है, जिसका विकास क्रमशः दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ, रुय्यक, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ के ग्रन्थों में हुआ है। अलंकारशास्त्र के इस सुदीर्घकाल को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. **ध्वनिपूर्वकाल**——भामह से आनन्दवर्धन से पूर्व तक (अर्थात् ईसा की षष्ठ श० से नवम श० तक)

२. **ध्वनिकाल**—— आनन्दवर्धन से मम्मट, रुय्यक तक (अर्थात् नवम श० से द्वादश श० तक)

पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट पाद-टिप्पणी—

३. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणाः दशैते ॥
वही० १७।८८।

४. अगूढ़मर्थान्तिरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिलुप्तार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वैदश काव्यदोपाः ॥
वही १७।८८।

५. तदेवकाव्यमित्युक्तम् उपदेशैर्विनाकृतम्,
·········रसैः कार्यं समन्वितम्।
विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अध्याय १५।१४।

६. अनुप्रास, यमक, रूपक, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, उपन्यास, विभावना, अतिशयोक्ति, वार्ता, यथासंख्य, विशेषोक्ति, विरोध, निन्दा-स्तुति, निदर्शन, और अनन्वय।
नाट्यशास्त्र १४।१–१५ तक, काणे काव्यशास्त्र का हिन्दी संस्करण—पृ० ८९।

१. (क) सर्गश्चप्रतिसर्गश्च वंशोमन्वान्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ **कूर्मपुराण** १।१२।

(ख) सर्गः प्रतिसंहारः कल्पोमन्वन्तराणि वंशविधिः।
जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति ॥
काव्यमीमांसा पृ० ३, अध्याय २।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

३. ध्वन्युत्तरकाल—मम्मट, रुय्यक से पण्डितराज जगन्नाथ तक (अर्थात् द्वादश श० से १७ वीं श० के अन्तिम भाग तक या १८ वीं श० के प्रारम्भ तक)

आनन्दवर्धन से पूर्व भामह, दण्डी, वामन तथा रुद्रट आदि के द्वारा किया गया अलंकारों का विवेचन मौलिक कहा जा सकता है। इस विवेचन में अलकारों को प्रधानता देते हुए ध्वनि तत्त्व को भी उसमें अन्तर्भूत कर लिया गया है।

आनन्दवर्धन के पश्चात् (मम्मट और रुय्यक तक) एक ओर अलंकारों के स्वरूप में स्थिरता ने प्रवेश किया और दूसरी ओर ध्वनि के प्राधान्य की दृष्टि से काव्य में उनका उचित स्थान निश्चित किया गया।

मम्मट और रुय्यक के बाद (ध्वन्युत्तर काल में) यत्किञ्चित् भेद या अभेद के आधार पर अलंकारों की संख्या घटाई अथवा बढ़ाई जाती रही। अलंकार-विशेष के लक्षणों के सम्बन्ध में उत्पन्न मतभेदों पर यदि ध्यान न दिया जाए, तो यह कहा जा सकता है कि इस काल में अलंकारों के मौलिक चिन्तन और मनन की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया, जितना शास्त्रार्थ की ओर। अलंकारशास्त्र के विकास के इस सुदीर्घकाल में चिन्तन-शैली की विविधता की कुछ धाराएँ प्रस्फुटित हुईं जो वाह्य रूप से स्वतन्त्र होती हुईं भी वट वृक्ष के प्ररोहों के समान काव्यशास्त्र रूपी वृक्ष को दृढ़ता प्रदान करती रही हैं। अलंकारशास्त्र काव्य के विभिन्न उपादान तत्त्वों की प्रधानता की दृष्टि से ६ प्रमुख सम्प्रदायों में विभक्त हो जाता हैं—

१. रस सम्प्रदाय	२. अलंकार सम्प्रदाय
३. रीति सम्प्रदाय	४. ध्वनि सम्प्रदाय
५. वक्रोक्ति सम्प्रदाय	६. औचित्य सम्प्रदाय

उपर्युक्त इन सम्प्रदायों के प्रमुख प्रवर्तक आचार्य क्रमशः भरत, भामह और उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक तथा क्षेमेन्द्र माने जाते हैं। अलंकार सम्प्रदायों की चर्चा के प्रसंग में यह स्मरणीय हैं कि इन सम्प्रदायों में से किसी भी एक का विश्लेषण करते हुए उसकी पुष्टि के लिए भामह आदि प्रत्येक आचार्य की मान्यताएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। इस प्रकार प्रत्येक आचार्य किसी न किसी रूप में उपर्युक्त सभी सम्प्रदायों का समर्थन करता दिखाई पड़ता है। इस विरोधाभास का कारण सम्भवतः यह माना जा सकता है कि वास्तव में प्रत्येक आचार्य काव्यतत्त्व के प्रसंग में यद्यपि एक ही तत्त्व को प्रस्तुत करना चाहता है, किन्तु प्रत्येक की शैली स्वतन्त्र है और इसी शैली भेद के कारण नामभेद या सम्प्रदाय भेद हो गया है। इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय में दूसरे सम्प्रदाय के विचार या तत्त्व अवश्य मिलते हैं। इस वास्तविकता को देखते हुए यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि एक सम्प्रदाय उसी तरह के दूसरे सम्प्रदाय की मान्यता का न केवल अविरोधी है, अपितु एक-दूसरे से

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

समन्वित भी है। उदाहरणार्थ—ध्वनि सम्प्रदाय, रससम्प्रदाय को पूर्णतः अन्तर्भूत करके चलता है, यद्यपि दोनों को पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार किया जाता है। रसवादी कविराज विश्वनाथ रसनीयता का सम्बन्ध सिद्धान्ततः केवल रस से मानकर भी वस्तु और अलंकार में उसका आस्वाद स्वीकार करते हैं।[१] इतना ही नहीं उनके अनुसार नीरस पद्य भी काव्य-रस की रसवत्ता पाकर रसवत् एवं सरस हो जाते हैं।[२] आचार्य कुन्तक ने भी वक्रोक्ति के ६ भेद[३] करते हुए उनमें ही रस, अलंकार आदि सभी तत्त्वों का समावेश कर दिया है।[४] क्षेमेन्द्र का औचित्य रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन है, उनके अनुसार अलंकार्य रस का परिपोष औचित्य से होता है। इस प्रकार कहना अनुचित न होगा कि रसवादी भरत और विश्वनाथ ध्वनिवादी आनन्दवर्धन, वक्रोक्तिवादी कुन्तक तथा औचित्यवादी क्षेमेन्द्र आदि सभी का आग्रह एक ही अलंकार्य रस पर है। शेष सब तत्त्व उपस्कारक या अलंकार हैं। यही स्थिति रीति आदि अन्य सम्प्रदायों की भी कही जा सकती है।

अलंकारवादी भामह काव्य के—शब्द और अर्थ—शरीर को अलंकार्य तथा अन्य सभी को अलंकार मानते हैं।[५] वामन रीति (विशिष्ट पद-रचना) को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं।[६] यह पद-रचना शब्द या शब्दार्थ से भिन्न नहीं है।

---

१. ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा तदा······वस्तु मात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेन्न। अत्रापि रसाभासवत्तयेव इति ब्रूमः। —**सा० द०**—पृ० १८।

२. ननु तर्हि प्रबंधान्तरवर्तिनाँ केशान्चिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्थादिति चेन्न। रसवत् पद्यान्तर्गत नीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रवंधरसेनैव तेषां रसवत्तांगीकारात्। —**वही**—पृ० १९।

३. कविव्यापार वक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट्।

—**वक्रोक्ति-जीवित** १।१८। पृ० ६४।

४. देखिये—**वक्रोक्ति-जीवित, भूमिका**—पृ० १५०–२१३

(डा० नगेन्द्र संपादित सन् १९५५)

५. (क) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—**काव्यालंकार** (भामह)—१।१६।

(ख) अलंकारवदग्राम्यमथ्यँ न्यायमनाकूलम्। **वही**।१।३५।

······························

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति। —**वही**—१।३६।

६. (क) रीतिरात्मा काव्यस्य। —**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** १।२।६, पृ० १४।

(ख) रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्य शेषः॥

—**वही** पृ०१४।

(ग) विशिष्टा पदरचना रीतिः। —**वही** १।२।७, पृ० १४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अतः यह कहा जा सकता है कि वामन के अनुसार भी शब्दार्थ ही अलंकार्य है। इनके श्लेष आदि दस गुण शब्दार्थ रूप काव्य की ही शोभा बढ़ाते हैं।[1] उनके मत में रसादि को अलंकार्य नहीं माना जा सकता, वे रसादिमत्ता को 'कान्ति' गुण के नाम से अभिहित करते हैं।[2] इस प्रकार अन्ततः वामन के मत में रसादि भी शब्दार्थ रूप काव्य की शोभा बढ़ाने वाले सिद्ध होते हैं। उनके मतानुसार गुण सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही अलंकार है।[3] उपमा आदि अलंकार भी गुणों से उत्पन्न होने वाले इस सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं।[4] इस प्रकार यह मानना अनुचित न होगा कि वामन का रीति सम्प्रदाय भी रस, अलंकार आदि का अविरोधी है।

ध्वनि या रस सम्प्रदायों की स्थिति इससे कुछ भिन्न है। इनमें शब्दार्थ, गुण तथा अलंकार आदि सभी काव्यतत्त्वों की चर्चा की गई है, किन्तु वहाँ अलंकार्य, शब्दार्थ रूप काव्य नहीं है, अपितु तदात्मभूत रस या व्यंग्यत्रयी (वस्तु, रस और अलंकार) है। इस सम्प्रदायों के आचार्य रस को अलंकार के चरणों में नहीं बांधते हैं, अपितु गुण तथा अलंकार के स्वरूप का निरूपण भी रस को दृष्टि में रखकर करते हैं। इस प्रकार इन सम्प्रदायों में रसोत्कर्ष ही गुण और अलंकार-योजना का अभीष्ट कहा जा सकता है। रसोन्मुख होने के कारण गुण या अलंकार दोनों ही रस के उपस्कारक हैं। ध्वनिवाद को मानकर चलने से गुण तथा अलंकार में अन्तर केवल यह रह जाता है कि गुण काव्य की आत्मा-रसादि (ध्वनि) के धर्म कहे जाते हैं तथा अलंकार काव्यार्थ शरीर के धर्म।[5] ध्वनिवादी की दृष्टि तो व्यंग्यत्रयी पर है, अन्य बाह्य-तत्व पर नहीं। उसका अलंकार्य पर यह आग्रह आत्मोन्मुखी या अन्तमुखी चेतना है, जबकि अलंकार पर आग्रह बहिर्मुखी चेतना कही जा सकती है। तात्पर्य यह है कि अलंकारवादी आचार्य भामहादि शब्दार्थ को शरीर और आत्मा दोनों मानते हैं, जबकि ध्वनिवादी शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर को आत्मा नहीं मानते।

कुन्तक का वक्रोक्ति सम्प्रदाय भी अलंकारसम्प्रदाय से सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि प्राचीन अलंकारिकों की भाँति वक्रोक्ति-जीवितकार अलंकार को ही सब कुछ मानकर नहीं चले हैं। आचार्य कुन्तक ने अपनी षड्विध वक्रता में वामन के समस्त गुण-चक्र को तथा ध्वनि सम्मत व्यंग्यत्रयी

---

१. काव्यशोभाकर्तारो धर्माः गुणाः—वही —३।१।१, पृ० ६८।

२. दीप्तरसत्वं कान्तिः। —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३।२।१४, पृ० ६४।

३. सौन्दर्यमलंकारः। —वही १।१।२, पृ० ७।

४. तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः। —वही ३।१।२, पृ० ६६।

५. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्या कटकादिवत्॥ध्वन्यालोक २।६, पृ० ६४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

(वस्तु, अलंकार और रस) को समेट लिया है।[1] उनकी यह वक्रोक्ति अलंकार्य नहीं अपितु अलंकार है और अलंकार्य रसादि नहीं अपितु शब्दार्थ रूप काव्य है, क्योंकि उनके अनुसार काव्य और कुछ नहीं, केवल कवि-कर्म है।[2] कवि-कर्म के सम्बन्ध में उनका कथन है कि जो 'अलंकार सहित, अवयवरहित समस्त समुदाय है, वही कवि-कर्म अर्थात् काव्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अलंकार सहित शब्द और अर्थ ही काव्य है।[3] इनके अनुसार अलंकार काव्य का नित्यधर्म है, बाह्य आभूषणमात्र नहीं। काव्यत्व की स्थिति अलंकार और अलंकार्य शब्द और अर्थ के समुदाय में रहती है। इसे ही और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्तक ने कहा है कि काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द देने वाली, सुन्दर (वक्र) कविव्यापार युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर (सहित रूप में) काव्य कहलाते हैं।[4]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्यसम्प्रदाय में औचित्य को रस का जीवन माना है।[5] औचित्य से उनका तात्पर्य पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार और रस आदि की समुचित योजना करने से हैं।[6] क्योंकि काव्य में इन सब तत्त्वों की योजना

---

१. (क) कविव्यापार वक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट्।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्ति शोभिनः॥ **वक्रोक्तिजीवित** १।१८ पृ० ६४

(ख) वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्धवक्रता।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः॥ **वही** १। १९, पृ० ६५।

(ग) वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्नालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति॥ **वही** १।२०, पृ० ८७।

(घ) वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः॥**वही** २।२१, पृ० ९०।

२. कवेः कर्मकाव्यम्। वही १।२ पृ० ७।

३. तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता। **वक्रोक्ति जीवितम** वृत्ति १।६, पृ० १७। ......अयमत्र परमार्थः सालंकारस्यालंकारणसहितस्य सकलस्यं निरस्तावयवस्य सतः काव्यताकविकर्मत्वमिति स्थितिः। **वही** १।६, पृ० १७।

४. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धेव्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ **वही** १।७,पृ० १८।

५. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्यविचारं कुरुतेऽधुना ॥**औचित्यविचारचर्चा कारिका**।३।

६. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ **औचित्यविचारचर्चा** पृ० ७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

में औचित्य का निर्वाह न होने से गुणादि की स्थिति में भी रस की अनुभूति नहीं हो पाती। ओचित्य की इस महत्ता को ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार किया है।[1]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्प्रदाय में भी रस, ध्वनि, रीति, गुण, अलंकार आदि सभी काव्य के उपादान तत्त्वों का अन्य सम्प्रदायों की तरह समावेश दिखाई पडता है।

कहने का आशय यह है कि उपर्युक्त ६ सम्प्रदायों में अलंकार सम्प्रदायों में अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय तथा वक्रोक्ति-सम्प्रदाय साहित्यालोचक की वहिर्मुखी चेतना को परिलक्षित करते हैं। सभी सहयात्री हैं, क्योंकि सभी शब्दार्थ से अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं। रस, ध्वनि तथा औचित्य के सम्प्रदाय अलंकार्य के सम्प्रदाय हैं। यद्यपि ये भी शब्दार्थ से अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं, किन्तु वहीं उसे समाप्त नहीं करते हैं, क्योंकि वे रसादि को विश्रान्तिस्थल मानते हैं। ये अलंकार्य को अलंकार नहीं बनाते, अपितु अलंकार को ही अलंकार के सापेक्ष या आधीन मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक वृत्त के सम्प्रदाय उसी तरह के दूसरे सम्प्रदाय की मान्यता के विरोधी होते हुए भी लघुवृत्त और दीर्घवृत्त की भाँति एक ही परिधि में आते हैं। इस प्रसंग में आचार्य कुम्पूस्वामी कृत निम्नांकित आलोचनायन्त्र द्रव्टव्य है :—

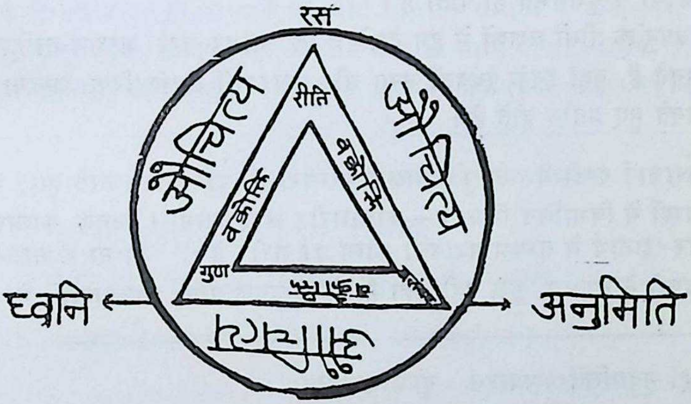

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य भरत रचित **नाटयशास्त्र** रूपी उत्तुंग हिमगिरि की गोद में उत्पन्न अलंकारशास्त्र रूपी सुरसरिता भामह के **काव्यालंकार** रूपी गंगोत्री से प्रकट होकर अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि तीर्थों में प्रवाहित होती हुई संस्कृत वाङ्मय रूपी भारतभू को पवित्र और समृद्ध वनाती हुई ज्ञान-सागर में गम्भीरता की सृष्टि करती है।

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यवन्धस्तु रसस्योपनिष्त्परो ॥ध्वन्यालोक पृ० ३०२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

२

काव्य का स्वरूप और उसके उपादान तत्त्व

काव्य के विभिन्न उपादान तत्त्वों में अलंकारों का क्या महत्त्व है, इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि काव्य का स्वरूप क्या है एवं उसके काव्यत्व में किन-किन तत्त्वों को अनिवार्य रूप से विद्यमान रहना चाहिए।

अलंकारशास्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थों में काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ न कुछ संकेत अवश्य प्राप्त होता है। भरत के अनुसार काव्य कोमल और मनोहर पदों से युक्त, गूढ़शब्दार्थ रहित, सुबोध, युक्तियुक्त, नृत्य में उपयोग करने योग्य, रसस्रोतों को प्रवाहित करने वाला और संधिसंधान से युक्त हुआ करता है।[1]

भामह ने शब्दार्थ-साहित्य को ही काव्य माना है।[2] शब्दार्थ-साहित्य से उनका तात्पर्य उक्तिवैचित्र्यपूर्ण रचना से है। उसकी सत्ता में ही काव्य गुण, अलंकार आदि विभिन्न तत्त्वों से सुशोभित हो पाता है।[3]

उपर्युक्त तीनों लक्षणों में हम देखते हैं कि भामह जहाँ शब्दार्थ-साहित्य को काव्य मानते हैं, वहाँ इनके पूर्ववर्ती भरत और उत्तरवर्त्ती आलंकारिक शब्दमात्र को काव्य मानते हुए प्रतीत होते हैं।

आचार्य दण्डी ने उपर्युक्त लक्षण परम्परा में परिष्कार करते हुए काव्य को दो खण्डों में विभाजित किया है—काव्यशरीर और आत्मा। उनके काव्यलक्षण के अनुसार 'इष्टार्थ से सम्पन्न पदावली काव्य का शरीर है।'[4] आत्मा के सम्बन्ध में आचार्य दण्डी ने स्पष्टतः कुछ नहीं कहा है, किन्तु उनके ग्रन्थ **'काव्यादर्श'** में किये

---

१. मृदुललितं पदाढ्यं गूढ़शब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्,
न भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्॥ —**नाट्यशास्त्र** १६।११८।

२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। —**काव्यालंकार (भामह)** १।१६।

३. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ —**वही** २।८५।

४. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। —**काव्यादर्श** १।१०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

गये अलंकारों के विशिष्ट विवेचन को देखते हुए अनुमान लगाया जा सकता है कि वे अलंकार को काव्य की आत्मा मानते हैं। एक स्थल पर उन्होंने अलंकारों द्वारा अर्थ में रसनिषेक भी स्वीकार किया है।[१] इसके अतिरिक्त उनका कहना है कि काव्य पूर्णतः निर्दोष होना चाहिए, क्योंकि दोष के संश्लेष से भी वह अग्राह्य हो जाता है।[२]

दण्डी के अनन्तर आचार्य वामन ने काव्यलक्षण में कुछ परिष्कार करते हुए अपने नवीन मत की स्थापना की। इनके अनुसार दोषरहित, गुणालंकार-युक्त शब्दार्थ काव्य कहलाता है।[३] आत्मा के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश इनसे पूर्व किसी ने नहीं किया था। उनका कथन है कि 'रीति काव्य की आत्मा है।'[४]

अग्निपुराणकार के अनुसार गुणयुक्त, दोषों से रहित, स्फुरित होते हुए अलंकारों से युक्त, दृष्टार्थ सम्पन्न पदों वाला वाक्य काव्य कहलाता है।[५]

वामन के अनन्तर रुद्रट का **'काव्यालंकार'** अलंकारशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने सम्मिलित शब्द और अर्थ को काव्य माना है।[६] इस प्रकार आचार्य रुद्रट दण्डी की परम्परा के अनुयायी न होकर भामह के समर्थक कहे जा सकते हैं, यद्यपि इन्होंने काव्य से अनिवार्य तत्त्वों के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट नहीं लिखा है, किन्तु इनके **'काव्यालंकार'** ग्रन्थ में वक्रोक्ति आदि पाँच शब्दालंकारों, चार प्रकार की रीतियों, पाँच प्रकार की अनुप्रास वृत्तियों, भेद-प्रभेद सहित अर्थालंकारों,

---

१. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति। —**काव्यादर्श** १।६२।

२. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद् वपुः सुंदरमपि श्वित्रेणै केनदुर्भगम्॥ —**वही** १।७।

३. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।
—**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** १।१।३।

४. (क) रीतिरात्मा काव्यस्य। —**वही** १।२।६, पृ० १४।
(ख) रीतिर्नामियमात्मा काव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्यशेषः।
—**वही** पृ० १४।

५. संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्नापदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्॥
—**अग्निपुराण** ३३७।२–३।

६. ननु शब्दार्थौ काव्यम्। —**काव्यालंकार (रुद्रट)** २।१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

पद, अर्थ तथा वाक्यदोषों एवं रसों का वर्णन[1] देखकर यह कहा जा सकता है कि इनके अनुसार रीति, वृत्ति, अलंकार और रस से युक्त दोषों से रहित शब्दार्थ काव्य है।

आचार्य रुद्रट के साथ ही काव्य में अलंकारों की प्रधानता का युग समाप्त हो जाता है। रुद्रट के परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करते ही एक नये युग का प्रारम्भ होता है। उन्होंने अलंकारवाद और रीतिवाद का खण्डन करते हुए ध्वनिवाद की स्थापना की। उनके अनुसार सहृदय हृदय को आह्लाद देने वाली शब्दार्थमय रचना ही काव्य है।[2] इस प्रकार वे शब्दार्थ युगल को ही काव्य स्वीकार करते हैं।

आनन्दवर्धन के अनन्तर मम्मटादि प्रायः सभी अलंकारशास्त्रियों ने इनके ध्वनिसिद्धान्त का ही समर्थन किया है। कुन्तक एवं महिमभट्ट ने यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन का प्रयत्न किया है, किन्तु वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके। इतना ही नहीं, ऽवनिसिद्धान्त के प्रभाव से वे स्वयं ही नहीं बच सके हैं।

---

१. (क) वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालंकारास्तु श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु॥
रुद्रट काव्यालंकार २।१३।

(ख) पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र॥ **वही २।४।**

(ग) मधुरा प्रौढ़ा परुषा ललिता,भद्रेति वृत्तयः पञ्च।
वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः॥ **वही २।१९।**

(घ) अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥ **वही ७।९।**

(ङ) असमर्थमप्रतीतं विसंधि विपरीतकल्पनं ग्राम्यम्।
अव्युपत्ति च देश्यं पदमिति सम्यग्भवेद्दुष्टम्॥ **वही ६।२।**

(च) अपहेतुरप्रतीतो निरागमो बाधयन्नसम्बद्धः।
ग्राम्यो विरसस्तद्वानतिमात्रश्चेति दुष्टोऽर्थः॥ **वही ११।२।**

(छ) वाक्यं भवति तु दुष्टं संकीर्णं गर्भितं गतार्थं च।
यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यम्॥ **वही ६।४०।**

(ज) तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
....................................॥ **वही १२।२।**
श्रृंगारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे॥ **वही १२।३।**

२. सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। **ध्वन्यालोक पृ० २२।**

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

सम्भवतः इसीलिए कुन्तक के वक्रोक्ति के भेदोपभेदों में वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्ध-वक्रता (पर्यायवक्रता, विशेषणवक्रता), प्रत्ययवक्रता, संख्यावक्रता, वाक्यवक्रता और प्रवन्धवक्रता आदि के रूप में वर्णध्वनि, प्रकृतिध्वनि, सुप्-(प्रत्यय) ध्वनि, बचन-ध्वनि, वाक्यध्वनि और प्रबन्धध्वनि आदि का स्वरूप देखा जा सकता है। अतः यदि कुन्तक को प्रच्छन्न रूप से ध्वनिसिद्धान्त का अनुयायी कहा जाए, तो अनुचित न होगा। महिमभट्ट ने प्रासंगिक रूप से एक स्थल पर अव्यभिचरित रूप से विभावादिसंयोजनात्मक रसादि के अभिव्यंजक कवि-व्यापार को[1]; अन्यत्र रसात्मक वाक्य को काव्य[2] स्वीकार किया है। उनके अनुसार रसयोजना के लिए काव्य में अनुभाव विभावादि का ही वर्णन किया जाता है।[3] काव्यस्वरूप के सम्बन्ध में महिमभट्ट के इन विचारों को देखकर स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि वे काव्यत्व के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन के समर्थक हैं। महिमभट्ट का विरोध भी ध्वनि द्वारा प्राप्त होने वाले अर्थविशेष के सम्बन्ध में न होकर केवल ध्वनि नाम से ही हैं। उनका कहना है कि काव्य-श्रवण के अनन्तर जो विशेष अर्थ प्राप्त होता है, उसका सम्बन्ध शब्द से नहीं होता है। अतः उसे शब्द का अर्थ न मानकर अर्थ द्वारा अनुमेय मानना चाहिए।[4] ध्वनि और अनुमेय के सम्बन्ध में नाम के विरोध के अतिरिक्त अन्य सिद्धान्तों के सम्ब्रन्ध में अविरोध होने के कारण ही वे ध्वनि के समान अनुमेय के वस्तुमात्र, अलंकार और रस आदि भेद करते हैं।[5] यद्यपि कुन्तक और महिमभट्ट ने काव्यशरीर के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, किन्तु आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित ध्वनि को ही प्रच्छन्न रूप से स्वीकार करते हुए क्रमशः वक्रोक्ति और काव्यानुमिति को काव्य की आत्मा का पद प्रदान किया है, ऐसा कहा जा सकता है।

सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता धाराधिपति भोज ने स्वतन्त्र रूप से काव्य का लक्षण नहीं किया है, किन्तु उन्होंने प्रासंगिक रूप से काव्य के लक्षण के सम्वन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं, उनके अनुसार काव्य को दोष-रहित, गुण-सहित, अलंकारों से अलंकृत तथा सरस होना चाहिए। ऐसे काव्य की रचना से ही कवि

---

१. कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्ति अव्यभिचारि-काव्यमुच्यते। **व्यक्तिविवेक** पृ० ९६। चौखम्बा संस्करण।

२. रसात्मकं च वाक्यं काव्यम्। **वही**, ह० १२९।

३. अनुभावविभावाभ्यां वर्णनाकाव्यमुच्यते। **वही**, पृ० ९६।

४. अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योनुमेयश्च……तत् एव तदनुमिताद्वा लिंगभूता-द्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। **व्यक्तिविवेक** पृ० ३९।

५ स च त्रिविधः वस्तुमात्रं अलंकाराः रसादयश्चति। तत्राद्यो वाच्यावपि सम्भवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति। **वही** पृ० २९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

को कीर्ति और सुख प्राप्त होता है ।[१] भोज के उपर्युक्त कथन से पता चलता है कि वे शब्दार्थयुगल कौ काव्य मानते हैं, क्योंकि शब्दमात्र को काव्य मानने पर 'सरस' विशेषण संगत नहीं हो सकता। 'अलंकारैः' इस बहुवचन से शब्दालंकार तथा अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार तीनों ही विवक्षित प्रतीत होते हैं। यदि उन्हें शब्दमात्र में काव्यत्व अभिमत होता, तो वे उपर्युक्त कथन में अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार का समावेश न करते, क्योंकि वे शब्द को अलंकृत नहीं कर सकते।

काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनुसार काव्य में दोषों का अभाव तथा गुण का रहना अनिवार्य है और अलंकार स्फुट अथवा अस्फुट रूप से रह सकते हैं।[२] इसका तात्पर्य यह हुआ कि इनके अनुसार दोषाभाव, गुण एवं अलंकारों के रहने पर शब्द और अर्थ की समष्टि काव्य है, किन्तु कभी-कभी स्फुट अलंकारों के अभाव में भी शब्दार्थ-समष्टि को काव्य अभिहित किया जा सकता है।[३]

आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण में यद्यपि रस की कोई चर्चा नहीं की गई है, तथापि उनके अनुसार काव्य में उसका सर्वोच्च स्थान है, क्योंकि उन्होंने काव्य-लक्षण में सगुण पद का समावेश करके काव्य में गुण के धर्मी रस की सत्ता को अनिवार्य रूप से स्वीकार कर लिया है।[४] जैसा कि **काव्यप्रकाश** के टीकाकार गोविन्द ठाकुर ने लिखा है कि गुण के रसनिष्ठ होने से यहाँ गुणपद रस का व्यञ्चक है।[५]

मम्मट के उत्तरवर्ती आचार्य शौद्धोदनि ने भामह आदि पूर्ववर्ती आचार्यो का अनुसरण न करके 'रस आदि से युक्त वाक्य को काव्य कहा है।[६] केशवमिश्र के अनुसार यहाँ (काव्यलक्षण में) आदि पद अलंकार का बोधक है।[७] वाग्भट प्रथम ने वामन तथा मम्मट के मतों को संयुक्त करके काव्य के स्वरूप को इस प्रकार

---

१. निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति। **सरस्वतीकण्ठाभरण** १।२, पृ० २।

२. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

काव्यप्रकाश १।४, पृ० १६।

३. ······अनलंकृती पुनः क्वापि।
क्वचित्स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः॥

काव्यप्रकाश, १।४ पृ० १६।

४. ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादयः इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयोः गुणाः॥

काव्यप्रकाश ८।६६, सूत्र ८६, पृ० ३८०।

५. गुणस्थरसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यंजकपरं गुणपदम्। **काव्यप्रकाश**, पृ० १०।

६. काव्यं रसादिमद्वाक्यम्। **अलंकारशेखरकारिका** १।१।१ पृ० २।

७. आदिपदेन अलंकारपरिग्रहः। **वही**, पृ० ३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

निर्दिष्ट किया है—'गुण, अलंकार, रीति और रस से युक्त तथा दोषरहित सुन्दर शब्दार्थों का समूह काव्य है।[1]

चन्द्रालोक के रचयिता पीयूषवर्ष जयदेव ने अपने काव्य-लक्षण में पूर्ववर्ती दण्डी, वामन, मम्मट आदि अनेक आचार्यों के काव्यलक्षण का समन्वय किया है। उनके अनुसार दोषहीन, लक्षणवती, रीति, गुण, अलंकार से सुशोभित रसयुक्त वाणी को काव्य कहते हैं।[2] यद्यपि उन्होंने शब्दतः वाणी (शब्द) को ही काव्य कहा है, किन्तु रस, गुण और अर्थालंकारों की सत्ता शब्द में सम्भव नहीं है, अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि उन्हें शब्दार्थ-युगल काव्य के रूप में अभिप्रेत है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने पूर्ववर्ती भामह आदि आचार्यों का अनुसरण न करके रसात्मक वाक्य को काव्य माना है।[3] इस काव्यलक्षण में रस पद केवल शृंगारादि का वाचक न होकर आस्वाद्य-रस, भाव, रसाभास आदि सभी का बोधक है। रसरहित अलङ्कार आदि से युक्त वाक्य को काव्य मानने के लिए विश्वनाथ प्रस्तुत नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि कभी-कभी गौण रूप से (लक्षणा का आश्रयण करके) रसादिरहित रचना को भी काव्य नाम से व्यवहृत कर लिया जाता है।[4]

पण्डितराज जगन्नाथ ने **रसगंगाधर** में रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य स्वीकार किया है।[5] उनको शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहना स्वीकार नहीं है और न काव्यलक्षण में दोषरहित एवं गुण तथा अलङ्कार आदि का प्रयोग किया जाना ही अभिमत है। वे केवल रस को ही सारी रमणीयता का मूल कारण नहीं मानते, अपितु उनके अनुसार जिस किसी शब्द से कम या अधिक मात्रा में अलौकिक आनन्द उपलब्ध हो, वही काव्य शब्द का अभिधेय हो सकता है।[6]

---

१. साधुशब्दार्थसंदर्भं गुणालंकारभूषितम्। स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥ **वाग्भटालंकार** १।२।

२ निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥ **चन्द्रालोक** १।७।

३. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। **साहित्यदर्पण** १।३, पृ० २३।

४. यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावद्दोषाभावादलंकारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः सरसादि यद्काव्यवन्धसाम्याद् गौण एव।
वही, पृ० १९।

५. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। **रसगंगाधर**, १।१, पृ० ९।

६. इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकताऽवच्छेदकं तत्वम्, स्वविशिष्टजनकताऽवच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्वमेववा काव्यत्वमिति फलितम्॥ वही, प्रथमाननम् पृ० ११।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

पण्डितराज जगन्नाथ के अनन्तर कोई ऐसा विशिष्ट प्रतिभाशाली आचार्य नहीं हुआ, जो किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना में प्रयत्नशील होता।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृतकाव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप सम्बन्ध में निम्नलिखित परम्राएँ प्रचलित रही हैं—

काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रथम परम्परा अग्निपुराणकार की है, जिसमें दोषरहित, गुण और अलंकारयुक्त वाक्य को काव्य कहा गया है। आचार्य शौद्धौदनि ने पुराणकार के काव्यलक्षण में [रस को प्राधान्य देने की दृष्टि से] रस को संयुक्त करते हुए उन्हीं का अनुसरण किया है। केशवमित्र, वाग्भट (प्रथम) और जयदेव आदि भी इसी परम्परा के पोषक माने जा सकते हैं।

इस सम्बन्ध में दूसरी परम्परा आचार्य दण्डी की है, जिसमें इष्टार्थ से युक्त पदावली [वाक्य अथवा पदसमूह] को काव्य की संज्ञा दी गई है। **कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमथे निषिञ्चति**"[1]—दण्डी के इस कथन के अनुसार यदि अलंकारों को रसपरक मान लिया जाए, तो यह कहा जा सकता है कि इष्टार्थ से उनका तात्पर्य रस से है। फलतः उनके मतानुसार रसपरक अलंकारविशिष्ट पदावली काव्य है। पण्डितराज जगन्नाथ इसी परम्परा के पौषक हैं। विश्वनाथ ने इष्ठार्थं अथवा रमणीयार्थं पदों का आश्रय न लेकर सीधे ही रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हुए प्रकारान्तर से उनका अनुगमन किया है।

तीसरी परम्परा शब्दार्थ को काव्य अभिहित करने की दिखाई पड़ती है। इसका उद्भव अलंकारशास्त्र के आदि आचार्य भामह से भी पूर्व भरत के **नाट्यशास्त्र** से हुआ प्रतीत होता है। उनके अनुसार व. शब्दार्थं गूढ़ता आदि दोषों से रहित तथा मृदुता, (प्रसाद) लालित्य (माधूर्य) आदि गुणों से युक्त, अलंकारों से अलंकृत एवं रसयुक्त होना चाहिए[2], नाट्यांग होने की स्थिति में उसे संधिसंधान युक्त तथा नृत्य के अनुकूल भी होना चाहिए। आचार्य भामह, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, भोज, मम्मट आदि आचार्य इस परम्परा के पोषक हैं, किन्तु वामन ने इस लक्षण में गुण आदि के साथ रीति को भी संयुक्त कर दिया है।

एक अन्य परम्परा में कविव्यापार को काव्य माना गया है। इसका दर्शन हमें कुन्तक के वक्रोक्तिजीवितम् में मिलता है, किन्तु इस कविव्यापार को रसादि के अभिव्यञ्जक, अलंकारादि विशिष्ट शब्द और अर्थ की योजना के द्वारा सहृदय-हृदय का आह्लादक होना चाहिये इस प्रसंग में महिमभट्ट भी इस परम्परा का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं।[3]

---

१. काव्यादर्श, १/६२ २. नाटचशास्त्र १६/११८।

३. कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्ति अव्यभिचारिकाव्यमुच्यते। —व्यक्तिविवेक पृ० ९६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उपर्युक्त परम्पराओं में जो एक समानता दिखाई पड़ती है, वह यह है कि काव्य में चाहे शब्द को प्राधान्य दिया जाए अथवा शब्दार्थ को या शब्द और अर्थ की संयोजना करने वाले कविव्यापार की, किन्तु किसी भी स्थिति में शब्द, अर्थ और उनके संयौजक कवि-व्यापार की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं है, क्योंकि उस (कविव्यापार) के बिना शब्द अथवा शब्दार्थयोजना सम्भव नहीं है और शब्द-योजना के साथ अर्थ-योजना अनिवार्य रूप से रहती ही है।

काव्य के स्वरूप के विवेचन के प्रसंग में यह संकेत किया जा चुका है कि काव्य में लक्षण, अलंकार, गुण, वृत्ति, रीति, ध्वनि, रस, उक्तिवैचित्र्य (वक्रोक्ति) और औचित्य—ये विविध उपादान तत्त्व रहा करते हैं। कभी-कभी इस (काव्य-रचना) में दोषों के प्रवेश की भी सम्भावना हो सकती है, किन्तु अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने उनसे बचते रहने का यथास्थान संकेत किया है। काव्य-स्वरूप के विवेचन के अनन्तर उर्युक्त काव्य के उपादान तत्त्वों की सत्ता अथवा उनकी अनिवार्यता के सम्बन्ध में विचार कर लेना अनुचित न होगा।

काव्य के उपर्युक्त विविध उपादानतत्त्वों से लक्षण नामक काव्यतत्त्व की चर्चा अधिक नहीं हुई है। काव्यलक्षण के प्रसंग में 'लक्षण' का समावेश केवल जयदेव ने किया है।[1] किन्तु उन्होंने भी इस 'लक्षण' (काव्यतत्त्व) का कोई परिचय अपने ग्रन्थ चन्द्रालोक में नहीं दिया है। लक्षणों की चर्चा हमें केवल भरत के **नाट्यशास्त्र** में मिलती है, किन्तु उन्होंने भी काव्यों में इनके समावेश की अनिवार्यता के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं किया है, केवल सामान्य शब्दों में काव्यबन्धों में इनके निर्देश की ओर संकेत किया है।[2] उनके अनुसार ये काव्यलक्षण ३६ हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायेगा।[3]

काव्य में अलंकारों की अनिवार्य सत्ता के सम्बन्ध में सर्वप्रथम स्पष्ट निर्देश **अग्निपुराण** में मिलता है,[4] जिसका समर्थन वामन, हेमचन्द्र, जयदेव और विद्यानाथ ने किया है।[5]

---

१. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिणा।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥ —**चन्द्रालोक** १।७।

२. ·········लक्षणान्येवं काव्यबंधेषु निर्देशेत्। —**नाट्यशास्त्र** १७।५।

३. द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र** १७।१–५।

४. ·········काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्।—**अग्निपुराण** ३३७।३।

५. (क) काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।
—**काव्यालंकार** सूत्र० वृ० पृ० ५।

(ख) अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।
—**काव्यानुशासनम्**। पृ० १६।

(ग) जयदेव,—**चन्द्रालोक** १।७

(घ) गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्।
—**प्रतापरुद्रयशोभूषणम्** पृ० ४२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि ने काव्यलक्षण में अलंकार-योजना के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश नहीं किया है, किन्तु उनके द्वारा अपने-अपने ग्रन्थों में किये गये अलंकारों के विशद विवेचन को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे अलंकारों को काव्य का महत्त्वपूर्ण ही नहीं, अपितु अनिवार्य तत्त्व मानते हैं, जिस की चर्चा अग्रिम पृष्ठों में की गई है ।[1] भामह ने इतना संकेत अवश्य किया है कि अलंकारों के बिना सुन्दर काव्यरचना भी सुशोभित नहीं हो पाती ।[2]

उपर्युक्त आचार्यों में जयदेव अलंकारों की सत्ता पर सर्वाधिक बल देते हैं। उनका कहना है कि जैसे उष्णता के बिना अग्नि, अग्नि नहीं कही जा सकती, उसी प्रकार अलंकारों की सत्ता के बिना किसी भी रचना को काव्य नहीं कहा जा सकता ।[3]

आचार्य मम्मट और वाग्भट काव्य में अलंकारों को अनिवार्य नहीं मानते। उनका विचार है कि काव्य में प्रायः अलंकार रहते हैं, किन्तु कहीं-कहीं अलंकारों का स्फुट रूप से प्रयोग न होने पर भी काव्यतत्व में हानि नहीं आती ।[4]

आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्य न केवल काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता का निषेध करते हैं, अपितु ध्वनि (रसादि) की प्रतीति में सहायक होने की स्थिति में ही अलंकारों के प्रयोग की अनुमति देते हैं। उनके अनुसार कवि को आवश्यकतानुसार अलंकारों के ग्रहण अथवा त्याग के लिये निरन्तर आग्रह रहित होना चाहिये ।[5] सम्भवतः ध्वनिवादियों के उपर्युक्त सिद्धान्त से प्रभावित होकर ही परवर्ती विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने काव्यलक्षण में अलंकार की चर्चा नहीं की है ।

---

१. द्रष्टव्य पृ० सं० ४२ (काव्य में अलंकारों का सामान्य स्वरूप)–पृ० ४२ ।

२. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ।
—(भामह) **काव्यालंकार** १।१३ ।

३. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।। —**चन्द्रालोक** १।८ ।

४. (क) …………अनलंकृती पुनः क्वापि ।—**काव्यप्रकाश** १।४ ।
(ख) क्वचित्स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः ।।
—**वही** १।४ वृत्ति पृ० १६ ।
(ग) **प्रायः** सालंकारौ च काव्यम् ।— वाग्भट-**काव्यानुशासनम्**, पृ० १४ ।

५. विवक्षातत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन्,
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ।
निर्व्यूढापि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्,
रूपकादिरलंकारवर्गस्यांगत्व साधनम् ।। —**ध्वन्यालोक** २।१८-१९ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

काव्य के लक्षण के प्रसंग में वृत्तियों की चर्चा किसी आचार्य ने नहीं की है, किन्तु आचार्य उद्भट ने (एक) अन्य प्रसंग में इनके प्रयोगों को प्रशंस्य माना है।[1] वृत्तियों का सर्वप्रथम उल्लेख हमें भरत के **नाट्यशास्त्र** में मिलता है। वहाँ भरत कहते हैं कि मैंने (भरत ने) ब्रह्मा के आदेश से काव्यरचना के लिए वृत्तियों-आरमटी, सात्वती, कैशिकी और भारती को प्रचारित किया है। उन वृत्तियों में से एक वृत्ति मेरे नाम से सम्बन्धित होने के कारण भारती वृत्ति कही जाती है।[2] **अग्निपुराण** में वृत्तियों की चर्चा 'रीति' नाम से की गई है तथा भारती के नामकरण के सम्बन्ध में **अग्निपुराण** में यह कहा गया है कि 'भरत द्वारा प्रणीत होने के कारण इसका नाम भारती रीति पड़ा है।[3] भरत की इन वृत्तियों का उल्लेख नाट्य के प्रसंग में **दशरूपक** और **'साहित्यदर्पण'** में पाया जाता है।[4] यद्यपि भरत ने **नाट्यशास्त्र** में नाट्य के सन्दर्भ में वृत्तियों की महत्ता की चर्चा की है,[5] किन्तु एक अन्य प्रसंग में **सर्वेषामेव-काव्यानां मातृकाः वृत्तयः स्मृताः**[6] कहते हुए काव्य के लिए इन वृत्तियों को सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व के रूप में भी स्वीकार किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य में अनुचित रूप से वृत्तियों के निबन्धन को रसभंग का हेतु कहते हुए इनकी सत्ता को स्वीकार किया है।[7]

काव्यशास्त्र के आचार्यों में केवल उद्भट ने वृत्तियों का विवेचन किया है। इन्होंने भरत द्वारा स्वीकार की गई आरभटी, सात्वती, कैशिकी और भारती इन

---

१. वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः।
—**काव्यालंकारसारसंग्रह** १।६, पृ० ६।

२. मया काव्यक्रियाहेतोः प्रक्षिप्ता द्रुहिणाज्ञया………।
स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम मे भवेत्तु वृत्तिः॥
—**ना० शा०** २०।२४-२६।

३. भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती वृत्तिरुच्यते। —**अग्निपुराण** ३३९।६।

४. **दशरूपकम्** २।५२, २।५३, २।५६, ३।५, —**सा० द०** ६।१२२-१२३।

५. भारतीसात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा।
चतस्रो वृत्त्योह्येताः यासु नाट्य प्रतिष्ठितम्॥
—**नाट्यशास्त्र** ६।२४–२५।

६. —**नाट्यशास्त्र** २०।३।

७. यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालंकारान्तरप्रसिद्धानां उपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यं अविषयेनिबन्धनं तदपि रसंभंगहेतुः।
—**ध्वन्यालोक यतीतृ उद्योत** पृ० १९१–२० २

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

चार वृत्तियों[१] के स्थान पर परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या[२] नाम से केवल तीन वृत्तियों को स्वीकार किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने वृत्तियों का नाम लिये बिना ही विविध वर्णों के विशिष्ट संयोग से बने हुए शब्दों के प्रयोग को पृथक्-पृथक् रसों की दृष्टि से हेय तथा उपादेय माना है, जिसे देखकर यह कहा जा सकता है कि वृत्ति नाम की चर्चा न करते हुए भी उन्होंने उद्भट द्वारा वर्णित वृत्तियों का प्रकारान्तर से समर्थन किया है।[३]

काव्यशास्त्र में रीतिशब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वामनके **काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** ग्रन्थ में मिलता है। उस ग्रन्थ में उन्होंने रीति को न केवल काव्य के शोभा-धायक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है, अपितु काव्य की आत्मा के रूप में सम्मानित किया है।[४] रीतियों का परिचय देते हुए उन्होंने समग्र गुणों से युक्त रीति को वैदर्भी,[५] ओज और कान्ति गुणों से युक्त रीति को गौडीया[६] और माधुर्य तथा सुकुमार गुणों से युक्त रीति को पाञ्चाली[७] संज्ञा प्रदान की है। वामन से पूर्व गुणों के आधार पर भामह और दण्डी ने भी वैदर्भ और गौड मार्ग के नाम से रीतियों की चर्चा की है।[८]

---

१. भारतीं सात्वतीं चैव वृत्तिमारभटी तथा समाश्रितः प्रयोगस्तु प्रयुक्तो वै मया द्विजाः। —**नाट्यशास्त्र** १।४१।
अथाह मां सुरगुरूः कैशिकीमपि योजय ॥ —**वही** १।४२।

२. —**काव्यालंकारसारसंग्रह** १।४, १।५, १।६, पृ० ५–६।

३. तत्रटवर्गवर्जितानां वर्गाणां प्रथमतृतीयैः ङमिः अन्तस्थैश्वघटिता नैकट्येन प्रयुक्तैः अनुस्वारपरसवर्णैः शुद्धानुनासिकैः च शोभिता, वक्ष्यमाणैः सामान्यतो विशेषतः च निषिद्धैः संयोगाद्यैरचुम्बिता, अवृत्तिः (असमासा) अल्पवृत्तिः (अल्पसमासा) वा रचना आनुपूर्व्यात्मिका माधुर्यस्थव्यञ्जिका नैकट्येन द्वितीय-चतुर्थवर्गवर्णटवर्गजिह्वामूलीयउपध्मानीयविसर्गसकार-बहुलैःवर्णैः झयरेफान्ततर घटितसंयोगपरह्रस्वैश्च नैकट्येन प्रयुक्तैरा-लिंगितौ दीर्घवृत्यात्या गुंफ ओजः। —**रसगंगाधर** पृ० २३६।

४. रीतिरात्मा काव्यस्य—**काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः** २।१।६।

५. समग्रगुणोपेता वैदर्भी। —**वही** २।१।११।

६. ओजः कांतिमती गौडीया। —**वही** २।१।१२।

७. माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। —**वही** २।१।१३।

८. (क) गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्
—(भामह) **काव्यालंकार** १।३२।

(ख) अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ —**काव्यादर्श** १।४०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

दण्डी के अनुसार श्लेष, प्रसाद आदि प्राणभूत दशगुणों से युक्त मार्ग को वैदर्भ कहा जाता है तथा गौड मार्ग इसके विपरीत है।[1] रीति और मार्ग दोनों ही प्रसंगों में वैदर्भ और गौड—इन समान नामों को तथा वैदर्भ की परिभाषा में लक्षण की समानता को देखकर यह कहा जा सकता है कि भामह और दण्डी के मार्ग तथा वामन की रीतियाँ नाम-भेद होते हुए भी अभिन्न हैं। मार्ग और रीतियों के वर्णन के प्रसंग में भामह, दण्डी तथा वामन ने गुणों को ही आधार माना है। इसलिये यदि गुण और रीति में नित्य सम्बन्ध माना जाए, तो यह कहा जा सकता है कि भरत भी रीतियों को स्वीकार करते हैं, क्योंकि उन्होंने नाट्यशास्त्र में श्लेष, प्रसाद आदि गुणों का परिगणन किया है।[2]

आचार्य रुद्रट ने अपने **काव्यालंकार** में पाञ्चाली, लाटीया, गौडीया तथा वैदर्भी इन चार रीतियों के नामों का उल्लेख किया है। अभिधान साम्य होते हुए भी इन रीतियों को वामन की रीतियों से अभिन्न मानना उचित न होगा, क्योंकि वामन की रीतियों का आधार गुणयोजना है, जबकि रुद्रट की रीतियों का आधार केवल समासयोजना है।[3]

आचार्य शौद्धोदनि ने पथ-रचना में गौडी, वैदर्भी और मागधी नामक तीन रीतियों का रस-उपकारक के रूप में संकेत किया है।[4] उनके टीकाकार आचार्य

---

१. (क) श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कांतिसमधयः॥ —**वही** १।४१।

(ख) इति वैदर्भमार्गस्य प्राणादशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥ —**वही** १।४२।

२. श्लेषः प्रसादः समता समाधि माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणाः दशैते॥
—**नाट्यशास्त्र** १७।९६।

३. (क) पाञ्चाली लाटीया गौडीयी चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट) २।४।

(ख) द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तौ भवति यथाशक्ति गौडीया॥
—**वही** २।५।

(ग) आख्यायान्युपसर्गैः संसृज्यन्ते कदाचिदर्थाय।
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव॥ —**वही** २।६।

४. तत्तद्रसोपकारिण्य स्तत्तद्देशसमुद्भवाः। पथेषु रीतयो गौडी वैदर्भी मागधी तथा। —**अलंकारशेखर** १।२।२, पृ०७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

केशवमित्र ने श्रीपाद नामक आचार्य के वचनों का उद्धरण देते हुए उपर्युक्त तीन रीतियों (गौडी, वैदर्भी और मागधी) की ओर संकेत किया है।[१]

राजशेखर ने **काव्यमीमांसा** में एक पद्य को उद्धृत किया है, जिसमें वामन द्वारा स्वीकृत तीनों रीतियों वैदर्भी, गौडीया पाञ्चाली के वे ही नाम लिए गये हैं।[२] उन्होंने **कर्पूरमंजरी** सट्टक में भी तीन रीतियों की चर्चा की है, किन्तु वहाँ वैदर्भी आदि नामों के स्थान पर वच्छोमी, माअही (मागधी) तथा पाञ्चालीआ (पाञ्चाली) नाम प्रयुक्त हुए हैं।[३] यह हो सकता है कि प्राकृत भाषा में ये नाम वैदर्भी आदि के लिए प्रचलित रहे हों।

भोजराज ने **सरस्वतीकण्ठाभरण** में वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडीया, अवन्तिका, लाटीया, मागधी इन छः रीतियों का उल्लेख किया है।[४]

चन्द्रालोककार जयदेव ने काव्यलक्षण में 'सरीति' शब्द का समावेश करते हुए काव्य में रीतियों के प्रयोग को आवश्यक रूप से स्वीकार किया है।[५]

कविराज विश्वनाथ ने तीन रीतियों के स्थान पर वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटिका नाम से चार रीतियों का उल्लेख किया है।[६]

पण्डितराज जगन्नाथ ने वैदर्भी आदि रीतियों का विवेचन न करते हुए भी

---

१. गौडी समासभूयस्त्वाद्वैदर्भी च तदल्पतुः। अनयौ संकरो यस्तु मागधी साऽतिविस्तरा।
गौडीयैः प्रथमा मध्या वेदभैमथिलैस्तथा।
अन्यैस्तु चरमा रीतिः स्वाभावादेव सेव्यते ॥ वही १।२।२, पृ० ७।

२. वैदर्भीगौडीया पाञ्चाली चेति रीतयस्तिस्त्रः।
आशु च साक्षान्निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यन्ते॥
रीतिरूपं वाक्यत्रितयं काकुः पुनरेनेकयति ॥—
—**काव्यमीमांसा** अध्याय ८—पृ०३१।

३. वच्छोमि तह माअही फुरउणो सा किं च पंचालिआ।
रोदीआ विलिहंतु कव्वकुसला जोण्हां चओरा विअ॥
—**कप्पूरीमञ्जरी** १।१।
(वैदर्भी तथा मागधी स्फुरतु नः सा किञ्च पञ्चालिका।
रीतिका विलिहन्तु काव्यकुसला ज्योत्स्नां चकोरा इव ॥)

४. वैदर्भी चाथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीयामागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते ॥—**सरस्वतीकण्ठाभरण** २।२८।

५.........सरीतिगुर्णभूषणा।...........वाक्काव्यनामभाक्॥ **चन्द्रालोक** १।७, पृ० ६।

६. वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटीका तथा।
—**साहित्यदर्पण पूर्वार्द्ध** ९।२, पृ० ६५८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

एक स्थल पर प्रासंगिक रूप से केवल वैदर्भी रीति के स्वरूप का संकेत किया है[१] एवं कवि को इस रीति के निर्माण के लिए सावधान रहने का परामर्श दिया है।[२]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र में वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली, लाटी, अवन्तिका और मागधी नामक छः वृत्तियों का यथास्थान उल्लेख हुआ है, किन्तु इनमें से केवल तीन वैदर्भी, गौडीया, और पाञ्चाली को विशेष समादर प्राप्त हुआ है, किन्तु इनमें से भी वैदर्भी रीति को ही सर्वाधिक उपादेय और प्रशंस्य माना गया है।

काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनितत्त्व की स्थापना आचार्य आनन्दवर्धन ने की है। उनके मतानुसार अभिधा और लक्षणा वृत्ति से भिन्न व्यंजना वृत्ति के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह व्यंग्य अर्थ प्रतीयमान अथवा ध्वनि नाम से अभिहित किया जाता है। उनका कथन है कि उस ध्वनि रूप अर्थ के समावेश से काव्य की शोभा उसी प्रकार बढ़ जाती है, जैसे लावण्य से कामिनी की[३] इस व्यंग्य अर्थ से युक्त काव्य को भी आनन्दवर्धनाचार्य ध्वनि नाम से सम्बोधित करते हैं।[४] किन्तु काव्य-रूप होने से वह ध्वनि-काव्य का एक तत्त्व नहीं माना जा सकता। आनन्दवर्धन के मतानुसार यह ध्वनि (व्यंग्यार्थ) काव्य की आत्मा स्वीकार की जाती है।[५] काव्य में अलंकारादि अन्य उपादेय तत्त्वों का समावेश इस (व्यंग्यार्थ) की अनुकूलता की स्थिति में ही किया जाता है।[६] ध्वनिरूप अर्थ तीन प्रकार का माना

---

१. एभिर्विशेषविषयैः सामान्यैरपि च दूषणैर्रहिता।
माधुर्यभारभङ्गरसुन्दरपदवर्णविन्यासा ॥
व्युत्पत्तिमुद्गिरयन्ती निर्मातुर्याप्रसादयुता।
तां विवुधा वैदर्भी वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरीपाकाम् ॥
—**रसगंगाधर प्रथमाननम्**, पृ० २६।

२. अस्याश्च रीतेर्निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यम्। अन्यथा तु परिपाकभङ्गः स्यात्। —**वही**, पृ० २६२।

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
—**ध्वन्यालोक** १।४, पृ० १३।

४. यत्रार्थः शब्दौ वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥
—**वही**, १।१३, पृ० ३७

५. काव्यस्यात्मा सैवार्थः..............। —**वही**, १।५, पृ० २६।

६. विवक्षातत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैपिता।
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥ —**वही**, २।१८-१९॥

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

जाता है— वस्तु रूप, अलंकार रूप और रस रूप। रसवादी आचार्य विश्वनाथ आदि ने तृतीय भेद रसध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है।[1] आचार्य महिमभट्ट ने काव्यलक्षण के प्रसंग में आनन्दवर्धन की ध्वनि को ही काव्यानुमिति नाम से अभिहित किया है।[2]

रस-तत्त्व की चर्चा अलंकारशास्त्र के आदिकाल से भी पूर्व आचार्य भरत के काव्य **नाट्यशास्त्र** में मिलती है।[3] अग्निपुराणकार का कथन है कि काव्य में भले ही उक्ति-वैचित्र्य (वाग्वैदग्ध्य) की प्रधानता रहती है, किन्तु उसका जीवन तो रस ही है।[4] भामह आदि आचार्यों ने यद्यपि काव्य के तत्त्व के रूप में रस का विवेचन नहीं किया, तथापि वे रसतत्त्व से अपरिचित नहीं थे। भामह के **काव्यालंकार** में रसवत् अलंकार के प्रसंग में शृंगारादि रस शब्द[5] का, दण्डी के **काव्यादर्श** में अग्राम्यता के प्रसंग में अलंकारों द्वारा अर्थ में रससिञ्चन का[6] तथा प्रेय आदि अलंकारों के सन्दर्भ में शृंगार, वीर आदि रसों का[7] एवं वामन के **काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** में कांतिगुण की परिभाषा के समय 'रस की दीप्ति'[8] का प्रयोग देखा जा सकता है। अलंकारवादी आचार्यों में आचार्य रुद्रट ने काव्य में रसयोजना के प्रति निरन्तर यत्नशील होने का

---

१. (क) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। —**साहित्यदर्पण** १।३।
(ख) काव्यात्मभूतस्य रसस्य.........। —**वही** पृ० १५।

२. कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मारसाभिव्यक्तिः अव्यभिचारी काव्यमुच्यते।—**व्यक्तिविवेक**, पृ० ९६।

३ (क) विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।—**नाट्यशास्त्र** ६।१३ पृ० २७४।
(ख) न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते॥ —**वही** ६।३२।

४. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।—**अग्निपुराण** ३३७।३३।

५. रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा।
देवी समागमद्धमस्करिण्यतिरोहिता॥ (भामह) —**काव्यालंकार** ३।६।

६. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमेर्थ निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवेनं भारं वहति भूयसा॥ —**काव्यादर्श** १।६२।

७. (क) प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः॥ —**वही** २।२८१।
(ख) इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना।
रसवत्त्वं गिरामासां समर्थयितुमीश्वरः॥ —**वही** २।२८५।
(ग) इति कारुण्यमुद्रिक्तमलंकारतया स्मृतम्।
तथापरेऽपि बीभत्सहास्याद्भुतभयानकाः॥ —**वही** २।२८७।

८. दीप्तरसत्त्वं कान्तिः। (वामन) —**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** ३।२।२४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

स्पष्ट संकेत किया है।[१] आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि की स्थापना के अनन्तर रसध्वनि की प्रतिष्ठा मम्मट,[२] विश्वनाथ[३] और जगन्नाथ[४] आदि में उत्तरोत्तर बढ़ती दिखाई पड़ती है।

काव्यलक्षण में रस का सर्वप्रथम समावेश आचार्य शौद्धोदनि ने किया है।[५] आगे चलकर विश्वनाथ ने एकमात्र रस को ही काव्य के लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।[६] इस प्रकार हम देखते हैं कि रस काव्यतत्त्व के रूप में आदिकाल से पूर्व स्वीकार कर लिया गया था। काव्यशास्त्र में क्रमशः उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई और अन्त में विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि द्वारा वह एकमात्र काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया।

संस्कृत वाङ्मय में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। महाकवि बाण ने **'कादम्बरी'** में **'वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन'**[७], **'एषापि बुध्यत स्वैतावतीर्वक्रोक्तिः'**[८] इत्यादि स्थलों में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग किया है। अमरुक ने **'नो जानाति सविभ्रमांगवलना वक्रोक्तिः संसूचनम्'**[९] इत्यादि स्थलों पर 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग किया है। उपर्युक्त स्थलों पर 'वक्रोक्ति' शब्द क्रीड़ाकलाप अथवा परिहासजल्पित अर्थ में किया गया है, क्योंकि लोकव्यवहार के ऐसे कथनों में वक्रतापूर्ण उक्ति की आवश्यकता होती है।

---

१. तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
(रुद्रट)—**काव्यालंकार** १२।२।

२. (क) रसश्च मुख्यः तदाश्रयात् वाच्यः।—**काव्यप्रकाश** ७।४९, पृ० २७९।
(ख) मुख्यं रसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति।
—**वही**, वृत्ति ८।६७, पृ० ३८१। पृ० ४०९।

३. ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्, न अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः······रसवत् एव काव्यत्वाङ्गीकारात्। ·········यत्तुनीरसेष्वपिगुणाभिव्यंजकवर्णसद्भावाक्षेपाभावादलंकारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः सरसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद् गौण एव।
—**साहित्यदर्पण**, पृ० १८-१९।

४. एवं पंचात्मके ध्वनौ परमरमणीय तया रसध्वनेस्तदात्मा रसः।
—**रसगंगा० प्रथम** अ०, पृ० ७९।

५. काव्यं रसादिमद् वाक्यम्। —**अलंकारशेखर का०** १।१।१, पृ० २।

६. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। **सा० द०** १।३, पृ० २३।

७. **कादम्बरी**, पृ० १५८।

८. **कादम्बरी**, पृ० ५६४।

९. **अमरुकशतकम्** २३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकारशास्त्र में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग भामह के '**काव्यालंकार**' से लेकर उत्तरकालीन मम्मटादि प्रायः सभी आचार्यों में प्राप्त होता है। इतना अवश्य है कि वामन के समय से यह एक अलंकार-विशेष के रूप में भी प्रयुक्त होने लगा है। वामन ने सादृश्यमूला लक्षणा को वक्रोक्ति नाम दिया है।[1] रुद्रट ने भी काकु और श्लेष पर आश्रित अलंकारविशेष को 'वक्रोक्ति' नाम दिया है[2]। मम्मट आदि आचार्यों ने एक अलंकार-विशेष को 'वक्रोक्ति' नाम दिया है।[3]

भामह वक्रतापूर्ण आह्लादक उक्तियों को वक्रोक्ति मानते हुए प्रतीत होते हैं, इसीलिए उन्होंने सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति की स्थिति को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है।[4]

काव्यादर्शकार दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में विभक्त करते हुए एक भाग को 'स्वभावोक्ति' और दूसरे भाग को 'वक्रोक्ति' नाम दिया है। इस प्रसंग में दण्डी का 'वक्रोक्ति' शब्द से अभिप्राय अलंकारपूर्ण वक्रकथन से है, क्योंकि उन्होंने

---

१. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। —**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** ४।३।८, पृ० १२९।

२. (क) वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
वचनं यत्पदभंगैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट) २।१४।

(ख) विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः॥ —**वही** २।१६।

३. (क) **काव्यप्रकाश** ९।७८, पृ० ४३३।
(ख) **अलंकारसर्वस्व सूत्र**—७८, पृ० ३२२।
(ग) **काव्यानुशासन** (हेमचन्द्र)—पृ० २३४।
(घ) **अलंकाररत्नाकर सूत्र**—१०५, पृ० १८१।
(ङ) **एकावली**, ८।७१, पृ० ३२६।
(च) **प्रतापरुद्रयशोभूषण**—पृ० ४१०।
(छ) **काव्यानुशासन** (वाग्भट द्वि०) पृ० ४९।
(ज) **कुवलयानन्द श्लोक** १५९, पृ० २५९।

४. (क) न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः॥
—**काव्यालंकार (भामह)** १।३६।

(ख) सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ —**वही** २।८५।

(ग) तदेभिरङ्गैर्भूष्यन्ते भूषणोपवनस्रजः।
वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते॥ —**वही** ५।६६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उस प्रसंग में स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति को परस्पर विरोधी तत्वों के रूप में चित्रित किया है।[१] उनके अनुसार पदार्थों का सजीव, किन्तु स्वाभाविक वर्णन स्वभावोक्ति है।[२] चारूत्वपूर्ण वक्रकथन अथवा उक्तिवैचित्र्य आचार्य कुन्तक के द्वारा काव्य के जीवन के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। आचार्य कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है 'वक्रतापूर्ण कथन', इसे ही विचित्र अभिधा कहा जाता है।[३] वक्र अथवा विचित्र शब्द से तात्पर्य यह है कि अनेक पर्यायों के रहते हुए केवल एक शब्द ही विवक्षित अर्थ का वाचक होता है। कुन्तक ने यहाँ वाचक' शब्द का प्रयोग रूढ़ अर्थ में न करके उसमें द्योतक तथा व्यञ्जक का भी अन्तर्भाव कर लिया है। ऐसे प्रयोगों द्वारा पदार्थों के अनेक धर्मों में से केवल उसी धर्म को ग्रहण किया जाता है, जिस में अपूर्वता तथा रसपोषण की शक्ति होती है। कुन्तक की शब्दावली में वक्रता, अलंकार अथवा कविकौशल का ही पर्याय है।[४] कुन्तक ने वक्रोक्ति शब्द को अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है और रस, गुण, अलंकारादि सबको उसमें समाहित करने का प्रयत्न किया है।[५] इसके विपरीत वामन, रुद्रटादि परवर्ती आचार्यों ने इसी वक्रोक्ति शब्द का अत्यन्त सीमित अर्थ में प्रयोग किया है और उसे उपमादि अलंकारों के बीच एक सामान्य अलंकार के रूप में स्थापित कर दिया है। यदि दोनों परम्पराओं में अर्थ की अत्यधिक दूरी को समाप्त करके मध्यवर्ती अर्थ लिया जाए तो उस रूप में वक्रोक्ति, रस, ध्वनि, रीति, वृत्ति, गुण और अलंकार से भिन्न एक

---

१. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥ —**काव्यादर्श** २।३६३ ।

२. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती .
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥—**वही** २।८ ।

३. वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते ॥—**वक्रोक्तिजीवित** १।१०, पृ० ५१ ।

४. वक्रोक्तिः प्रसिद्धस्थानव्यतिरेकिणि विचित्रैवाभिधा। कीदृशी, भंगीभणिति । ···विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। तदिदमत्र—**व० जी०** १।१० पृ० ५१। तात्पर्य यत् शब्दार्थो पृथक् अवस्थितौ केनापि व्यतिरिक्तेन अलंकरणेन योज्यते। —**वही**, १।७, पृ० २५ ।

५. कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट् ।
प्रत्येकं बहवो भेदाः तेषां विच्छित्तिशोभिनाः ॥—**वही**, १।१. , पृ० ६४ ।
वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्धवक्रता ।
वक्रता मा परोप्यस्ति प्रकाराः प्रत्याश्रयाः ।।—**वही**, १।१६, पृ० ६५ ।
वाक्यस्य वक्रभावोन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति ॥—**वही**, १।२०, पृ० ८७ ।
वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धेऽप्यस्ति यादृशः ।
उच्यते सहजाहार्य सौकुमार्य मनोहरः ॥—**वही**, १।२१, पृ० ९०

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विशिष्ट काव्यतत्त्व के रूप में स्वीकार की जा सकती है तथा काव्य में अन्य तत्त्वों के समान ही अनिवार्य रूप से अपेक्षित मानी जा सकती है। भामह और दण्डी द्वारा प्रयुक्त वक्रोक्ति शब्द सम्भवतः इसी अर्थ को प्रकट करता है।[१]

काव्यलक्षण में गुण का प्रयोग वामन[२], भोज[३], मम्मट[४], हेमचन्द्र[५], वाग्भट[६], विद्यानाथ[७] आदि अनेक आचार्यों ने किया है। काव्यलक्षण में गुणपद का प्रयोग न करने पर भी काव्य के उपादान-तत्त्व के रूप में भरत[८], भामह[९], दण्डी[१०], रुद्रट[११],

---

१. **काव्यादर्श** २।३६३, (भामह) —**काव्यालंकार** १।३६, २।८५, ५।६६।

२. काव्यशब्दोऽय गुणलंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।
—**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** पृ० १।

३. निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं······।
—**सरस्वतीकण्ठाभरण** १।२, पृ० २।

४. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
—**काव्यप्रकाश** १।४, पृ० १९।

५. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।
हेमचन्द्र, —**काव्यानुशासनम्** पृ० १६।

६. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ च काव्यम्।
वाग्भट—**काव्यानुशासनम्** पृ० १४।

७. गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्।
—**प्रतापरुद्रयशोभूषण** पृ० ४२।

८. श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमौजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणाः दशैते॥
—**ना० शा०** १७।९६।

९. माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः।
····································।
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
—**काव्यालंकार** (भामह) २।१, २।२।

१०. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वयोजः कान्तिसमाधयः॥
इतिवैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।—**काव्यादर्श** १।४१, ४२ (पूर्वार्द्ध)।

११. अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम्।
क्षोदक्षमयक्षूणं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत। —**काव्यालंकार** (रुद्रट) २।८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

शौद्धोदनि[1], विश्वनाथ[2], जगन्नाथ[3] आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थ में विशिष्ट विवेचन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत से लेकर जगन्नाथ तक प्रायः सभी ने किसी न किसी रूप में गुणों को स्वीकार किया है। वामन ने तो रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए तथा 'गुणों की योजना ही रीति है'—यह कहते हुए प्रकारान्तर से गुणों के समूह को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है।[4]

गुणों की संख्या के सम्बन्ध में भरत, वामन आदि आचार्यों तथा भामह, मम्मट आदि आचार्यों में मतभेद दिखाई पड़ता है। भरत के अनुसार श्लेष, प्रसाद, समता. समाधि, माधुर्य, ओज, पदसोकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति ये १० गुण हैं।[5] दण्डी ने भी गुणों को स्वीकार करते हुए उनकी संख्या १० ही मानी है।[6] वामन ने गुणों की संख्या में परिवर्तन न चाहते हुए भी गुणों के कुछ विशिष्ट भेद कर दिए हैं। उनके अनुसार गुण शब्द और अर्थ भेद से प्रथमतः दो प्रकार के हैं। पुनः शब्द-गुण और अर्थ-गुण दोनों के दस-दस भेद हो जाते हैं।[7] आचार्य शौद्धोदनि और उनके टीकाकार केशवमित्र ने शब्द और अर्थभेद से गुण के दो भेद करके

---

१. अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्ततो मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥
—**अलंकारशेखर** ३।१।१, पृ० २१।
संक्षिप्तत्वमुदातत्वं प्रसादोक्तिसमाधयः।
अत्रैवान्यसमावेशातपन्नवशब्दगुणाः स्मृताः॥ —**वही** ३।१।२, पृ० २१।
भाविकत्वं सशब्दत्वंपर्यायोक्ति सुधर्मिता।
चत्वारोऽर्थगुणाः प्रोक्ताः परेत्चत्रैव संगता॥ —**वही** १।२।१, पृ० २२।

२. वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः॥
—**साहित्यदर्पण** १।३, पृ० २५, २८, २९।

३. श्लेषः प्रसादः समतामाधुर्यम्।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
इति दशशब्दगुणान् दशैव चार्थगुणानामनन्ति।
नामानि पुनस्तानि एव लक्षणं तु भिन्नम्॥ —**रसगंगाधर**, पृ० २०९।

४. **काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** १।२, ७–८, ११–१३, पृ० १४–१५, १६–१९।

५. **नाट्यशास्त्र** १७।९६। ६. **काव्यादर्श** १।४१–४२।

७. (क) शब्दगुणनिरूपणार्थमाह—ओज प्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्य-सौकुमार्योरुदारतार्थव्यक्तिकान्तयोबन्धगुणाः।
—**का० सू० वृ०** ३।१।४, पृ० २६।
(ख) त एवार्थगुणाः। त एव ओजः प्रभृतयोऽर्थगुणाः।
—**वही** ३।२।१, पृ० ३१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, उक्ति और समाधि पाँच शब्द गुण तथा भाविकत्व, सुशब्दत्व, पर्यायोक्ति और सुधर्मिता चार अर्थगुण स्वीकार किये हैं ।[१]

भामह ने गुणों की चर्चा करते हुए माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों की ओर ही संकेत किया है ।[२] आचार्य मम्मट तथा हेमचन्द्र,[३] दोनों आचार्यों ने भामह का ही अनुगमन किया है । मम्मटाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में गुणों की १० संख्या का निषेध किया है ।[४] आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिविवेचन के प्रसंग में शृंगार और करुण में माधुर्य के, वीर और रौद्र में ओज के प्रयोग की व्यवस्था देकर 'प्रसाद' को सभी रसों के लिये उपयोगी बताया है ।[५] जिसे देखकर यह कहा जा सकता है कि वे केवल तीन गुणों के ही पक्षपाती हैं ।

(उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्यलक्षण में गुणतत्त्व के समावेश के प्रसंग में तथा उनकी संख्या के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी सभी आचार्य गुणों की स्वीकृति के सम्बन्ध में एकमत हैं ।)

काव्य-लक्षण के प्रसंग में दोषाभाव के महत्व को आचार्य रुद्रट,[६] भोज,[७] मम्मट,[८] हेमचन्द्र,[९] जयदेव,[१०] विद्यानाथ,[११] नरेन्द्रप्रभसूरि[१२] आदि आचार्यों ने

१. **अलंकारशेखर कारिका** ३।१।१, ३।१।२, ३।२।१, पृ० २१–२२ ।

२. (भामह) —**काव्यालंकार** २।१–२ ।

३. माधुर्यौजः प्रसादस्त्रयो गुणाः ।
(हेमचन्द्र) —**काव्यानुशासनम्** ४।१, पृ० १९४ ।

४. माधुर्यौजः प्रसादख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश । **काव्यप्रकाश** ८।६८, पृ० ३८८ ।

५. दे०:—**ध्वन्यालोक** २।७–१०, पृ० ९५, ९७, ९८, ९९ ।

६. यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेतितन्मध्यम् (काव्यम्)
रुद्रट-काव्यालंकार ६।४०, पृ० १७५ ।

७. निर्दोषं गुणवत्काव्यं अलंकारैरलंकृतम् । रसान्वितं कविः कुर्वन्……।
—**स० कंठा०** १।२, पृ० २१ ।

८. तद्दोषौ शब्दार्थौं सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि । का० प्र० १।४, पृ० १९ ।

९. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।
(हेमचन्द्र) —**काव्यानुशासनम्**, पृ० १६ ।

१०. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा ।
सालंकार रसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ।। —**चन्द्रालोक** १।७, पृ० ९ ।

११. गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ।।
—**प्रतापरुद्रयशोभूषण** (काव्य स्व० प्र०) सूत्र १, पृ० ४२ ।

१२. काव्यं शब्दार्थवैचित्र्ययोगः सहृदयप्रियः ।
यस्मिन्नदोषत्वगुणालंकृति ध्वनयः स्थिताः ।।
अलं० महोदधि १।१२, पृ० १० ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

स्वीकार किया है। काव्यलक्षण में दोषाभाव पद का प्रयोग न करने पर भी भरत,[1] भामह,[2] दण्डी,[3] वामन,[4] आनन्दवर्धन,[5] राजशेखर,[6] अभिनवगुप्त,[7] महिमभट्ट,[8] शौद्धोदनि,[9] विश्वनाथ[10] और जगन्नाथ[11] आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दोषों का यथावसर विवेचन करके उनसे बचने का स्पष्ट निर्देश किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत से लेकर जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में दोषाभाव के महत्त्व को स्वीकार किया है।

---

१. ......दशकाव्य दोषाः। —**नाटयशास्त्र** १७।८८।

२. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥
—**काव्यालंकार** (भामह) १।११, पृ० ६।

३. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्चित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥ —**काव्यादर्श** १।७, पृ० ७।

४. गुणविपर्ययातमनो दोषाः। —**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** २।१।१, पृ० १२।

५. विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणाम्विस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्।
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनः पुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्यनौचित्यमेव च ॥
ध्वन्यालोक ३।१८–१९, पृ० २८९।

६. अनुसंधानशून्यस्यभूषणं दूपणायते। —काव्यमीमांसा-अध्याय १८, पृ० ११२

७. विघ्नाश्चास्यां सप्त—१. प्रतीतावयोग्यतासंभावनाविरहोनाम् २. स्वगतपरगतत्वनियमेनदेशकालविशेषावेशो ३. निजसुखादिविवशीभावः ४. प्रतीत्युपायवैकल्यम् ५. स्फुटत्वाभावो ६. अप्रधानता ७. संशययोगश्च !! —**ना० शा०, अभिनवभारती टीका**, पृ० ४७४।

८. पारम्पर्येण साक्षात् च यदेतत् प्रतिपद्यते,
क्वेजागरुकस्य, रसभंगनिमित्ताम्।
यत्तुएतत् शब्दविषयं बहुधा परिद्दश्यते,
तस्य प्रक्रमभेदाद्याः दोषाः पञ्चैव योनयः। —**व्यक्तिविवेक**, पृ० १३५।

९. त्रिविधस्यापि दोषास्तु त्याज्या...... । –**अलंकारशेखर** १।२।१, पृ० ६।

१०. (क) वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः।
—**सा० द०** १।३, पृ० २३, २८।
(ख) रसापकर्षकाः दोषाः...... । —**वही** ७।१, पृ० ५५९।

११. अर्थविशेषतो वर्जनीयाः......इत्यमेतेप्रसंगतो मधुररसाभिव्यञ्जिकायां रचनायां संक्षेपेण निरूपिताः दोषाः।
—**रसगंगाधर (प्रथमाननम्)**, पृ० २५०–२६३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

दोषों की संख्या के सम्बन्ध में भरत, भामह, दण्डी और वामन आदि आचार्यों तथा आनन्दवर्धन एवं महिमभट्ट आदि आचार्यों में पर्याप्त मतभेद दिखाई पड़ता है। भरत के मत में काव्य में—गूढ़ार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि और शब्दच्युत—ये दस दोष सम्भव है।[1]

आचार्य भामह ने दोषों का विवेचन चार रूपों में किया है—(१) वक्रोक्ति दोष, (२) वाग्दोष, (३) उपमादोष, (४) दोषसामान्य (काव्यदोष)। उनके अनुसार छः वक्रोक्ति दोष, चार वाग्दोष, सात उपमादोष एवं १८ दोष सामान्य (काव्यदोष) है।[2]

आचार्य दण्डी ने—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ (पुनरुक्त), ससंशय, अपक्रम, शब्द-हीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि और देशकालकलालोक-न्याय-आगम-विरोधी—रूप से १० प्रकार के दोष स्वीकार किये हैं।[3]

आचार्य वामन ने पद, पदार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ भेद से चार प्रकार के दोष स्वीकार किये हैं। पुनः उनके मत में पद-दोष के पाँच, पदार्थ-दोष के पाँच, वाक्य-दोष के तीन और वाक्यार्थ दोष के सात भेद हो जाते हैं।[4]

आचार्य रुद्रट ने पद, वाक्य, अर्थ और उपमा भेद से दोष चार प्रकार के माने हैं। उनके अनुसार पद-दोष के सात भेद, वाक्यदोष के तीन भेद, अर्थदोष के नौ भेद तथा उपमादोष के चार भेद हैं।[5]

सरस्वती कण्ठाभरण के रचयिता भोजराज ने पद, वाक्य और वाक्यार्थ भेद से १६–१६ प्रकार के दोष स्वीकार किये हैं।[6]

---

१. **नाट्यशास्त्र**—१७।८८।
२. **भामह काव्यालंकार**—१।३७, १।४७, २।३९, ४।१–२। पृ० क्रमशः १९, २४, ४६, ८७
३. **काव्यादर्श** ३।१२५–१२६, पृ० २७३–२७४।
४. **काव्यालंकारसूत्रवृत्ति**—२।१।४। पृ० १३, २।१।१० (पृ० १४) २।२।१। (पृ० १८) २।२।९। पृ० २०।
५. (रुद्रट) **काव्यालंकार**—६।२ (पृ० १५०), ६।४० (पृ० १७५), ११।२, (पृ० ३४९) ११।२४ (पृ० ३६१)।
६. (क) दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश।
—**सरस्वती कण्ठाभरण** १।३ पृ० ३।

(ख) दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश।
हेयाः काव्ये कवीन्द्रैर्ये तानेवादौ प्रचक्ष्महे॥
—**सरस्वती कण्ठाभरण** १।३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य आनन्दवर्धन का अभीष्ट विविध काव्यांगों का वर्णन करना नहीं रहा है। अतः उनके द्वारा दोषों का विवेचन दोष शब्द के उल्लेख के साथ तो नहीं हुआ है, किन्तु रस विरोधी तत्त्वों के रूप में जिन (तत्त्वों) का विवेचन किया गया है, वे सर्वथा मौलिक हैं और परवर्ती मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के द्वारा रस-दोषों के रूप वे एकान्ततः स्वीकार किये गये हैं। उनके अनुसार रसविरोधी योजनाएँ निम्नलिखित प्रकार की हो सकती हैं—

१. विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना।

२. रस से सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना।

३. असमय ही रसविच्छेद और

४. असमय प्रकाशन

५. यथावत् उन्मीलित रसादि (अर्थात् रस के पूर्ण परिपोषक हो जाने पर भी उस) का पुनः, पुनः उन्मीलन करना। तथा

६. वृत्तियों का अनुचित प्रयोग।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के समान ही काव्यांगों के विवेचन में कभी प्रवृत्त नहीं हुए हैं, अतः उन्होंने भी दोषों का विवेचन प्रासंगिक रूप से नामान्तर से स्वीकार किया है। उन्होंने **ध्वन्यालोकलोचन** में आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत विरोधी रसादि सम्बन्धी विभावादि की योजना आदि दोषों को अविकल रूप से स्वीकार किया है। साथ ही भरतकृत **नाट्यशास्त्र** के रससूत्र की व्याख्या में रस-निष्पत्ति के प्रसंग में आने वाले सात विघ्नों की चर्चा की है, जो उनके मत में दोषों के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं। उनके द्वारा स्वीकृत विघ्न निम्नलिखित हैं—(१) सम्भावना का भाव, (२) विभाव-अनुभाव आदि की स्वगत अथवा परगत रूप से प्रतीति, (३) सहृदय का निज सुखादि के वशीभूत होना, (४) रसप्रतीति के उपाय विभावादि की योजना में अपूर्णता, (५) अस्फुटता, (६) अप्रधानता और (७) संशय।[2]

आचार्य महिमभट्ट ने अन्तरंग और बहिरंग भेद से दोष दो प्रकार के स्वीकार किये है।[3] इनमें से उन्होंने अन्तरंग दोषों का स्वतन्त्र विवेचन न करके आद्य आचार्यों द्वारा स्वीकार किये गये विरोधी रस सम्बन्धी विभावादि परिग्रह आदि दोषों की

---

१. **ध्वन्यालोक** ३।१८–१९, पृ० २१२–२१३।

२. **नाट्यशास्त्र अभिनवभारती टीका**, पृ० ४७४।

३. बहिरंगान्तरंगत्वभेदात् तद्द्विविधं मतं।

—**व्यक्तिविवेक**, पृ० १३५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

ओर संकेत किया है।[१] आद्य आचार्यों से उनका तात्पर्य आचार्य आनन्दवर्धन इत्यादि से है, ऐसा विद्वानों का अभिमत है।[२]

महिमभट्ट के अनुसार बहिरंग दोष केवल पाँच हैं—विधेयाविमर्श, प्रक्रम-भेद, क्रमभेद, पौनरुक्ति और वाच्यावचन (अवाच्यवचन)।[३]

आचार्य मम्मट ने पद, वाक्य, अर्थ और रस दोष नाम से चार प्रकार के दोषों का वर्णन किया है, यद्यपि उनके द्वारा स्वीकृत पद-दोष कभी पदांश में और कभी वाक्य में भी प्राप्त हो सकते हैं।[४] उनके अनुसार १६ पद-दोष,[५] २१ वाक्यदोष,[६] २३ अर्थदोष[७] तथा १३ रस-दोष[८] हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने रस-दोष, पद-दोष, वाक्यदोष, पदवाक्यदोष और अर्थदोष नाम से दोषों के पाँच प्रकार स्वीकार किये हैं। उन्होंने ८ रसदोष[९], दो पद-दोष[१०], १३ वाक्यदोष,[११] ८ पदवाक्यदोष[१२] और २० अर्थदोष[१३] माने हैं।

---

१. तत्र विभावानु भावव्यभिचारिणां अयथायथं रसेषु यो विनियोगः तन्मात्र लक्षणं अन्तरंगं आद्यैरेवोक्तं इति नेह प्रतन्यते।
—व्यक्तिविवेक, पृ० १४६।

२. (क) आद्यैरिति ध्वनिकारप्रभृतिभिः।
—व्यक्तिविवेक 'व्याख्यान' पृ० १४६।

(ख) महिमभट्ट ने यहाँ ध्वनिकारकृत रसविरोधी तत्त्वों के परिगणन को ही अन्तरंग दोष के रूप में स्वीकार किया है।
महिमभट्टकृत—काव्यदोष विवेचन एक अध्ययन, पृष्ठ ८६–८७।

३. यत्तु एतत् शब्दविषयं बहुधा परिदृश्यते।
तस्य प्रक्रमभेदाद्याः दोषाः पञ्चैव योनयः॥
—व्यक्तिविवेक, पृ० १३५।

४. अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन॥
—काव्यप्रकाश ७।५२, पृ० २६७।

५. **वही** ७।५०–५१, पृ० २८०–८१।

६. **वही** ७।५३–५४–५५ (पूर्वार्ध) पृ० ३१८–१६।

७. **वही** ७।५५ (उत्तरार्ध), ७।५६, ७।५७, पृ० ३४६।

८. **वही** ७।६०, ७।६१, ७।६२ पृ० ३८२।

६. (हेमचन्द्र) **काव्यानुशासनम्** अ० ३, पृ० ११८।

१०. **वही** अ० ३, पृ० १३६। ११. **वही** अ० ३, पृ० १३७।

१२. **वही** अ० ३, पृ० १५७। १३. **वही** अ० ३, पृ० १८४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

चन्द्रालोककार जयदेव ने दोषों का किसी प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया है, अपितु उन्होंने निम्नलिखित दोषों का केवल वर्णन किया है—

श्रुतिकटुदोष, च्युतसंस्कृतिदोष, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील (त्रिविध), संदिग्ध, अप्रतीत, शिथिल, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्ट, विधेयांश, विरुद्धमतिकृत, अन्यसंगत, प्रतिकूलाक्षर, उपहतविसर्ग, लुप्तविसर्ग, कुसन्धि, विसन्धि, हतवृत्त, न्यून, अधिक, कथित, विकृत, पतत्प्रकर्ष, समाप्तपुनरात्त, अर्घान्तर-पदापेक्षी, अभवन्मतयोग, अस्थानस्थसमास, संकीर्ण, भग्नप्रक्रम, अक्रम, अमतअर्थान्तर, अपुष्टार्थ, कष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, संदिग्ध, अनौचित्य, विरुद्ध, सामान्यपरिवृत्ति, विशेष-परिवृत्ति, सहचर-अचारु, विरुद्ध-अन्योन्यसंगितः ।[1]

एकावलीकार विद्याधर ने क्रमभंग दोष के अतिरिक्त शेष चार (बहिरंग) दोषों के सम्बन्ध में आचार्य महिमभट्ट का अनुसरण किया है। यथा—अविमृष्ट विधेयांश (विधेयाविमर्श), (२) प्रक्रमभंग, (३) अवाच्यवचन। वाच्यावचन। (४) पौनरुक्त्य।[2]

आचार्य विद्यानाथ के अनुसार दोष प्रथमतः दो प्रकार के हैं—१. शब्दगत और अर्थगत। शब्दगत दोष पदगत और वाक्यगत होने से दो प्रसार के हो जाते हैं।[3] ये पदगत दोष १७[4] तथा वाक्यगत दोष २४ हैं।[5] अर्थगत १८ प्रकार के हैं।[6]

काव्यानुशासनकार वाग्भट ने शब्द दोष (पदवाक्यदोष), वाक्यदोष और अर्थ दोष भेद से दोषों के तीन वर्ग किये हैं। इनके द्वारा स्वीकृत शब्द दोष १६,[7] वाक्यदोष १३,[8] और अर्थदोष १४ हैं।[9]

कविराज विश्वनाथ के अनुसार दोष पाँच प्रकार के हैं[10]—१. पददोष,

---

१ चन्द्रालोक, द्वितीय मयूख २।२–३६½ पृ० २४–५६।

२. एकावली ६।१–५, पृष्ठ १५१–१७८।

३. दोषाणां शब्दगतत्वेन अर्थगतत्वेन च द्वैविध्यम्।
शब्दगतानामपि पदवाक्यगतत्वेन च द्वैविध्यम्॥
—प्रतापरुद्रयशोभूषणम्, पृ० २९६।

४. वही, पृ० २९६। ५. वही, पृ० ३०२।

६. वही, पृ० ३१३।

७. (वाग्भट) काव्यानुशासनम्, अध्याय २, पृ० १९।

८. वही, अध्याय २, पृ० २४।

९. वही, अध्याय २, पृ० २७।

१०. ······ते पुनः पञ्चधामताः······। —सा० द० ७।१ पृ० ५५९ः

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

(२) पदांश दोष, (३) वाक्य दोष, (४) अर्थदोष और (५) रसदोष। पुनः पदगत दोष १६ प्रकार के हो जाते हैं—(१) दुःश्रव, (२) अश्लील, (३) अनुचितार्थ, (४) अप्रयुक्त, (५) ग्राम्य, (६) अप्रतीत, (७) संदिग्ध, (८) नेयार्थ, (९) निहितार्थ, (१०) अवाचक, (११) क्लिष्ट, (१२) विरुद्धमतिकारिता, (१३) अविमृष्ट, विधेयांश, (१४) निरर्थक, (१५) असमर्थ और (१६) च्युत-संस्कारता।[1]

उपर्युक्त पदगत दोषों में से दुःश्रवत्व आदि कुछ दोष पदांशगत भी होते हैं।[2] इसके अतिरिक्त उन्होंने उपर्युक्त पदगत दोषों में से निरर्थक, असमर्थ और च्युत-संस्कारता को छोड़कर शष को वाक्यगत भी माना है।[3] साथ ही उन्होंने केवल वाक्य में रहने वाले निम्नलिखित २३ दोषों को भी स्वीकार किया है—(१) प्रतिकूलवर्ण, (२) लुप्तविसर्ग, (३) आहतविसर्ग, (४) अधिकपद, (५) न्यूनपद, (६) कथितपद, (७) हतवृत्त, (८) पतत्प्रकर्ष, (९) संधिविश्लेष, (१०) संधि-अश्लील, (११) संधिकष्ट, (१२) अर्धान्तरैकपद, (१३) समाप्तपुनराप्त, (१४) अभवन्मत-सम्बन्ध, (१५) अक्रम, (१६) अमतपरार्थ, (१७) वाच्यानभिधान, (१८) भग्नप्रक्रम, (१९) प्रसिद्धित्याग, (२०) अस्थानस्थपद, (२१) अस्थानस्थसमास, (२२) संकीर्ण और (२३) गर्भित।[4] इसी प्रकार उन्होंने २३ अर्थदोष माने हैं—(१) अपुष्ट, (२) दुष्क्रम, (३) ग्राम्य, (४) व्याहत, (५) अश्लील, (६) कष्ट, (७) अनवीकृत, (८) निर्हेतु, (९) प्रकाशितविरुद्ध, (१०) संदिग्ध, (११) पुनरुक्त, (१२) ख्यातिविरुद्ध, (१३) विद्याविरुद्ध, (१४) साकांक्ष, (१५) सहचरभिन्न, (१६) अस्थानयुक्त, (१७) अविशेष में विशेष, (१८) अनियम में नियम, (१९) विशेष में अविशेष, (२०) नियम में अनियम, (२१) विधि-अयुक्त, (२२) अनुवाद युक्त और (२३) निर्मुक्तपुनरुक्त।[5]

उन्होंने निम्नलिखित १४ प्रकार के रसगत दोष भी स्वीकार किये हैं—(१) रस की स्वशब्दवाच्यता, (२) स्थायी भाव की स्वशब्दवाच्यता, (३) व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता, (४) प्रकृत रसविरुद्धविभावादि की योजना, (५) अनुभाव की कष्टकल्पना, (६) विभाव की कष्टकल्पना, (७) अकाण्ड रस-प्रधान, (८) अकाण्ड रस-छेद, (९) पुनः-पुनः रसदीप्ति, (१०) अंगीरस-अननुसंधान,

---

१. **साहित्य दर्पण** ७।२, ७।३, ७।४ (उत्तरार्द्ध), पृ० ५६०।

२ दोषाः केचिद्भवन्त्येषु पदांशेऽपि परे परे।
—**वही** ७।४ (पूर्वार्द्ध), पृ० ५६०।

३. **वही** ७।२, ३, पृ० ५६०।

४. **वही** ७।५, ७।६, ७।७, ७।८, पृ० ५७९।

५ **वही** ७।९, ७।१०, ७।११, ७।१२ (पूर्वार्द्ध), पृ० ५९९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

(११) अनंगरसकीर्तन, (१२) अंगरस का विस्तार, (१३) प्रकृतिविपर्यय और (१४) अर्थ-अनौचित्य।[1]

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने पद-दोष, वाक्यदोष, पदवाक्योभय दोष, अर्थदोष और रसदोष भेद से दोषों के पाँच प्रकार स्वीकार किये हैं। पुनः उन्होंने पदगत दोष के तीन[2] वाक्यगत दोष के २१[3], पदवाक्यगत दोष के १३[4], अर्थगत दोष के १८[5] तथा रसगत दोष के १३ भेद[6] माने हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ के उपलब्ध ग्रन्थ में दोष-विवेचन नाम से कोई स्वतंत्र प्रकरण प्राप्त नहीं होता है, हाँ इतना अवश्य है कि उनके ग्रन्थ में रसनिरूपण के के प्रसंग में सामान्य एवं विशेष रूप से वर्जनीय प्रतिकूलवर्णयोजना (शब्द-योजना) जिसे दोष कहा जा सकता है, का उल्लेख प्राप्त होता है।[7] उन्होंने इस प्रतिकूल-वर्णयोजना को अश्रव्यत्व नाम से अभिहित किया है[8]।

उपर्युक्त दोषविवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि काव्यार्थ के प्रतिबंधक दोषों के महत्त्व को प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। कुछ आचार्यों ने काव्यलक्षण में दोषाभाव का संकेत करते हुए उनसे बचने का स्पष्ट निर्देश किया है और कुछ ने काव्यलक्षण में दोषाभाव की चर्चा न करते हुए भी दोष-सामान्य का लक्षण देकर अथवा उनका विस्तृत विवेचन करके उनसे बचना

---

१. **साहित्यदर्पण** ७।१२ (उत्तरार्ध) ७।१३, ७।१४, ७।१५, पृ० ६१०–६११।
२. **अलंकारमहोदधि** ५।२ (पूर्वार्ध), पृ० १२६।
३. **वही—** ५।२ (उत्तरार्ध), ५।३, ५।४, ५।५, ५।६ (पूर्वार्ध) पृष्ठ १३०।
४. **वही—** ५।६ (उत्तरार्ध), ५।७, ५।८, पृ० १४१।
५. **वही—** ५।११, ५।१२, ५।१३, ५।१४ (पूर्वार्ध), पृ० १५५।
६. **वही—** ५।१८, ५।१६, ५।२०, पृ० १७७–१७८।
७. तत्त गुणव्यञ्जनक्षमाया निर्मितेः परिचयाय सामान्यतो विशेषतश्च वर्जनीयं किञ्चिन्निरूप्यते—वर्णानां स्वानन्तरीयं सकृदपि एकपदगतत्वेन किञ्चिदश्रव्यम्...(पृ० २३६) ।...अथ विशेषतो वर्जनीयाः...मधुररसेषु दीर्घसमासं झयद्वय घटितसंयोगपरह्रस्वस्य......असकृत प्रयोगं नैकत्वेन वर्जयेत्। सवर्ण झय्द्वयघटितसंयोगस्य, शर्भिन्नमहाप्राणघटितसंयोगस्य सकृदपि इति संक्षेपः......(पृ० २५०-२५१)......इत्थं एते संगलोम-धुररसाभिव्यञ्जिकायां रचनायां संक्षेपेण निरूपिताः दोषाः।
—**रसगंगाधर** पृ० २६१ (पृ० २३६, २५०-२५१, २६१)
८. एवं इमे सर्वेऽपि अश्रव्यत्वभेदाः काव्यसामान्ये वर्जनीयाः।
रसगंगाधर पृ० २४६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आवश्यक माना है। पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस दोष के नाम से वर्णित पूर्वोक्त विविध दोष काव्यार्थ में साक्षात् अथवा परम्परया प्रतिबंधक होने से क्रमश: अन्तरंग और बहिरंग (दोष) कहे जाते हैं। अन्तरंग दोषों में आनन्दवर्धन द्वारा वर्णित रसविरोधी तत्त्व, अभिनवगुप्त द्वारा वर्णित विघ्न एवं मम्मट आदि द्वारा वर्णित रसदोष समाहित किये जा सकते हैं। ये दोष काव्यार्थ में सदा प्रतिवन्धक होने से नित्य दोष कहलाते हैं, अत: नित्य ही परिहार्य हैं। शेष पद-दोष आदि काव्यार्थ में परम्परया प्रतिबन्धक होने से बहिरंग-दोष कहे जाते हैं। कभी-कभी रस के अनुकूल होने की स्थिति में ये (बहिरंग-दोष दोष की कोटी से हटकर) गुण कोटी में भी आ जाते हैं। इसीलिए इन्हें अनित्य दोष कहा जाता है। ये अनित्य दोष (बहिरंग दोष) दोष की स्थिति में ही त्याज्य माने गये हैं, रस की अनुकूलता की स्थिति में नहीं।

———

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

काव्य में अलंकारों का स्थान

(क) अलंकारों का सामान्य स्वरूप

अलंकारशास्त्र के आदिकाल से ही काव्य में अलंकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इतना ही नहीं भामह आदि प्राचीन आलंकारिकों की दृष्टि से काव्य में अलंकार प्रधान रहे हैं।[1] अग्निपुराणकार ने उपमा आदि अलंकारों के अभाव में काव्य-रचना (सरस्वती) को विधवा के समान माना है।[2] इस प्रसंग में 'अलंकार' शब्द से उनका अभिप्राय—**'अलंक्रियते अनेन सः अलंकारः'** (अर्थात् जिससे शब्द और अर्थ आदि अंग की तथा उसके द्वारा अंगी की शोभावृद्धि होती है, उसे अलंकार कहते हैं)—इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनुप्रास आदि शब्दालंकारों और उपमा आदि अर्थालंकारों से रहा है।

अलंकारशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने अलंकार की कोई स्वतन्त्र परिभाषा नहीं की है, किन्तु उनके **'काव्यालंकार'** ग्रन्थ में किये गये अलंकार-विवेचन को तथा अलंकार सम्बन्धी उनके विचारों को देखकर यह कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में 'अलंकार' काव्य का अनिवार्य शोभाधायक तत्त्व है।[3] दण्डी ने अलंकारों को काव्य का धर्म माना है, जो काव्य की शोभा बढ़ाते हैं।[4] **'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति'** के प्रणेता वामन ने अलंकार की परिभाषा को कुछ अधिक व्यापक बनाया है। वे अलंकारों को सौंदर्य का ही पर्याय मानते हैं।[5] किन्तु विशिष्ट विवेचन करते हुए उनका कथन है कि सामान्यतः काव्य में शोभा गुणों के द्वारा प्राप्त होती है, परन्तु गुणों से प्राप्त शोभा में अतिशय अलंकारों द्वारा ही आता है।[6] इस प्रकार वामन काव्य में शोभा का सामान्य आधार गुणों को मानते हैं और अतिशय-सौंदर्य का कारण अलंकारों को। आचार्य उद्भट ने न तो अलंकार शब्द की परिभाषा दी है और न ही काव्य में उनकी अनिवार्य स्थिति के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट संकेत किया

१, अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राचां मतम्।—**अलंकारसर्वस्व**–पृ० ८।

२. अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती।—**अग्निपुराण** ३४४।२।

३. न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।

—**काव्यालंकार** (भामह) १।१३।

४. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। —**काव्यादर्श** २।१।

५. सौंदर्यमलंकारः। —**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** १।१।२।

६. (क) काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। —**वही** ३।१।१।

(ख) तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। —**वही** ३।१।२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

है। फिर भी उनके ग्रन्थ (**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति**) में गुण, वृत्ति, रीति आदि की उपेक्षा करके किये गये केवल अलंकारों के विवेचन को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे गुणादि उपादान तत्त्वों को अलंकारों में ही अन्तर्हित मानते हैं। वृत्तियों को तो उन्होंने स्पष्टतः अनुप्रास में अन्तर्निहित माना है।[१]

अलंकारशास्त्र के इतिहास में नवम शताब्दी में एक महान् क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति के जन्मदाता थे आचार्य आनन्दवर्धन। इन्होंने काव्य से अलंकार के साम्राज्य को हटाकर ध्वनि को प्रतिष्ठित किया, किन्तु उसको देखकर यह नहीं सोचना चाहिए कि ध्वनिकार ने अलङ्कारों को कोई महत्त्व ही नहीं दिया है। उन्होंने तो चतुर माली की भाँति अलंकारवृक्ष की अव्यवस्थित रूप से फैली हुई प्रयोग-परम्परा की शाखाओं में औचित्य के आधार पर काट-छाँट कर अलंकारों के सौन्दर्य में श्रीवृद्धि ही की है। प्रतिपाद्य विषय भेद की दृष्टि से उन्होंने अलंकारों का विवेचन तो नहीं किया, किन्तु विभिन्न शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की सत्ता और महत्ता को स्वीकार करते हुए उनकी योजना के प्रसंग में जिस सिद्धान्त की स्थापना की है, वह निस्सन्देह सर्वतोभावेन ग्राह्य है। उनके अनुसार वे ही अलङ्कार 'अलङ्कार' कहे जा सकते हैं, जिनका निबन्धन रसाक्षिप्ततया सम्भव हो, पृथक् यत्न की अपेक्षा न हो।[२] उनका कहना है कि ध्वन्यात्मक शृङ्गारमय काव्य में रसौचित्य को देखकर प्रयुक्त किये गये रूपकादि अलङ्कार वस्तुतः अलङ्कार माने जाते हैं।[३] उन्होंने रस के प्राधान्य की दृष्टि से काव्य में अलङ्कारनियोजन के लिए निम्नलिखित कुछ सुझाव दिए हैं—

(१) रूपक आदि अलङ्कारों का कथन रसपरत्वेन हो।
(२) अलङ्कारों का प्रधान रूप से कथन किसी भी दशा में न हो।
(३) अलङ्कारों का उचित समय पर ग्रहण और उचित समय पर त्याग हो।
(४) काव्य में आदि से अन्त तक इन (अलङ्कारों) के निर्वाह की इच्छा न की जाए।

---

१. शेषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद्धह्न्याद्यैश्च संयुता॥
—**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।६।**

सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्त उपनागरिकां बुधाः॥—**वही १।८।**
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं ग्रथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः॥ —**वही १।१०**

२. रसाक्षिप्ततया यस्य बंधः शक्यक्रियीभवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारोऽध्वनौ मतः॥—**ध्वन्यालोक २।१६।**

३. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्॥—**वही २।१७।**

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

(५) यदि आदि से अन्त तक अलङ्कार-योजना हो भी जाए, तो इस बात को कवि सावधानी से एक बार फिर देख ले कि उनका अंग के रूप में ही नियोजन हुआ है अथवा नहीं।[1]

शब्दालंकारों के सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि इनकी योजना में विशेष प्रयत्नशील नहीं होना चाहिये। शृङ्गार आदि रस के समस्त भेदों में अनुप्रास अभिव्यंजक नहीं होता, इसलिए अलङ्कार भी नहीं हो पाता। शृङ्गार-प्रधान ध्वनिकाव्य में विशेषकर विप्रलम्भ शृङ्गार में सामर्थ्य रहते हुए भी यमक आदि की योजना प्रमादजनक होती है।[2] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन की अलङ्कार सम्बन्धी मान्यता पूर्ववर्ती आचार्यों से कुछ भिन्न अवश्य है, किन्तु उनकी दृष्टि में भी अलङ्कारों का महत्त्व है। भामह आदि पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति इनके मत में अलङ्कार अनिवार्य भले ही न हों, किन्तु उपादेय अवश्य हैं। इस प्रसंग में आचार्य कुन्तक की मान्यता भी आनन्दवर्धन से भिन्न नहीं है। वे कहते हैं कि अलङ्कार, अलङ्कार्य को दृष्टि में रखकर निरूपित होते हैं। अलङ्कार्य के प्रसाधक होने से ही वे अलङ्कार कहे जाते हैं और तभी काव्य 'काव्य' बन पाना है।[3]

आचार्य मम्मट ने भी आनन्दवर्धन के उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस प्रसंग में उनका कथन है कि अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार अंगी रस के अंग होकर उसे (रस को) उसी प्रकार सुभूषित करते हैं, जैसे हार आदि अलङ्कार ललित शरीर को शोभा प्रदान करते हैं।[4] उत्तरवर्ती विश्वनाथ आदि आलङ्कारिकों

---

१ विवक्षातत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥—वही २।१८–१९।

२. (क) शृङ्गाररस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबंधवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः॥
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषत.॥
—ध्वन्यालोक २।१४–१५।

(ख) ध्वनेरात्मभूतः शृङ्गारः······तस्मिन् यमकादीनां यमकप्रकाराणां निबन्धनं दुष्करशब्दभंग श्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम्।
—वही, वृत्ति पृ० १२७ (दीधिति)

३. अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता॥—वक्रो० जी० १।६, पृ० ५।

४. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्ते················॥—काव्यप्रकाश ८।६७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

ने प्रायः इसी सिद्धान्त का अनुगमन किया है। उन्होंने अलङ्कारों को रसादि का उपकारक एवं शब्दार्थ का अतिशय शोभाधायी अस्थिर धर्म माना है।[१] पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति अलङ्कारों के महत्त्व को स्वीकार किया है।[२] जयदेव ने भी अलङ्कारों को हार आदि आभूषणों की उपमा देते हुए उक्त सिद्धान्त को ही स्वीकृति प्रदान की है।[३]

आचार्य महिमभट्ट के अनुसार अलङ्कार भंगीभणिति रूप हुआ करते हैं।[४] कभी-कभी वे अनुमेय भी हो सकते हैं।[५] इनकी योजना सौन्दर्यातिरेक के लिए की जाती है, केवल अलङ्कार-योजना के लिए नहीं। इसके लिए रसोन्मुख कवि प्रयत्नशील नहीं होता, अपितु वे उसकी रचना में अनायास आ जाते हैं।[६] उनका यह

---

१. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते............... ॥

—**सा० दर्पण** १०।१, पृ० ६६५।

२. अलङ्काराः हि वाच्यसौन्दर्यसाराः प्रायशः स्वान्तर्गत प्रतीयमानं पृष्ठतः कुर्वन्ति।—**रसगंगाधर**, पृ० १७२।

३. हारादिवदलंकारः सन्निवेशो मनोहरः ॥—**चन्द्रालोक** ५।१।

४. (क) अलंकाराणां चाभिधातमत्वमुपगतं तेषां भंगीभणितिभेदरूपत्वात्।

—**व्यक्तिवि०**, पृ० १९।

(ख) महाकवीनां या विचित्रा भंगीभणितयोऽलंकार संज्ञा।

—**वही**, पृ० २७३।

(ग) भंगीभणिति भेदानामेवालंकारत्वोपगमात्।

—**वही**, पृ० ३४१–३४२।

५. टिप्पणी—महिमभट्ट ने यद्यपि शब्दतः अलंकारों को अभिधेय ही माना है, किन्तु लक्षणा अलंकार के प्रसंग में—'लक्षणायाश्चालंकारत्वमुपगतमेव' (व्यक्तिविवेक, पृ० ३११) एक प्रकार से उसे (अलंकार को) अनुमेय भी मान लिया है, क्योंकि उनके अनुसार अभिधा के अतिरिक्त शब्द में कोई अन्य वृत्ति नहीं है, अतः लक्ष्य और व्यंग्य अथ सदा अनुमेय ही हो सकते हैं। इसलिए लक्षणा-वृत्ति पर आश्रित अलंकार को अभिधेय न होकर अनुमेय ही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्होंने आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत अलंकारध्वनि के भेदों का भी अनुमिति में अन्तर्भाव किया है, क्योंकि वे व्यंग्य अर्थ को अनुमेय मानते हैं, इसलिए व्यंग्य अलंकार स्वतः अनुमेय सिद्ध होते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि महिमभट्ट की दृष्टि से अलंकार अनुमेय (ध्वनिवादियों के मत में व्यंग्य) भी हुआ करते हैं।

६. न चालंकारनिष्पत्त्यै रसबन्धोद्यतः कविः।
यतते ते हि तत्सिद्धिनान्तरीयक सिद्धयः ॥ —**व्यक्तिविवेक**, पृ० ३४२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

भी कहना है कि काव्य में अर्थ के उत्कर्ष और अपकर्ष के बिना चारुत्व नहीं आ पाता । इसके लिये भी कवि अलङ्कारों की सहायता लिया करता है ।[१]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अलङ्कार काव्य की बाह्य श्रीवृद्धि के साथ-साथ काव्यार्थ के उन्मीलन के प्रसंग में भी पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं, किन्तु अलङ्कार-योजना के काव्यार्थ के अनुगुण न होने पर वे (अलङ्कार) न केवल काव्यार्थ के प्रति उपयोगी नहीं बन पाते अपितु वहाँ वे भार बन जाते हैं ।[२] उस स्थिति में उनकी उपादेयता और शोभाधायकता समाप्त हो जाती है और तब दोषों के समान उनका भी त्याग श्रेयस्कर माना जाता है।

(ख) अलङ्कारों का विशिष्ट स्वरूप—

अलङ्कार काव्य में समवाय सम्बन्ध से अंग बनकर रहते हैं अथवा संयोग-वृत्ति से आरोपित होकर—इस प्रश्न पर भी प्राचीन आलङ्कारिकों में पर्याप्त विवाद रहा है । भामह और दण्डी उन्हें हारादि अलङ्कारों की तरह आरोपित मानते आये हैं, जब कि उद्भट ने इन्हें काव्य शरीर का नित्य अंग माना है ।[३] इस प्रसंग में उनका कहना है कि जिन विद्वानों ने गुणों को शौर्य आदि के समान समवाय वृत्ति वाले (नित्य रहने वाले) और अलङ्कारों को हारादि आभूषणों के समान संयोग-वृत्ति वाले (अर्थात् कभी साथ और कभी अलग रहने वाले) बताकर गुण और अलङ्कारों में भेद माना है, वह भेड़ियाधसान मात्र है, क्योंकि शौर्य आदि गुणों और हार आदि आभूषणों के लौकिक होने के कारण इन दोनों में भेद माना जा सकता है, किन्तु काव्य में गुण और अलङ्कार दोनों ही अलौकिक होते हैं । अतः इन दोनों का काव्य के साथ समवाय (नित्य) सम्बन्ध ही है ।[४] आचार्य आनन्दवर्धन ने रस के आनुगुण्य से अलङ्कारों की योजना अथवा उनके त्याग की चर्चा करते हुये इन्हें अलङ्कारों को) प्रकारान्तर से आरोपित धर्म के रूप में निर्दिष्ट किया है ।[५] आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धन की इस भावना को और भी अधिक

---

१. विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित् ।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते ॥ **—वही** २।१४, पृ० २१८ ।

२. वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम् । **—अग्निपुराण** ३४६।१ ।

३. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते ।
—काव्यालंकारसारसंग्रह-लघुवृत्ति, पृ० ८४ ।

४. एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्या तु हारादय, इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैषां भेदः ।
—काव्यप्रकाश ८।६७ वृत्ति, पृ० ४१३ ।

५. **ध्वन्यालोक** २।१८–१९ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

स्पष्ट करते हुए कहा है कि जैसे शौर्य आदि आत्मा के गुण हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि रस के धर्म हैं, शब्द के नहीं।......और जो कविता के वाच्य वाचक अर्थ और शब्द रूप अंगों के सौन्दर्य की वृद्धि करते हुए काव्य-शरीर को उसी प्रकार भूषित करते हैं, जिस प्रकार हार आदि आभूषण किसी सुन्दरी के कण्ठ आदि अंगों की शोभा वृद्धि करते हुए शरीर को सुभूषित करते हैं, वे अलङ्कार कहे जाते हैं।[1] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य मम्मट ने अलङ्कारों को हारादि की तरह काव्य-शरीर पर आरोपित धर्म के रूप में ही माना है और अपनी इस मान्यता के कारण ही उन्होंने काव्य-लक्षण में अलङ्कारों की गौणता को स्वीकार किया है। हाँ, जयदेव की स्थिति कुछ भिन्न कही जा सकती है। उन्होंने एक स्थल पर अग्नि की उष्णता की भाँति[2] अलङ्कारों को काव्य का नित्य धर्म कहा है और अन्यत्र हार आदि के सदृश अनित्य।[3] इस प्रसंग में उनका वास्तविक अभिमत क्या है, कह सकना कुछ कठिन है।

इस प्रकार यह सोचा जा सकता है कि अलङ्कार काव्य की शोभा बढ़ाने वाला, शब्दार्थ रूप काव्य का आरोपित धर्म हैं, जो हार आदि के समान अपनी सत्ता द्वारा काव्य शरीर को सुशोभित करता है, किन्तु उसके अभाव में भी काव्यत्व सदा अक्षुण्ण बना रह सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य के विविध तत्त्व रस, रीति, गुण एवं अलङ्कार आदि मिलकर किसी रचना में चारुत्व का आधान करते हुए उसे काव्य बना देते हैं। इनमें से किसी के भी महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। यदि आत्मा के आधार पर शरीर में जीवन आता है, तो शरीर के द्वारा आत्मा में कार्य की क्षमता प्राप्त होती है। अवयव संस्थान शारीरिक क्षमता की वृद्धि करता हुआ आत्मा की क्रियाशीलता को सबल बनाता है और हारादि अलङ्कार तथा वेष-रचना भी शरीर की श्रीवृद्धि करते हुए व्यक्तित्व को सबल बनाते हैं। इस प्रकार इनमें से किसी के भी महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता है।

———

१. आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य, तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्।......य वाचकवाच्य लक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यरसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङगानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादयः इवालंकाराः।——**काव्यप्रकाश** ८।६६ व ८।६७ वृत्ति, पृ० ४०८।

२. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥—**चन्द्रालोक** १।८।

३. हारादिवदलंकारः सन्निवेशोमनोहर॥—**वही** ५।१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

४

प्राप्ते:, आजीप्राय:

अलंकारों का क्रमिक विकास

अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन सर्वप्रथम आचार्य भरतकृत नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। आचार्य भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का ही वर्णन किया है। इन अलंकारों के अतिरिक्त उन्होंने निम्नलिखित ३६ काव्य लक्षणों[1] की भी चर्चा की है—१. भूषण २. अक्षरसंघात ३. शोभा ४. उदाहरण ५ हेतु ६. संशय ७. दृष्टान्त ८. प्राप्तभिनय ९. निदर्शन १०. निरुक्त ११. सिद्धि १२ विशेषण १३. गुणातिपात १४. अतिशय १५. तुल्य १६. तर्क १७. परोच्चय १८. दृष्ट १९. अपदिष्ट २०. विचार २१. भ्रंश २२. अनुनय २३. माला २४. दाक्षिण्य २५. गर्हंण २ . अर्थापत्ति २७. प्रसिद्धि २८. पृच्छा २९. सारूप्य ३०. मनोरथ ३१. लेश ३२. क्षोभ ३३. गुणकीर्तन ३४. अनुक्तसिद्धि ३५. प्रियवचन और ३६. विचार विपर्यय।

उपर्युक्त लक्षणों को भरत ने काव्य विभूषण कहते हुए काव्य में उनके सम्यक् प्रयोग के लिए आग्रह प्रकट किया है।[2] भरत के इन लक्षणों में भामह आदि परवर्ती आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत अनेक अलंकारों के बीज देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ जिस श्लिष्ट प्रयोग को भरत में 'अक्षरसंघात लक्षण' नाम से स्वीकार किया है,[3] उसे ही परवर्ती रुद्रट आदि ने श्लेष अलंकार नाम दिया है।[4] भरत के संशय लक्षण

---

१. नाट्यशास्त्र १७।१–५।

२. एतानि वा काव्यविभूषणानि षट्त्रिंशदुद्देश्यनिदर्शनानि।
काव्येषु सोदाहरणानि तज्ज्ञैः सम्यक्प्रयोजनानि वलानुरूपम्॥
—वही १७।४२।

३. यत्राल्पैरक्षरैः श्लिष्टैर्विचित्रमुपवर्ण्यते।
तमप्यक्षरसंघातं विद्याल्लक्षणं संज्ञितम्॥—वही १७।७।

४. यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः॥
—काव्यालंकार (रुद्रट) १०।१, पृ० ३२७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

को भामह ने 'ससंदेह' एवं रुद्रट आदि ने संशय नामक अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।[1]

अलंकार शास्त्र के इतिहास में भामह का **'काव्यालंकार'** प्रथम उपलब्ध अलंकार-ग्रन्थ माना जाता है। इसमें निम्नलिखित ३८ अलंकारों का विवेचन प्राप्त होता है, जिनमें से दो शब्दालंकार तथा ३६ अर्थालंकार हैं।

शब्दालंकार—अनुप्रास और यमक।

अर्थालंकार—१. रूपक २. दीपक ३. उपमा (प्रतिवस्तूपमा-उपमा भेद) ४. आक्षेप (दो प्रकार) ५. अर्थान्तरन्यास ६. व्यतिरेक ७. विभावना ८. समासोक्ति ९. अतिशयोक्ति १०. यथासंख्य ११. उत्प्रेक्षा १२. स्वभावोक्ति १३. प्रेय १४. रसवत् १५. अर्जस्वी १६. पर्यायोक्त १७. समाहित। १८. उदात्त (दो प्रकार) १९. श्लिष्ट २०. अपह्नुति २१. विशेषोक्ति २२. विरोध २३. तुल्ययोगिता २४. अप्रस्तुत प्रशंसा २५. व्याजस्तुति २६. निदर्शना २७. उपमा-रूपक २८. उपमेयोपमा २९. सहोक्ति ३०. परिवृत्ति ३१. ससंदेह ३२. अनन्वय ३३. उत्प्रेक्षावयव ३४. संसृष्टि ३५. भाविकत्व और ३६. आशीः। +2=38

भामह ने काव्यालंकारों का वर्णन चार वर्गों में किया है। प्रथम वर्ग में अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा अलंकारों की गणना की है।[2] द्वितीय वर्ग में छः अलंकार वर्णित है—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति।[3] तृतीय वर्ग में यथासंख्य और उत्प्रेक्षा की गणना की गई है।[4] चतुर्थ वर्ग में स्वभावोक्ति तथा आशीः को छोड़कर शेष चौबीस अलंकार उल्लिखित हैं।[5] स्वभावोक्ति तथा आशीः पृथक्-पृथक् उल्लिखित हैं और इनके सम्बन्ध में कहा

---

१. (क) अपरिज्ञाततत्त्वार्थं वाक्यं यत्र समाप्यते।
अनेकत्वाद्विचाराणां स संशय इति स्मृतः ॥—**ना० शा०** १७।११।

(ख) ससंदेहं वचः स्तुत्यै ससंदेहं विदुर्यथा ॥
—**काव्यालंकार** (भामह) ३।४३ पृ० ८२।

(ग) वस्तुनि यत्रैकस्मिन् अनेकविषयस्तु भाति संदेहः।
प्रतिपत्तुः सादृश्यादर्श्चयः संशय स इति ॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट ८।५९, पृ० २७७।

२. अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलंकाराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः ॥
काव्यालंकार (भामह) २।४

३. आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।
समासातिशयोक्ती च षडलंकृतयोऽपराः ॥ **वही**, २।६६

४. यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः। **वही**, २।८८

५ **वही**, ३।१-४

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

गया है कि ये कुछ लोगों के मतानुसार अलंकार हैं ।[1] भामह ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश के अलंकारतत्व का खण्डन किया है[2] क्योंकि उनके अनुसार इनमें वक्रोक्ति नहीं रहती जो अलंकार का मूलाधार है ।

भामह द्वारा वर्णित प्रथम वर्ग के तीन अर्थालंकार-उपमा, रूपक तथा दीपक भरत के **नाटयशास्त्र** में वर्णित में मूल अलंकार हैं । भामह की उपमा, रूपक तथा दीपक की धारणा भरत की उपमादि की धारणा से मिलती जुलती है ।

भामह का आक्षेप अलंकार भरत के मनोरथ तथा प्रतिषेध लक्षणों के योग से आविर्भूत है ।[3] भरत के शोभा तथा उदाहरण लक्षणों के मिश्रण से अर्थान्तरन्यास अलंकार का आविर्भाव स्वीकार किया जा सकता है ।[4] व्यतिरेक अलंकार-धारणा का उद्गम-स्रोत भरत के उपमा अलंकार के साथ अतिशय तथा निर्भासन लक्षणों की धारणा को माना जा सकता है ।[5] समासोक्ति अलंकार की कल्पना भरत के अर्थापत्ति लक्षण के आधार पर की गई मानी जा सकती है ।[6] भरत के रूपक अलंकार तथा अतिशय नामक लक्षण के योग से अतिशयोक्ति नामक अलंकार की सृष्टि हुई

---

१. (क) स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित् प्रचक्षते । **वही,** २।९३
(ख) आशीरपि च केषांचिदलंकारतया मता ॥ **वही,** ३।५५

२. सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥ —**वही,** २।८५

३. (क) **भरत नाट्यशास्त्र** १६।२०, १६।२३
(ख) **काव्यालंकार** (भामह) २।६८

४. (क) **नाट्यशास्त्र** १६।७
(ख) यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।
साध्यन्ते निपुणैरर्थास्तदुदाहरणं स्मृतम् ॥
—**ना० शा० अ० भा० पृ० ३०४**
(ग) **काव्यालंकार** (भामह) २।७१

५. (क) **नाट्यशास्त्र** १६।१३ तथा—
ईप्सितार्थप्रसिद्ध्यर्थं कीर्त्यन्ते यत्र सूरिभिः ।
प्रयोजनान्यनेकानि सामालेत्यभिसंज्ञिता ॥
—**नाट्यशास्त्र** अ० **भा०** पृ० ३१३
(ख) **काव्यालंकार** (भामह) २।७५

६. (क) अन्ये त्ववीयते—अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते ।
वाक्यमाधुर्यसम्पन्ना सार्थापत्तिरिति स्मृता ॥
नाट्यशास्त्र अ० भा० पृ० ३१९
(ख) **काव्यालंकार** (भामह) २।७९

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

है।[१] उत्प्रेक्षा भरत की व्यापक उपमा के कल्पितोपमा भेद में अन्तर्युक्त मानी जा सकती है। भरत की अर्थव्यक्ति गुण की धारणा से स्वाभावोक्ति अलंकार की धारणा का जन्म माना जा सकता है।[२] प्रेय अलंकार की धारणा प्रियोक्ति लक्षण-धारणा से अभिन्न है।[३] पर्यायोक्त अलंकार की प्रेरणा भरत के गुणानुवाद लक्षण से मानी जा सकती है।[४] भरत के उदार-गुण-लणण को उदात्त अलंकार का मूल माना जा सकता है।[५] भामह का श्लिष्ट भरत के रूपक अलंकार से मिलता जुलता है।[६]

भरत की उपमा के साथ उनके मिथ्याध्यवसाय नामक लक्षण के योग से अपह्नुति अलंकार का स्वरूप निष्पन्न हुआ है।[७] भारत के उपपत्ति लक्षण-धारणा के तत्त्व को लेकर भामह ने विरोध अलंकार का सृजन किया है।[८] भामह की तुल्ययोगिता में भरत के सिद्धि तथा गुणानुवाद लक्षण एवं प्रशंसोपमा का तत्त्व मिला

---

१. (क) **नाटयशास्त्र** १६।१३ तथा······अतिशयनाम्नातिशयोक्ति······।

नाटयशास्त्र, अ० भा०, पृ० ३२१

(ख) **काव्यालंकार** २।८१

२. **नाटयशास्त्र** १६।१०८ तथा **काव्यालंकार** (भामह) २।९३

३. यत्प्रसन्नेन मनसा पूज्यान् पूजयितुं वचः।
हर्षप्रकाशनार्थं तु सा प्रियोक्तिरुदाहृता ॥

नाटयशास्त्र अ० भा० पृ० ३०३

४. (क) गुणानुवादः स ज्ञेयो यत्राभेदोपचारतः।
गौणी वृत्तिमुपाश्रित्य वस्तुनो रूपमुच्यते ॥

नाटयशास्त्र, पृ० ३०५ पाद टिप्पणी

(ख) काव्यालंकार (भामह) ३।८

५. **नाटयशास्त्र**, १६।९

६. द्रष्टव्य—**काव्यालंकार** (भामह) ३।१५

७. (क) उपाध्यायमतं तु—लक्षणबलादलंकाराणां वैचित्र्यमागच्छति तथाहि—······मिथ्याध्यवसायेनापह्नुति······।

—**नाटयशास्त्र अ० भा०, पृ० ३२१**

(ख) विचारस्यान्यथाभावस्तथा दृष्टापदृष्टयोः।
सन्देहात् कल्प्यते यत्र सविक्षेपो विपर्ययः ॥

वही, अ० भा०, पृ० ३०८

(ग) **काव्यालंकार (भामह)** ३।२१

८. द्रष्टव्य—**नाटयशास्त्र** १६।३५ तथा **काव्यालंकार (भामह)** ३।२५

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

हुआ है।[1] अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के स्वरूप-निर्माण में भरत के मनोरथ एवं प्रोत्साहन लक्षणों का योग प्रतीत होता है।[2] भरत के कपट तथा प्रिय लक्षणों की धारणा के आधार पर व्याज स्तुति अलंकार के स्वरूप का निर्माण किया गया प्रतीत होता है।[3] भरत के दृष्टान्त लक्षण में प्रयुक्त निदर्शन शब्द के आधार पर निदर्शना अलंकार का नाम कल्पित किया गया प्रतीत होता है। निदर्शना का स्वरूप-संघटन दृष्टान्त तथा उदाहरण लक्षणों के आधार पर हुआ है।[4] उपमारूपक, उपमेयोपमा अलंकारों की कल्पना उपमा के सम्भावित भेदप्रभेदों के आधार पर मानी जा सकती है। भरत ने स्पष्ट लिखा है कि उपमा के अन्य भेद भी लोक-व्यवहार तथा काव्य की उक्तियों में पाये जा सकते हैं।[5] सहोक्ति अलंकार को भरतकृत दीपक अलंकार का ही किञ्चित् परिवर्तित स्वरूप माना जा सकता है। भरत के संशय लक्षण के साथ उपमा अलंकार के तत्त्व को मिलाकर संदेह अलंकार की सृष्टि हुई प्रतीत होती है।[7]

अनन्वय अलंकार का स्वरूप **नाट्यशास्त्र** में वर्णित उपमा के सदृशी भेद से अभिन्न प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त ने सदृशी उपमा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए

---

१. (क) लक्षणयोगादलंकाराणां वैशिष्ट्यमागच्छति तथाहि……सिद्धया तुल्ययोगितेति……। —**नाट्यशास्त्र अ० भा० पृ० ३२१।**
द्रष्टव्य—**नाटयशास्त्र** १६।१३ तथा,
—**काव्यालंकार** (भामह) ३।२७।

२ (क) ……मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशंसा।
—**नाट्यशास्त्र अ० भा०, पृ० ३२१।**
(ख) **नाटयशास्त्र** १६।२०।
(ग) अप्रस्तुत प्रशंसाप्यत्र तद्वैचित्र्यं प्रोत्साहनत्वलक्षणकृतमेव……।
—**नाट्यशास्त्र अ० भा०, पृ० ३०३।**
द्रष्टव्य—**काव्यालंकार** (भामह) ३।२६।

३. (क) यत्र संकीर्तयन्दोषं गुणमर्थेन योजयेत्।
गुणातिपाताद्दोषं वा गर्हणं नाम तद्भवेत्॥
—**नाट्यशास्त्र अ० भा०, पृ० ३१५।**
(ख) **नाट्यशास्त्र** १६।२६ तथा **काव्यालंकार** (भामह) ३।३१।

४. द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र** १६।२५, १६।५१ तथा
—**भामह काव्यालंकार** ३।३३।

५. उपमाया बुधैरेते ज्ञेया भेदाः समासतः।
ये शेषा लक्षणैर्नोक्तास्ते ग्राह्या लोककाव्यतः। —**नाट्यशास्त्र** १६।५२।

६. द्रष्टव्य—**काव्यालंकार** (भामह) ३।३६।

७. द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र—[illegible] तथा भामह काव्यालंकार—३।४३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

लिखा है कि इसमें उपमेय को ही उसका उपमान कल्पित किया जाता है।[१] भरत के भूषण लक्षण की धारणा के आधार पर भामह ने संसृष्टि अलंकार की रचना की है।[२] भरत के उदारता तथा अर्थव्यक्ति गुणों की धारणा के साथ अप्रत्यक्ष अर्थ-वर्णन की धारणा को कल्पित कर भामह ने भाविक अलंकार की कल्पना की है।[३]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भामह ने जिन अलंकारों की परिकल्पना की है उनमें से अधिकांश की उत्पत्ति भरत के मूल अलंकारों, लक्षणों तथा गुणों से हुई है। विभावना, यथासंख्य, समाहित, विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति आदि कुछ अलंकार भामह की स्वतन्त्र उद्भावना के प्रतीक हैं। रसवत् तथा अर्जस्वी अलंकारों का सम्बन्ध भरत की रस तथा भाव सम्बन्धी धारणा से है।[४] रसवत् रस से तथा अर्जस्वी दीप्तभाव से सम्बद्ध है। उदात्त अलंकार में भामह ने भरत के उदात्त गुण, गुणकीर्तन तथा अतिशय लक्षण के विधायक तत्त्वों का समन्वय कर दिया है।

आचार्य दण्डी ने अर्थालंकारों की चर्चा के पश्चात् अन्त में तृतीय परिच्छेद में शब्दालंकारों की चर्चा की है, उन्होंने केवल सभेद यमक, गोमूत्रिका आदि चित्रा-वन्ध तथा प्रहेलिका शब्दालंकारों का विवेचन किया है। उनके द्वारा स्वीकार किये गये अर्थालंकारों की संख्या ३५ है, जिनका उन्होंने शब्दशः परिगणन किया है—(१) स्वभावोक्ति (२) उपमा (३) रूपक (४) दीपक (५) आवृत्ति (६) आक्षेप अर्थान्तरन्यास (८) व्यतिरेक (९) विभावना (१०) समासोक्ति (११) अति-शयोक्ति (१२) उत्प्रेक्षा (१३) हेतु (१४) सूक्ष्म (१५) लेश (१६) यथासंख्य (१७) प्रेय (१८) रसवत् (१९) अर्जस्वि (२०) पर्यायोक्त (२१) समाधि (२२) उदात्त (२३) अपह्नुति (२४) श्लेष (२५) विशेष (२६) तुल्ययोगिता

---

१. (क) तुलनीय—यत्रोपमेयस्य एवोपमानता सेयं सदृशी······।
—**नाट्यशास्त्र** अभिनव भारती, पृ० ३२४।

(ख) **काव्यालंकार** (भामह) २।८५।

२. (क) अलंकारैर्गुणैश्च बहुभिर्यदलंकृतम्।
भूषणैरिव विन्यस्तैस्तद्भूषणमिति स्मृतम्॥
—**नाट्यशास्त्र** १६।५।

(ख) **काव्यालंकार** (भामह) ३।४९।

३. द्रष्टव्य—**वही**, ३।५३।

४. नहि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। —**नाट्यशास्त्र** ६, पृ० २७२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

(२७) विरोध (२८) अप्रस्तुतप्रशंसा (२९) व्याजस्तुति (३०) सहोक्ति (३१) निदर्शना (३२) परिवृत्ति (३३) आशीः (३४) संसृष्टि और (३५) भाविक ।[१]

शब्दालंकार--यमक तथा चित्रालंकार (चित्रबन्ध) एवं प्रहेलिका ।[२]

दण्डी ने भामह द्वारा निषेध किये गये अलंकारों--हेतु, सूक्ष्म, लेश, का भी स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त भामह ने जिन अलंकारों--प्रतिवस्तूपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, ससन्देह, उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव—को स्वतन्त्र अलंकार की पदवी प्रदान की थी, दण्डी ने उन्हें उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा के अङ्ग के रूप में मान्यता प्रदान की है। प्रतिवस्तूपमा उपमा का ही एक भेद माना गया है। अनन्वय को असाधारणोपमा की संज्ञा से उपमा-भेद माना गया है। उपमेयोपमा को अन्योपमा के नाम से अभिहित कर उपमा भेद स्वीकार किया गया है। ससंदेह को संशयोपमा कहकर उपमा के ही भेद में समाविष्ट कर लिया गया है। इस प्रकार प्रतिवस्तूपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, ससंदेह उपमा के ही भेद प्रपञ्च माने गये हैं। उपमारूपक रूपकालंकार में अन्तर्भूत होकर उसका ही एक प्रकार बन गया है और उत्प्रेक्षावयव भी उत्प्रेक्षा का भेदमात्र मान लिया गया है।[३]

उपर्युक्त अर्थालंकारों के अतिरिक्त आचार्य दण्डी ने वैदर्भ मार्ग के प्रसंग में प्रथम परिच्छेद में अनुप्रास[४] का तथा तृतीय परिच्छेद में दोष और चित्रबन्ध आदि के साथ यमक का विस्तृत परिचय अवश्य दिया है, किन्तु दोनों प्रसंगों में उन्होंने

---

१. स्वभावाख्यानमुपमा रूपकं दीपकावृत्ती ।
आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना ॥
समासातिशयोत्प्रेक्षा हेतुः सूक्ष्मो लवः क्रमः ।
प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम् ॥
उदात्तापह्नुतिश्लेष विशेषास्तुल्ययोगिता ।
विरोधाप्रस्तुतस्तोत्रे व्याजस्तुतिनिदर्शने ॥
सहोक्ति परिवृत्त्याशीः संसृष्टिरथ भाविकम् ।
इति वाचामलंकारा दर्शिताः पूर्वसूरिभिः ॥ —**काव्यादर्श** २।४–७ ।

२. (क) द्रष्टव्य---**काव्यादर्श** ३।१–७७ ।
(ख) **वही**, ३।७८–८९ । (ग) ३।९६–१०६ ।

३. (क) अनन्वयससंदेहावुपमास्वेव दर्शितौ ।
उपमारूपकं चापि रूपकेष्वेव दर्शितम् ॥
उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोऽपि च ।
—**काव्यादर्श** २।३५८–३५९ ।

(ख) वस्तु किंचिदुपन्यस्य न्यसनात्तत्सधर्मणः ।
साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा ॥ —**वही** २।४६ ।

४. **काव्यादर्श** १।५२, ५३, ५५ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकार शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि पूर्वाचार्य (भामह) के अनुरोध से अनुप्रास और यमक का विवेचन करते हुए भी उन्होंने उनके अलंकारत्व के प्रति अरुचि प्रकट की है। इस प्रकार आचार्य दण्डी ने भामह द्वारा स्वीकृत अर्थालंकारों में से उपमारूपक, उपमेयोपमा, ससंदेह,अनन्वय तथा उत्प्रेक्षावयव अलंकारों को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में मान्यता प्रदान नहीं की है। शेष (भामह द्वारा स्वीकृत) अर्थालंकारों को स्वीकार करते हुए आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म और लव (लेश) नामक नवीन अलंकारों की उद्भावना की है। अलंकार की विविधता की कल्पना का बीज पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों में है—इस तथ्य को दण्डी ने स्पष्टतः स्वीकार किया है।[१] भरत के **नाट्यशास्त्र** में वर्णित अलंकार और लक्षण आदि का जो स्वरूप भामह के **काव्यालंकार** में विविध अलंकार-प्रपंच के रूप में विकसित हुआ था, उसी को दण्डी के **काव्यादर्श** में थोड़ा और विकास प्राप्त हुआ है।

अग्निपुराणकार ने शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार भेद से अलंकारों के तीन प्रकार माने हैं। उनके अनुसार शब्दालंकार नौ हैं--(१) छाया, (२) मुद्रा, (३) उक्ति, (४) युक्ति, (५) गुम्फना, (६) वाकोवाक्य, (७) अनुप्रास, (८) चित्र और (९) दुष्कर।[२]

अर्थालंकार ८ हैं—(१) स्वरूप, (२) सादृश्य, (३) उत्प्रेक्षा, (४) अतिशय, (५) विभावना, (६) विरोध, (७) हेतु और (८) सम।[३] पुराणकार का सादृश्य अलंकार एक व्यापक अलंकार है, जिसमें उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थान्तरन्यास अलंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है।[४]

शब्दार्थालंकार ६ हैं--(१) प्रशस्ति, (२) कान्ति, (३) औचित्य, (५) संक्षेप, (५) यावदर्थता और (६) अभिव्यक्ति।[५]

अग्निपुराणकार की शब्दालंकार-धारणा प्राचीन आचार्यों की धारणा से मिलती-जुलती है। अनुप्रास तथा यमक के भेदों का विवेचन प्राचीन पद्धति पर ही किया गया है। चित्र अलंकार के प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्तपद, च्युतपद, दत्तपद, च्युत-

---

१. किंतु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः ॥ --**काव्यादर्श**, २।२।

२. **अग्निपुराण** ३४२।१८-२०, पृ० ६९७।

३. **अग्निपुराण** ३४४।२½, पृ० ७०२।

४. सादृश्यं धर्मसामान्यमुपमा रूपकं तथा।
सहोक्त्यर्थान्तरन्यासाविति स्यात्तुचतुर्विधः ॥
--**वही** ३४४।५, पृ० ७०३।

५. **वही** ३४५।२, पृ० ७०५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

दत्तपद और समस्या सात भेद किये गये हैं।[1] बन्धों का उल्लेख चित्र से स्वतन्त्र रूप में किया गया है, जबकि दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने चित्र के ही सन्दर्भ में विभिन्न बन्धों की कल्पना की थी। भरत, भामह, दण्डी आदि आचार्यों की तत्-तत् अलंकारों की धारणा के आधार पर अग्निपुराणकार ने अर्थालंकारों का लक्षण-निरूपण किया है। दण्डी की अलंकार-धारणा का उन पर सर्वाधिक प्रभाव है। अग्निपुराणकार की शब्दार्थालंकार-धारणा सबसे विलक्षण है। परवर्ती भोजराज ने कान्ति, प्रशस्ति, औचित्य आदि के स्वरूप पर काव्यगुण के रूप में विवेचन किया है किन्तु अग्निपुराणकार ने शब्दालंकार माना हैं। इनके द्वारा स्वीकृत छः शब्दालंकारों में से एक भी काव्यशास्त्र में अलंकार के रूप में मान्य नहीं हो सका। शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थगत अलंकार-वर्गों में किसी भी नवीन अलंकार की उद्भावना **अग्निपुराण** में नहीं हो सकी है।

काव्यालंकारसारसंग्रह के लेखक आचार्य उद्भट ने ४ शब्दालंकारों[2] तथा ३७ अर्थालंकारों[3] को स्वीकार किया है। आचार्य भटोद्भट ने आचार्य भरत एवं भामह

---

१. गोष्ठयां कुतूहलाधायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते।
प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तं च्युतं दत्तं तथोभयम्॥
समस्या सप्त तद्भेदा नानार्थस्यानुयोगतः॥
—**अग्निपुराण** ३४३।२२½।

२. पुनरुक्तवदाभासश्छेकानुप्रास एव च।
अनुप्रासस्तथास्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः॥
—**काव्यालंकारसारसंग्रह** १।१।

३. उपमा दीपकं चैव प्रतिवस्तूपमा तथा।
इत्येत एवालंकारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः॥ —**वही** १।२।
आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।
समासातिशयोक्ति चैत्यलंकारान् परे विदुः॥ —**वही** २।१।
यथा संख्यमथोत्प्रेक्षां स्वभावोक्ति तथैव च।
अपरे त्रीनलंकारान् गिरामाहुलंकृतौ॥ —**वही** ३।१।
प्रेयोरसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्।
द्विधोदात्तं तथा श्लिष्टमलंकारान् परे विदुः॥
—**काव्यालंकारसारसंग्रह** ४।१।
अपह्नुतिं विशेषोक्तिं विरोधं तुल्ययोगिताम्।
अप्रस्तुतप्रशंसां च व्याजस्तुतिनिदर्शने॥ —**वही** ५।२।
उपमेयोपमां चैव सहोक्तिं संकरं तथा।
परिवृत्तिं च जगदुरलंकारान् परेगिराम्॥ —**वही** ५।२।
अनन्वयं ससंदेहं संसृष्टिं भाविकं तथा।
काव्यदृष्टान्तहेतू चेत्यलंकारान् परे विदुः॥ —**वही** ६।१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

द्वारा उल्लिखित एवं स्वीकृत यमक शब्दालंकार की कोई चर्चा नहीं की है। उन्होंने अनुप्रास शब्दालंकार को स्वीकार करते हुए छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास तथा पुनरुक्त-वदाभास इन शब्दालंकारों की उद्भावना की है। अर्थालंकारों के प्रसंग में उन्होंने भामह, दण्डी द्वारा स्वीकृत उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव, आवृति, आशी, सूक्ष्म, लेश, हेतु, अलंकारों को स्वीकार नहीं किया है। प्रतिवस्तूपमा को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में मान्यता दी है। इनके अतिरिक्त काव्यलिंग, दृष्टान्त और संकर नामक नवीन अर्थालंकारों की उद्भावना की है। उनके द्वारा यमक अलंकार का उल्लेख नहीं किये जाने का कारण अनुप्रास के साथ उसके स्वरूप का अतिशय साम्य ही प्रतीत होता है।

उद्भट द्वारा काव्यालंकारसारसंग्रह में विवेचित अलंकार इस प्रकार हैं—

शब्दालंकार—(१) पुनरुक्तवदाभास, (२) छेकानुप्रास, (३) अनुप्रास, (४) लाटानुप्रास।

अर्थालंकार—(१) रूपक, (२) दीपक, (३) उपमा, (४) प्रतिवस्तूपमा, (५) आक्षेप, (६) अर्थान्तरन्यास, (७) व्यतिरेक, (८) विभावना, (९) समासोक्ति, (१०) अतिशयोक्ति, (११) यथासंख्य, (१२) उत्प्रेक्षा, (१३) स्वभावोक्ति, (१४) प्रेय, (१५) रसवत्, (१६) ऊर्जस्वी, (१७) पर्यायोक्त, (१८) समाहित, (१९) उदात्त, (२०) श्लिष्ट, (२१) अपह्नुति, (२२) विशेषोक्ति, (२३) विरोध, (२४) तुल्ययोगिता, (२५) अप्रस्तुतप्रशंसा, (२६) व्याजस्तुति, (२७) निदर्शना, (२८) संकर, (२९) उपमेयोपमा, (३०) सहोक्ति, (३१) परिवृत्ति, (३२) ससन्देह, (३३) अनन्वय, (३४) संसृष्टि, (३५) भाविक, (३६) काव्यलिंग तथा (३७) दृष्टान्त। +4

आचार्य वामन ने यमक तथा अनुप्रास दो शब्दालंकारों[1] तथा २९ अर्थालंकारों[2] को स्वीकार किया है, जो इस प्रकार हैं—१. उपमा २. रूपक ३. दीपक ४. आक्षेप ५. अर्थान्तरन्यास ६. व्यतिरेक ७. विभावना ८. समासोक्ति ९. अतिशयोक्ति १०. उत्प्रेक्षा ११. क्रम १२. समाहित १३. अपह्नुति १४. श्लेष १५. विशेषोक्ति १६. तुल्ययोगिता १७. विरोध १८. अप्रस्तुतप्रशंसा १९. व्याजस्तुति २०. निदर्शना २१. सहोक्ति २२. परिवृत्ति २३. प्रतिवस्तूपमा २४. उपमेयोपमा २५. संदेह २६ अनन्वय २७. संसृष्टि २८. व्याजोक्ति और २९ वक्रोक्ति।

---

१. (क) काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४।१।१, पृ० ३७।
(ख) काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४।१।८, पृ० ४०।

२. वही ४।२।१–४।३।३२, पृ० ४२–५९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य वामन ने भामहादि पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत अनुप्रास तथा यमक (शब्दालंकारों) को स्वीकार करते हुए भटोद्भट द्वारा उद्भावित पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास को मान्यता प्रदान नहीं की। अर्थालंकारों में से (भामह आदि द्वारा स्वीकृत) आवृत्ति, आशीः, ऊर्जस्वि, काव्यलिंग, दृष्टान्त, पर्यायोक्त, प्रेय, भाविक, रसवत्, हेतु, लेश, समाधि, संकर, समाहित, सूक्ष्म और स्वभावोक्ति को अस्वीकार कर दिया है तथा उपमारूपक एवं उत्प्रेक्षावयव को संसृष्टि के भेद के रूप में माना है। शेष अर्थालंकारों को स्वीकार करते हुए व्याजोक्ति और वक्रोक्ति नामक दो नवीन अर्थालंकारों को उद्भावित किया है। यद्यपि वक्रोक्ति शब्द नवीन नहीं है, भामह ने वक्रोक्ति को अलंकारों का प्राण कहा था। किन्तु उनकी वक्रोक्ति का अर्थ अतिशयोक्ति से मिलता-जुलता था।[1] वामन ने वक्रोक्ति को अलंकार-विशेष के रूप में स्वीकार कर विलक्षण धारणा प्रकट की है। उन्होंने सादृश्यमूला लक्षणा को वक्रोक्ति कहा है।[2]

आचार्य रुद्रट द्वारा स्वीकार किये गये शब्दालंकारों की संख्या ५ है[3]— १. वक्रोक्ति २. अनुप्रास ३. यमक ४. श्लेष और ५. चित्र। अर्थालंकारों में मूलतः— वास्तव, औपम्य अतिशय और श्लेष[4] इन चार अलंकार वर्गों को मानते हुए समस्त अलंकारों को इनके भेदों के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार उनके द्वारा स्वीकार किये गये अर्थालंकार निम्नलिखित चार वर्गों में प्रस्तुत किये गये हैं—

(क) वास्तव वर्ग—१. सहोक्ति २. समुच्चय ३. जाति (स्वभावोक्ति) ४. यथासंख्य ५. भाव ६. पर्याय ७. विषम ८. अनुमान ९. दीपक १०. परिकर ११. परिवृत्ति १२. परिसंख्या १३ हेतु १४. कारणमाला १५. व्यतिरेक १६. अन्योन्य १७. उत्तर १८. सार १९. सूक्ष्म २०. लेश २१. अवसर २२. मीलित और २३. एकावली।[5]

(ख) औपम्य वर्ग—१. उपमा २. उत्प्रेक्षा ३. रूपक ४. अपह्नुति ५. संशय ६. समासोक्ति ७. मत ८. उत्तर ९. अन्योक्ति १०. प्रतीप ११. अर्थान्तरन्यास १२. उभयन्यास १३. भ्रान्तिमान् १४. आक्षेप १५. प्रत्यनीक १६. दृष्टान्त १७. पूर्व १८. सहोक्ति १९. समुच्चय २०. साम्य और २१. स्मरण।[6]

---

१. **काव्यालंकार** (भामह) २।८५।

२. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। —**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** ४।३।८।

३. **काव्यालंकार** (रुद्रट) २।१३, पृ० ३७।

४. अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यतिशय श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥
—**वही** ७।९, पृ० १९०।

५. **वही** ७।११–१२, पृ० १९१। ६. **वही** ८।२–३, पृ० २४५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

(ग) **अतिशय वर्ग**—१. पूर्व २. विशेष ३. उत्प्रेक्षा ४. विभावना ५. तद्गुण ६. अधिक ७. विरोध ८. विषम ९. असंगति १०. पीहित ११. व्याघात और १२. अहेतु।[१]

(घ) **श्लेष वर्ग**—१. अविशेष २. विरोध ३. अधिक ४. वक्र ५. व्याज ६. उक्ति ७. असम्भव ८. अवयव ९. तत्त्व और १०. विरोधाभास।[२]

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त उन्होंने अनेक अलंकारों के मिश्रण को स्वतन्त्र अलंकार न मानकर व्यक्तसंकर और अव्यक्त संकर नाम दिए हैं।[३]

आचार्य रुद्रट ने भामह आदि पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकार किये गये अनुप्रास और यमक शब्दालंकारों को उसी रूप में मान्यता देते हुए वामन के द्वारा अर्थालंकार के रूप में परिगणित वक्रोक्ति को भी शब्दालंकार की कोटि में समाविष्ट कर दिया है, साथ ही उन्होंने श्लेष अलंकार (जिसका परिगणन भामह आदि ने अर्थालंकार में किया है) के एक अंश (शब्द-श्लेष) को शब्दालंकारों में स्वीकार किया है। उन्होंने भामह, उद्भट, वामन आदि द्वारा स्वीकार किये गये अनन्वय, अप्रस्तुत-प्रशंसा, उपमेयोपमा, उपमारूपक, आवृत्ति, उत्प्रेक्षावयव, उदात्त, समाधि, समाहित, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगिता, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, भाविक अलंकारों की चर्चा नहीं की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वभावोक्ति को जाति, पर्यायोक्त को पर्याय, संसृष्टि को व्यक्तसंकर और संकर को अव्यक्त संकर तथा व्याजस्तुति और व्याजोक्ति को व्याज नाम दिया है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि रुद्रट ने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकार किये गये अतिशय और श्लेष (अर्थश्लेष) को मूल अलंकार मानकर उनके उपर्युक्त प्रकार से अनेक भेद कर दिये हैं। इन दोनों अलंकारों के विभिन्न भेदों में विभक्त हो जाने के कारण यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अतिशय और अर्थश्लेष को स्वतन्त्र रूप से नहीं माना है। शब्दालंकारों में छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास की अनुप्रास से पृथक् गणना नहीं की है। शब्दालंकार के क्षेत्र में वक्रोक्ति की अवतारणा सर्वप्रथम रुद्रट के **काव्यालंकार** में हुई है।

आचार्य रुद्रट ने जिन नवीन अलंकारों की उद्भावना की है, वे निम्नलिखित हैं—अधिक, अनुमान, अन्योक्ति, अन्योन्य, अवयव, अवसर, विशेष, असंगति, असम्भव, अहेतु, उक्ति, उत्तर, उभयन्यास, एकावली, कारणमाला, तत्त्व, तद्गुण, परिकर, परिसंख्या, पिहित, पूर्व, प्रतिषेध, प्रत्यनीक, भाव, भ्रान्तिमान्, मीलित, मत, विरोधाभास, विषम, व्याघात, साम्य, समुच्चय, सार, स्मरण, और वक्र।

---

१. **काव्यालंकार** (रुद्रट) ९।२, पृ० ३०३। २. **वही** १०।२, पृ० ३२७।
३. योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात्संकर उत्पद्यते द्वेधा॥
—**वही** १०।२५, पृ० ३४२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उपर्युक्त अलंकारों में से उन्होंने अधिक, उत्तर, उत्प्रेक्षा, सहोक्ति, समुच्चय, पूर्व, विरोध तथा विषम अर्थालंकारों को दो-दो वर्गों में रखा है। स्मरणीय है कि रुद्रट को रसवदादि की कल्पना कर उसमें रस जैसे काव्य-तत्त्व को सीमित कर देना युक्ति-सगत नहीं प्रतीत हुआ होगा इसीलिये उन्होंने रसवदादि अलंकार की सत्ता अस्वीकार कर दी। **काव्यालंकार** के बारहवें से १६वें अध्याय तक रस का विस्तृत विवेचन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। रुद्रट ने सर्वप्रथम शब्दगत एवं अर्थगत श्लेष का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है।

आचार्य कुन्तक ने काव्य में रहने वाले समस्त चारुत्वाधायक तत्त्वों को वक्रोक्ति संज्ञा प्रदान की है, जो (वक्रोक्ति) इनसे पूर्व एक अलंकारविशेष के रूप में स्वीकार की जाती रही है। उनके द्वारा स्वीकार किये गये निम्नलिखित अलंकार वाक्यवक्रता के भेद मात्र हैं—१. रसवत् २. दीपक ३. रूपक ४. अप्रस्तुतप्रशंसा ५ पर्यायोक्त ६. उत्प्रेक्षा ७. अतिशयोक्ति, ८. उपमा ९. श्लेष १०. व्यतिरेक ११. सहोक्ति १२ दृष्टान्त १३ अर्थान्तरन्यास १४ आक्षेप १५. विभावना १६. सन्देह १७. अपह्नुति और १८. संसृष्टि।

यहाँ स्मरणीय है कि आचार्य कुन्तक ने भामह आदि (दण्डी, उद्भट) के रसवदादि (रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, उदात्त और समाहित) अलंकारों की अलंकारता का खण्डन[1] करके रस के समान आह्लाददायक अलंकार को रसवत् सज्ञा दी है[2] और प्रेयान् आदि अलंकारों का पृथक् उल्लेख न करके उन्हें रसवत् अलंकार में ही समाहित कर दिया है। इसके अतिरिक्त वे प्रतिवस्तूपमा,[3] उपमेयोपमा,[4] तुल्ययोगिता[5]

---

१. अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि॥
—**वक्रोक्तिजीवित्** ३।११, पृ० ३३८।

२. (क) रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्वविधानतः।
योऽलकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः॥
—**वही** २।१५, पृ० ३८३।

(ख) अयं रसवतां सर्वालंकाराणां चूडामणिरिवाभति।
—**वही**, ३।१६ पृ० ३९०।

३. समानवस्तुन्यासोपनिबधना प्रतिवस्तूपमापि न पृथक् वक्तव्यतामर्हति॥
—**वहीवृत्ति** ३।३१, पृ० ४३९।

४. सामान्या न व्यतिरिक्ता लक्षणानन्यथास्थितेः॥
—**वही** ३।३२, पृ० ४४१।

५. तथैव तुल्ययोगिता सा भवत्युपमास्फुटा॥ —**वही** ३।३२, पृ० ४४१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अनन्वय[1] निदर्शना और परिवृत्ति[2] अलंकारों को उपमा में अन्तर्भूत मानते हैं, अलग अलंकार नहीं। उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त इन्होंने भामह आदि पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकार किये गये यथासंख्य,[3] आशी:,[4] विशेषोक्ति,[5] हेतु,[6] सूक्ष्म और लेश अलंकारों का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है।[7] कुन्तक ने समासोक्ति अलंकार का अन्तर्भाव श्लेष में मान लिया है।[8]

सरस्वती कण्ठाभरण के रचयिता भोजराज ने अलंकारों को तीन वर्गों में विभक्त किया है—१ शब्दालंकार २. अर्थालंकार और ३. शब्दार्थालंकार। उन्होंने २४ शब्दालंकारों[9], २४ अर्थालंकारों[10] और २४ शब्दार्थालंकारों[11] का उल्लेख किया है।

---

१. पूर्वाचार्यों के लक्षण के आधार पर अनन्वय को कल्पितोपमान उपमा रूप ही मानते हैं, अलग अलंकार नहीं।

२. (क) रूपान्तरनिरोधेषु पुनः साम्यसद्भावे भवत्युपमितिरेषा चालंकृति समुचिता उपमा पूर्ववदेव ॥ **—वही, वृत्ति** ३।३३ पृ० ४४६।

(ख) विनिवर्तनमेकस्य यत् तदन्यस्य वर्तनम्।
न परिवर्तनमानत्वादुभयोरत्र पूर्ववत् ॥

—वही ३।३३, पृ० ४४५।

३. **वही** पृ० ४७८–४७९। ४. **वही** पृ० ४८०।

५. **वही** पृ० ४८०। ६. **वही** पृ० ४८१।

७. (क) भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा।
अलंकारास्तु ये केचित् नालंकारतयामनाक् ॥

—वही ३।४४, पृ० ४७८।

(ख) ये पूर्वोक्त व्यतिरिक्ताः केचिदलंकारास्तेऽलंकारतया मनाङ्।
न विभूषणत्वेनाभ्युपगताः। केन हेतुना भूषणान्तरभावेन ॥

—वही, वृत्ति ३।४४, पृ० ४७८।

८. **वही**, पृ० ४४९–४५३।

९. जातिर्गती रीतिवृत्तिच्छायामुद्रोक्तियुक्तयः।
भणिति गुंम्फना शैय्यापटितियर्मकानि च ॥
श्लेषानुप्रासचित्राणि वाकोवाक्यं प्रहेलिका।
गूढ़प्रश्नोत्तराध्येयश्रव्यप्रेक्ष्याभिनीतयः ॥

— सरस्वतीकण्ठाभरण २।३–४, पृ० १४०।

१०. जातिर्विभावना हेतुरहेतुः सूक्ष्ममूत्तरम्। विरोधः सम्भवोऽन्योन्येपरिवृत्ति-र्निदर्शना। भेदः समाहितं भ्रान्तिर्वितर्कोमीलितं स्मृतिः।
भावः प्रत्यक्षपूर्वाणि प्रमाणानि च जैमिनेः ॥ **—वही** ३।२–३, पृ० ३३७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

(क) शब्दालंकार—१. जाति २. गति ३. रीति ४. वृत्ति ५. छाया ६. मुद्रा ७. उक्ति ८. युक्ति ९. भणिति १०. गुम्फना ११. शय्या १२. पटिति १३. यमक १४. श्लेष १५. अनुप्रास १६. चित्र १७. वाकोवाक्य १८. प्रहेलिका १९. गूढ २०. प्रश्नोत्तर २१ अध्येय २२. श्रव्य २३. प्रेक्ष्य और २४ अभिनय।

(ख) अर्थालंकार—१. जाति २. विभावना ३. हेतु ४ अहेतु ५. सूक्ष्म ६. उत्तर ७. विरोध ८. संभव ९. अन्योन्य १० परिवृत्ति ११. निदर्शन १२. भेद (व्यतिरेक) १३. समाहित १४. भ्रान्ति १५. वितर्क १६. मीलित १७. स्मृति १८. भाव १९. प्रत्यक्ष २०. अनुमान २१. उपमान २२. शब्द २३. अर्थापत्ति और अभाव।

(ग) उभयालंकर—१. उपमा २. रूपक ३. साम्य ४. संशयोक्ति ५. अपह्नुति ६. समाध्युक्ति ७. समासोक्ति ८. उत्प्रेक्षा ९. अप्रस्तुतस्तुति १०. तुल्ययोगिता ११. लेश १२. सहोक्ति १३. समुच्चय १४. आक्षेप १५. अर्थान्तरन्यास १६ विशेष १७. परिष्कृति (परिकर) १८. दीपक १९. क्रम २०. पर्याय २१. अतिशय २२. श्लेष २३. भाविक और २४. संसृष्टि।

भोजराज द्वारा स्वीकार किये गये शब्दालंकारों में से छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाकोवाक्य, अनुप्रास और चित्र अलंकारों का **अग्निपुराण** में शब्दतः उल्लेख मिलता है, तथा प्रश्न, प्रहेलिका और गूढ़ का (गुप्त नाम से) उल्लेख 'चित्र' नामक शब्दालकार के भेदों के रूप में मिलता है। जिस प्रकार पुराणकार ने 'जाति' को 'स्वरूप' नाम से स्वीकार करते हुए उसे अर्थालंकारों में प्रथम स्थान दिया है, उसी प्रकार भोजराज ने भी 'जाति' अलकार को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार-दोनों वर्गों में रखते हुए उसे प्रथम स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त भोजराज ने रीति, वृत्ति और यमक अलंकारों का स्वतंत्र रूप से वर्णन किया है, जबकि पुराणकार ने इन्हें अनुप्रास अलंकार के भेदोपभेद के रूप में स्वीकार किया है। साथ ही उन्होने

पूर्व पृष्ठ की पाद टिप्पणी

३. उपमारूपकं साम्यं संशयोक्तिरपह्नुतिः।
समाध्युक्तिः समासोक्तिरुत्प्रेक्षाऽप्रस्तुतस्तुतिः॥
स तुल्ययोगितोल्लेखः ससहोक्तिः समुच्चयः।
साक्षेपोऽर्थान्तरन्यासः स विशेषापरिष्कृतिः॥
दीपकक्रमपर्यायातिशयश्लेषभाविकाः।
संसृष्टिरितिनिर्दिष्टास्ताश्चतुर्विंशतिर्बुधैः॥ **वही** ४१२, ३, ४ पृ० ३९७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

श्लेष को[1] भरत और पुराणकार[2] की भाँति गुणों के मध्य में न मानकर भामह, दण्डी आदि आलंकारिकों की भाँति उसे स्वतंत्र अलंकार मानकर शब्दालंकार वर्ग में परिगणित किया है।

गति, भगिति, शैय्या, पठिति, उत्तर, उध्येय श्रव्य, प्रेक्ष्य और अभिनय शब्दालंकार भोज द्वारा स्वीकृत स्वतंत्र अलंकार हैं, किन्तु इन्हें परवर्ती आलंकारिकों में से किसी ने भी अलंकार के रूप में मान्यता प्रदान नहीं की है।

उपर्युक्त २४ अर्थालंकारों में से प्रत्यक्ष आदि ६ ऐसे अलंकार हैं, जिन्हें तर्कशास्त्र की भाषा में प्रमाण कहा जाता है। 'वितर्क' (जो न्यायशास्त्र का एक तत्त्व है) को भोज ने एक स्वतंत्र अलंकार के रूप में मान्यता दी है। इस प्रकार उन्होंने सम्भव, भेद, वितर्क, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम (शब्द), अर्थापत्ति और अभाव इन नवीन अलंकारों की उद्भावना की है। 'अनुमान' को अलंकार के रूप में सर्वप्रथम मान्यता आचर्य रुद्रट ने दी। भोजराज द्वारा स्वीकृत उपर्युक्त अलंकारों का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने प्राचीन आचार्यों के कुछ अलंकारों को यथावत् स्वीकार कर लिया है, कुछ के सामान्य स्वरूप की धारणा पूर्ववर्ती आचार्यों से लेकर भी उनके कुछ नवीन भेदोपभेदों की कल्पना कर डाली है। भरत-कृत कुछ लक्षणों के स्वरूप के आधार पर दण्डी के गुण-स्वरूप के आधार पर तथा दार्शनिक तथ्यों के आधार पर नवीन अलंकारभेदों की विवेचना की है और कुछ प्राचीन अलंकारों को ही नवीन नाम दे दिये हैं और कुछ अलंकारों में अन्य का अन्तर्भाव करके त्रिविध वर्गों में संख्यागत एकरूपता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

आचार्य मम्मट ने अलंकारों को तीन वर्गों में विभाजित किया है--१ शब्दालंकार २. अर्थालंकार ३. शब्दार्थालंकार। यद्यपि इन्होंने अलंकारों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भोजराज का ही शब्दान्तर से अनुगमन किया है तथापि इन वर्गों में समाहित अलंकारों के सम्बन्ध में भिन्नता लक्षित होती है।

---

१. श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यभोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणाः दशैते ॥

—**नाट्यशास्त्र** १७। ९६...

२. ......शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं यः स तद्गुणः।
श्लेषो लालित्ययगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता।

—**अग्निपुराण** ३४६।५। पृ० ७०७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

मम्मटाचार्य ने ६ शब्दालंकार,[1] ६१ अर्थालंकार[2] तथा एक शब्दार्थालंकार स्वीकार किया है। मम्मट ने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार के रूप में स्वीकार करके पुनः उसे स्वतंत्र रूप से शब्दार्थालंकार के रूप में भी मान्यता प्रदान की है। उन्होंने भामह, रुद्रट आदि आचार्यों द्वारा माने गये निम्नलिखित अलंकारों को स्वीकार नहीं किया है—१. आशीः २. अवृत्ति ३. उत्प्रेक्षावयव, ४. उन्मीलित ५. उपमारूपक ६. अन्योक्ति ७. परिष्कृति ८. अभाव ९. अर्थापत्ति १०. अवयव ११. अवसर १२. असम्भव १३. अहेतु १४. आगम १५. विशेष १६. उक्ति १७. उपमान १८. उभयन्यास १९. ऊर्जस्वि २०. तत्त्व २१. पूर्व २२. प्रेय २३. भाव २४. भेद

१. वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेषचित्रके।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकृतयस्तुषट्॥
—**काव्यप्रकाश** (सोमेश्वरकृत टीका) ९।१ पृ० ४०१।

२. उपमानन्वयस्तावदुपमेयोपमा ततः।
उत्प्रेक्षा च ससंदेहो रूपकापह्नुती तथा॥
अप्रस्तुतप्रशंसातिशयोक्तिः परिकीर्त्तिते।
श्लेषस्तथा समासोक्ति प्रोक्ता चैव निदर्शना॥
प्रतिवस्तूपमा तद्वद् दृष्टान्तो दीपकं तथा।
तुल्ययोगिता चैव व्यतिरेक प्रकीर्त्तितः॥
आक्षेपो विभावना च विशेषोक्तिस्तथैव च।
यथासंख्यमर्थान्तरन्यास स्यातां विरोधवत्॥
स्वभावोक्तिस्तथाव्याज स्तुतिः प्रोक्तासहोक्तिवत्।
विनोक्तिपरिवृत्ति च भाविकंकाव्यलिंगवत्॥
पर्यायोक्तमुदात्तं च समुच्चय उदीरितः।
पर्यायश्चानुमानं च प्रोक्तःपरिकरस्तथा॥
व्याजोक्तिपरिसंख्ये च विज्ञेयेहेतुमालया।
अन्योन्यमुत्तरं सूक्ष्म सारौं तद्वदसंगति॥
समाधिस्तु समेनस्याद्विषमस्त्वधिकेन च।
प्रत्यनीकं मीलितं च स्यातामेकावलीस्मृति॥
भ्रान्तिमानस्तु प्रतीपेन सामान्यं च विशेषवत्।
तद्गुणातद्गुणौ चैव व्याघात प्ररिकीर्तितः॥
संसृष्टिसंकारौ चैवमेकषष्टिरुदीरिताः॥
—**काव्यप्रदीप** (गोविन्दठक्कुर) पृ० ३०७–३०८।

३. पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम्॥
—**काव्यप्रकाश** ९।८६, पृ० ४३८–३९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

२५. मत २६. रसवत् २७. लव (लेश) २८. वस्तु-दीपक २९. वितर्क ३०. ऐतिह्य, ३१. विरोध ३२. समाहित और ३३ हेतु। सामान्य:, अतद् गुण और विनोक्ति नामक नवीन अलंकारों की उद्भावना की है। दण्डी द्वारा दीपक के भेद रूप में स्वीकृत माला दीपक को आचार्य मम्मट ने दीपक से पृथक् स्वतन्त्र अलंकार के रूप में मान्यता दी है।[1] विनोक्ति अलंकार के स्वरूप की कल्पना की प्रेरणा कदाचित् सहोक्ति के स्वरूप से प्राप्त हुई मानी जा सकती है। सहोक्ति में एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु का वर्णन होता है, विनोक्ति में एक के अभाव में दूसरे की स्थिति का वर्णन होता है। विशेष अलंकार के विपरीत सामान्य नामक नवीन अलंकार की कल्पना की प्रेरणा विशेष अलंकार से मानी जा सकती है। अतद्गुण का स्वरूप तद्गुण के वैपरीत्य के रूप में कल्पित किया गया है। मम्मट ने रुद्रट की तद्गुण की धारणा को स्वीकार कर उसके विपरीत अतद्गुण संज्ञा से नवीन अलंकार की कल्पना कर ली होगी।

मम्मट ने जिन चार नवीन अलंकारों की कल्पना की है, उनका मूल भी पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न अलंकारों के स्वरूप में सहज रूप से देखा जा सकता है। स्पष्टतः अलंकार-विवेचन के क्षेत्र में नूतन अलंकार-उद्भावना की दृष्टि से मम्मट का अधिक महत्त्व नहीं है किन्तु विवेचन की प्रौढ़ता की दृष्टि से अलंकार-खण्डों का महत्त्व है।

आचार्य शौद्धोदनि ने शब्दालंकार और अर्थालंकार भेद से अलंकारों के दो वर्ग करते हुए ८ शब्दालंकारों[2] एवं १४ अर्थालंकारों[3] को स्वीकार किया है। इनके द्वारा स्वीकार किये गये शब्दालंकारों को देखने से ज्ञात होता है कि इन्होंने अपने ८ शब्दालंकारों (चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ़, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर और यमक) में से अग्निपुराणकार द्वारा चित्रालंकार के भेदों के रूप में स्वीकृत प्रश्न, गुप्त और प्रहेलिका को क्रमशः प्रश्नोत्तर, गूढ़ और प्रहेलिका नामों से मान्यता प्रदान

---

१. (क) इत्यादि दीपकत्वेऽपि पूर्वपूर्वव्यपेक्षिणी।
वाक्यमाला प्रयुक्तेति तन्मालादीपकं मतम्॥ **काव्यादर्श** २।१०८
(ख) मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम्। **काव्यप्रकाश** १०।१०४

२. चित्रवक्रोक्त्यनुप्रासगूढश्लेषप्रहेलिकाः।
प्रश्नोत्तर च यमकमष्टाऽलंकृतयो ध्वनी॥
—**अलङ्कारशेखर**, कारिका ४।१।१, पृ० २९।

३. उपमारूपकोत्प्रेक्षासमासोक्तिरपह्नुतिः।
समाहितं स्वभावश्च विरोधः सारदीपको।।—**वही** ४।२।१, पृ० ३२।
सहोक्तिरन्यदेशत्वं विशोपोक्तिविभावने।
एवं स्युरर्थालङ्काराश्चतुर्दश न चापरे।। —**वही** ४।२।२, पृ० ३२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

की है, जिन्हें इनसे पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने स्वीकार नहीं किया। अर्थालंकारों के प्रसंग में उन्होंने 'अन्यदेशत्व' नामक एक नवीन अलंकार की उद्भावना करते हुए भामह आदि पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत शेष सभी अर्थालंकारों को स्वीकार किया है।

आचार्य रुय्यक ने निम्नलिखित ४ शब्दालंकार, एक शब्दार्थालंकार तथा ७७ अर्थालंकार स्वीकार किये हैं।

शब्दालंकार—१. छेकानुप्रास, २. वृत्त्यनुप्रास, ३. यमक और ४. चित्र।

शब्दार्थालंकार—१. लाटानुप्रास।

अर्थालंकार—१. पुनरुक्तवदाभास, २. उपमा, ३. अनन्वय, ४. उपमेयोपमा, ५. स्मरण, ६. रूपक, ७. परिणाम, ८. संदेह, ९. भ्रान्तिमान्, १०. उल्लेख, ११. अपह्नुति, १२. उत्प्रेक्षा १३. अतिशयोक्ति, १४. तुल्ययोगिता, १५. दीपक, १६. प्रतिवस्तूपमा, १७. दृष्टान्त, १८. निदर्शना, १९. व्यतिरेक, २०. सहोक्ति, २१. विनोक्ति, २२. समासोक्ति, २३. परिकर, २४. श्लेष, २५, अप्रस्तुतप्रशंसा, २६. अर्थान्तरन्यास, २७. पर्यायोक्त, २८. व्याजस्तुति, २९. आक्षेप, ३०. विरोध, ३१. विभावना, ३२. विशेषोक्ति ३३. अतिशयोक्ति (कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलक) ३४. असंगति, ३५. विषम, ३६. सम, ३७. विचित्र, ३८. अधिक, ३९. अन्योन्य, ४०. विशेष, ४१. व्याघात, ४२. कारणमाला, ४३ एकावली, ४४. मालादीपक, ४५. सार, ४६. काव्यलिंग, ४७. अनुमान, ४८. यथासंख्य ४९. पर्याय, ५०. परिवृत्ति, ५१. परिसंख्या, ५२. अर्थापत्ति, ५३. विकल्प, ५४. समुच्चय, ५५. समाधि, ५६. प्रत्यनीक, ५७. प्रतीप, ५८. मीलित, ५९. सामान्य, ६०. तद्गुण, ६१. अतद्गुण, ६२. उत्तर, ६३. सूक्ष्म, ६४. व्याजोक्ति, ६५. वक्रोक्ति, ६६. स्वभावोक्ति, ६७. भाविक, ६८. उदात्त, ६९. रसवत्, ७०. प्रेय, ७१. ऊर्जस्वि, ७२. समाहित, ७३. भावोदय, ७४. भावसन्धि, ७५. भावशबलता, ७६, संसृष्टि और ७७. संकर।

पुनरुक्तवदाभास अलंकार को आचार्य उद्भट ने शब्दालंकार के रूप में और आचार्य मम्मट ने शब्दालंकार तथा 'शब्दार्थालंकार (उभयालंकार) के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य रुय्यक ने इसे अर्थालंकार की कोटि में मानते हुए कहा है कि अर्थ-पौनरुक्त्य पर आश्रित होने के कारण इसे अर्थालकार स्वीकार किया जाना चाहिए।[1] इसी प्रकार लाटानुप्रास अलंकार को उद्भट और मम्मट ने शब्दालंकार के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु आचार्य रुय्यक ने इसे उभयालंकार के रूप में मान्यता दी है। उनका कथन है कि लाटानुप्रास में अनेक शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति होती है।[2] इस आधार पर इस अलंकार को शब्दार्थालंकार (उभयालंकार) स्वीकार किया जाना चाहिए।

१. अर्थपौनरुक्त्यादेव अर्थाश्रितत्वात् अर्थालङ्कारत्वं ज्ञेयम्॥
—अलङ्कारसर्वस्व पृ० २५।

२. ...बहुतरशब्दार्थपौनरुक्त्याल्लाटानुप्रासत्वम्...॥—वही पृ० ३५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि आचार्य रुय्यक ने शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार नाम से अलंकारों का वर्गीकरण नहीं किया है। उनके द्वारा किये गये वर्गीकरण का आधार पौनरुक्त्य एवं औपम्य आदि हैं। सम्भवत: इसीलिए उन्होंने पुनरुक्त वदाभास को अर्थालंकार मानते हुए भी पौनरुक्त्याश्रित यमक, अनुप्रास आदि शब्दालंकारों के साथ अपने ग्रन्थारम्भ में परिगणित किया है।

आचार्य रुय्यक ने मम्मटाचार्य के द्वारा स्वीकार किये गये अर्थालंकारों में से केवल विरोधाभास के स्थान पर विरोध नाम देते हुए शेष को अविकल रूप से मान्यता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त मम्मट द्वारा अस्वीकार किये गये भामह, रुद्रट आदि पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, अर्थापत्ति अलंकारों को पुन: स्वीकार किया है, साथ ही इन्होंने विचित्र, विकल्प, परिणाम और उल्लेख नामक नवीन अलंकारों की उद्भावना की है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अलंकारों की स्वरूप–मीमांसा में रुय्यक अधिकांशत: मम्मट से सहमत हैं। इन्होंने अलंकार–विशेष के भेदोपभेदों के सरलीकरण का प्रयास किया है। अलंकारों के लक्षण को सरल सूत्रों में निवद्ध करना रुय्यक की विशेषता है।

वाग्भटालंकार के रचयिता वाग्भट (प्रथम) ने चार शब्दालंकार[1] और ३५ अर्थालंकार[2] स्वीकार किये हैं। इन्होंने आचार्य शौद्धोदनि द्वारा उद्भावित प्रश्नोत्तर नामक शब्दालंकार को अर्थालंकारों में से अन्यतम स्वीकार किया है, तथा वामन एवं रुय्यक द्वारा अर्थालंकार के रूप में स्वीकृत वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है। इसके अतिरिक्त इन्होंने रुद्रट द्वारा उद्भावित 'अवसर' नामक एक अर्थालंकार की प्रतिष्ठापना की है, शेष सभी अलंकारों के प्रसंग में सामान्यत: मम्मट आदि पूर्वाचार्यों का अनुसरण किया है।

---

१ चित्रवक्रोक्त्यनुप्रासो यमकं ध्वन्यलंक्रियाः ॥

—**वाग्भटालङ्कार** ४।२ (पूर्वार्ध), पृ० ३६।

२. अर्थालंकृतयो जातिरूपमा रूपकं तथा।

—**वही** ४।२ (उत्तरार्ध) पृ० ३६।

प्रतिवस्तूपमा भ्रान्तिमानाक्षेपोऽथ संशयः।
दृष्टान्तव्यतिरेको वापह्नुतितुल्ययोगिता ॥
उत्प्रेक्षार्थान्तरन्यास समासोक्तिविभावना।
दीपकातिशयो हेतु पर्यायोक्ति समाहितम् ॥
परावृत्तिर्यथासंख्यं विषमः स सहोक्तिकः।
विरोधोऽवसरः सारं संश्लेषश्च समुच्चयः ॥
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादेकावल्यनुमापि च।
परिसंख्या तथा प्रश्नोत्तरं संकर एव च ॥ —**वही** ४।२-६, पृ० ३६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य हेमचन्द्र ने निम्नलिखित ६ शब्दालंकार तथा २९ अर्थालंकार स्वीकार किये हैं—

शब्दालंकार—१. अनुप्रास, २. यमक, ३. चित्र, ४. पुनरुक्ताभास, ५. वक्रोक्ति और ६. (शब्द) श्लेष।

अर्थालंकार—१. अतिशयोक्ति, २. अपह्नुति, ३. उत्प्रेक्षा, ४. उपमा, ५. भ्रान्ति, ६. रूपक, ७. ससंदेह, ८. स्मृति, ९. अन्योक्ति, १०. अर्थान्तरन्यास, ११. निदर्शन, १२. दीपक, १३. पर्यायोक्ति, १४. व्यतिरेक, १५. व्याजस्तुति, १६. श्लेष, १७. समासोक्ति, १८. सहोक्ति, १९. अनुमान, २०. कारणमाला, २१. परावृत्ति (परिवृत्ति), २२. परिसंख्या, २३. आक्षेप, २४. विषम, २५. सम, २६. समुच्चय, २७. जाति (स्वभावोक्ति), २८. विरोध और २९. संकर।

आचार्य हेमचन्द्र ने उपर्युक्त जिन अलंकारों का विवेचन किया है, वे सभी मम्मट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत रहे हैं। श्लेष (शब्दश्लेप और अर्थ-श्लेष) अलंकार भामह, दण्डी, उद्भट, कुन्तक, भोज, रुय्यक और वाग्भट द्वारा केवल अर्थालंकार के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु आचार्य शौद्धोदनि ने इसे केवल शब्दालंकार (शब्द-श्लेष) माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने रुद्रट और मम्मट का अनुसरण करके इस अलंकार को शब्दालंकार (शब्द-श्लेप) और अर्थालंकार (अर्थश्लेष) के रूप में पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने केवल संकर अलंकार को स्वीकार किया है। संसृष्टि तथा संदेह-संकर को संकर का अंग माना है। स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में अलंकार विषयक कोई नवीन उद्भावना नहीं की है।

शोभाकर मित्र ने निम्नलिखित ६ शब्दालंकारों तथा १०४ अर्थालंकारों का वर्णन किया है।

शब्दालंकार—१. पुनरुक्तवदाभास २. यमक ३. छेकानुप्रास ४. वृत्यनुप्रास ५. लाटानुप्रास और ६. चित्र।

अर्थालंकार—१. अचिन्त्य २. अतिशयोक्ति (सादृश्यमूलक) ३. अतिशयोक्ति (कार्यकारणपौर्वापर्व विपर्ययमूलक) ४. अनन्वय ५. अनादर ६. अनुकृति, ७. अनुमान ८. अन्योन्य ९. अपह्नुति १०. अप्रस्तुतप्रशंसा ११. अभेद १२. अर्थान्तरन्यास १३. अर्थापत्ति १४. अवरोह १५. अशक्य १६. असंगति १७. असम १८ आक्षेप १९. आदर २०. आपत्ति, २१. उत्प्रेक्षा २२. उदात्त २३. उदाहरण २४. उद्भेद २५. उद्रेक २६. उपमा २७. उपमेयोपमा २८. कल्पितोपमा २९. उल्लेख ३०. क्रम ३१. क्रियातिपत्ति ३२. गूढ़ ३३. तद्गुण ३४. तन्त्र ३५. तुल्य ३६. तुल्ययोगिता ३७. दीपक ३८. दृष्टान्त ३९. निदर्शना ४०. नियम ४१. निश्चय ४२. परभाग ४३. परिकर ४४. परिणाम ४५. परिवृत्ति ४६. परिसंख्या ४७. पर्याय ४८. पर्यायोक्त ४९. प्रतिप्रसव, ५०. प्रतिभा ५१. प्रतिमा, ५२. प्रतिवस्तूपमा ५३. प्रतीप

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

५४. प्रत्यनीक ५५. प्रत्यादेश ५६. प्रत्यूह ५७. प्रसंग ५८. भाविक ५९. भ्रान्तिमान् ६०. मीलित ६१. रसवत् ६२. प्रेय ६३. ऊर्जस्वि ६४. रूपक ६५. वक्रोक्ति ६६. वर्धमानक ६७. विकल्प ६८. विकल्पाभास ६९. विचित्र ७०. वितर्क ७१. विधि ७२. विध्याभास ७३. विनोक्ति ७४. विनोद ७५. विपर्यय ७६. विभावना ७७ विरोध ७८. विवेक ७९. विशेष ८०. विशेषोक्ति ८१. विषम ८२. वैधर्म्य ८३ व्यतिरेक ८४. व्यत्यास ८५. व्याघात ८६. व्याजस्तुति ८७. व्याजोक्ति ८८. व्याप्ति ८९. व्यासंग ९०. श्रृंखला ९१. श्लेष ९२. संकर ९३. सन्देह ९४. सन्देहाभास ९५. समता ९६. सम ९७. समाधि ९८. समासोक्ति ९९. समुच्चय १००. सहोक्ति १०१. सूक्ष्म १०२. स्मृति १०३. स्वभावोक्ति और १०४. हेतु।

आचार्य शोभाकर मित्र ने भामह आदि पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकार किये गये निम्नलिखित अलंकारों को मान्यता नहीं दी है—

१. अभाव २. परिष्कृति ३. अधिक ४. अन्यदेशत्व ५. अवयव ६. अवसर ७. अविशेष ८. असम्भव ९. अहेतु १०. आवृत्ति ११. आशी: १२. उक्ति १३. उत्तर १४. उत्प्रेक्षावयव १५. उन्मीलित १६. उपमान १७. उपमारूपक १८. उभयन्यास १९. एकावली २०. ऐतिह्य २१. कारणमाला २२. काव्यलिंग २३. तत्त्व २४. पूर्व २५. पीहित २६. प्रत्यक्ष २७. प्रश्नोत्तर २८. भाव २९. प्रहेलिका ३०. भावशबलता ३१. भावोदय ३२: भावसन्धि ३३. भेद ३४. अतद्गुण ३५. अन्योक्ति ३६. मत ३७. मालादीपक ३८. लव (लेश) ३९. विरोधाभास ४०. संसृष्टि ४१. साम्य ४२. समाहित ४३. सामान्य ४४. सम्भव ४५. सार और १. शब्दश्लेष' (शब्दालंकार)।

आचार्य मित्र ने प्राचीन पूर्ववर्ती आचार्यों के गुण, लक्षण तथा अलंकार विशेष की धारणा के आधार पर जिन नवीन अलंकारों की कल्पना एवं उद्भावना की है, वे इस प्रकार हैं—१. अचिन्त्य २. अनादर ३, अनुकृति ४. अभेद ५. अवरोह ६. अशक्य ७. असम ८. आदर ९. आपत्ति १०. उदाहरण ११. उद्भेद १२. उद्रेक १३. कल्पितोपमा १४. क्रियात्निपत्ति १५, तन्त्र १६. तुल्य १७. नियम १८. निश्चय १९. फ़रभाग २०. प्रतिप्रसव २१. प्रतिभा २२. प्रतिमा २३. प्रत्यादेश २४. प्रत्यूह २५. प्रसंग २६. वर्धमानक २७. विकल्पाभास २८. विधि २९ विध्याभास ३०. विनोद ३१. विपर्यय ३२. विवेक ३३. वैधर्म्य ३४. व्यत्यास ३५. व्याप्ति ३६. व्यासंग ३७. श्रृंखला ३८. सन्देहाभास और ३९. समता।

उपर्युक्त अलंकारों में से निम्न अलंकारों का स्वतन्त्र अस्तित्व माना जा सकता है—१. असम २. विवेक ३. विनोद ४. विपर्यय ५. व्यत्यास और ६. समता।

शोभाकर मित्र द्वारा वर्णित उपर्युक्त अलंकारों की बढ़ी हुई संख्या को तथा विधि और विध्याभास, विकल्प और विकल्पाभास, सन्देह और सन्देहाभास, तुल्य

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

और तुल्ययोगिता, सम और समता आदि समान प्रतीत होने वाले अलंकारों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवत: वे अलंकारों की संख्या में वृद्धि के पक्षपाती रहे होंगे।

शोभाकर ने पूर्ववर्ती आचार्यों के अनेक अलंकारों के भेदोपभेदों को स्वीकार नहीं किया है। उनके अलंकार-विशेष के तत्तद् भेदों के आधार पर तत्तद् नवीन अलंकारों की उन्होंने कल्पना कर ली है। यथा भरत-स्वीकृत उपमा के कल्पिता भेद को लेकर कल्पितोपमा की गणना स्वतन्त्र अलंकार के रूप में कर ली गई है, अतिशयोक्ति के यद्यर्थोक्त-कल्पन-भेद को क्रियातिपत्ति नाम से स्वतन्त्र अलंकार माना है। अभेद अलंकार वस्तुत: पूर्ववर्ती आचार्यों का रूपक का ही एक भेद है। कुछ प्राचीन अलंकार शोभाकर ने नवीन व्यपदेश रूप में स्वीकार किये हैं यथा पिहित को उद्भेद संज्ञा से स्वीकार किया है। शृंखलामूलक अलंकारों के स्थान पर शृंखला नामक स्वतन्त्र अलंकार की कल्पना की हैं। इस प्रकार नगण्य भेद के आधार पर नवीन-नवीन अलंकारों की कल्पना में नवीनता प्रदर्शन का मोह-मात्र ही परिलक्षित होता है। परिसंख्या से नियम के स्वतन्त्र अलंकार की कल्पना ऐसी ही है। मम्मट के **काव्यप्रकाश** में जिसे परिसंख्या का उदाहरण स्वीकार किया गया है, उसे ही शोभाकर ने नियम का उदाहरण बताया है। इस प्रकार नियम का अन्तर्भाव परिसंख्या में संभव है। क्रम तथा अवरोह अलंकारों का अन्तर्भाव पर्याय में सम्भव है अत: स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना आवश्यक नहीं प्रतीत होती। शोभाकर ने संसृष्टि की सत्ता का विरोध किया है।[1] और संकर के सम्बन्ध में कुछ नवीन धारणा व्यक्त की है। पूर्वाचार्यों की तरह अनेक अलंकारों के अङ्गाङ्गित्व में संकर मानकर भी यह नवीन धारणा प्रकट की है कि जहाँ अङ्गाङ्गिभाव से अनेक अलंकार होंगे वहाँ प्रधान को अलंकार और अप्रधान को उसका संकर माना जायेगा।[2] स्पष्ट हैं कि शोभाकर ने संकर को स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानकर अनेक अलंकारों के एकत्र सद्भाव की एक विशेष स्थिति मानी है।

चन्द्रालोक प्रणेता जयदेव ने आठ शब्दालंकार तथा लगभग १०० अर्थालंकार स्वीकार किये हैं—

शब्दालंकार—१. छेकानुप्रास २. वृत्त्यनुप्रास ३. लाटानुप्रास ४. स्फुटाप्रास ५. अर्थानुप्रास ६. पुनरुक्तप्रतीकाश ७. यमक और ८ चित्र।

अर्थालंकार—१. उपमा २. अनन्वय ३. उपमेयोपमा ४. प्रतीपोपमा ५. ललितोपमा ६. स्तवकोपमा ७. सम्पूर्णोमा ८. रूपक ९. परिणाम १०. उल्लेख

---

१. न संसृष्टि: पूर्वहानाच्चारुत्वाभावाच्च। —अलङ्काररत्नाकर १११ सूत्र

२. 'अङ्गत्वे तु सङ्कर:'।......तेन प्रधानतायां उपमादीनां निजं निजं नाम अङ्गत्वे पुनरेषां संकरधीर्नाङ्गिभावेऽपि।

—वही सूत्र ११२ तथा उसकी वृत्ति, पृ० १९८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

११. अपह्नुति १२. उत्प्रेक्षा १३. स्मृति १४. भ्रान्तिमान् १५. संदेह १६. मीलित १७. सामान्य १७. उन्मीलित १९. अनुमान २०. अर्थापत्ति २१. काव्यलिंग २२. परिकर २३. परिकरांकुर २४. अक्रमातिशयोक्ति २५. प्रौढोक्ति २६. सम्भावना २७. प्रहर्षण २८. विषादन २९. तुल्ययोगिता ३०. दीपक ३१. आवृत्तिदीपक ३२. प्रतिवस्तूपमा ३३. दृष्टान्त ३४. निदर्शना ३५. व्यतिरेक ३६. सहोक्ति ३७. विनोक्ति ३८. समासोक्ति ३९. श्लेष ४०. अप्रस्तुतप्रशंसा ४१. अर्थान्तरन्यास ४२. विकस्वर ४३. पर्यायोक्ति ४४. व्याजस्तुति ४५. आक्षेप ४६. विरोध ४७. विरोधाभास ४८. असम्भव ४९. विभावना ५०. विशेषोक्ति ५१. असंगति ५२. विषम ५३. सम ५४. विचित्र ५५. अधिक ५६ अन्योन्य ५७. विशेष ५८. व्याघात ५९. कारणमाला ६०. एकावली ६१. मालादीपक ६२. सार ६३. उदारसार ६४. यथासंख्य ६५. पर्याय ६६. परिवृत्ति ६७. परिसंख्या ६८. विकल्प ६९. समुच्चय ७०. समाधि ७१. प्रत्यनीक ७२. प्रतीप ७३. उल्लास ७४. तद्गुण ७५. पूर्वरूप ७६. अतद्गुण ७७. अनुगुण ७८. अवज्ञा ७९. प्रश्नोत्तर ८०. पिहित ८१. व्याजोक्ति ८२. वक्रोक्ति ८३. स्वभावोक्ति ८४. भाविक ८५. भाविकच्छवि ८६. उदात्त ८७. अत्युक्ति।

इनके अतिरिक्त सोपाधिरूपक, सादृश्यरूपक, आभासरूपक, रूपितरूपक, पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति, कैतवापह्नुति, गूढोत्प्रेक्षा, अत्यन्तातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, भेदकान्तिशयोक्ति रूपकातिशयोक्ति, खण्डश्लेष, भङ्गश्लेष, अर्थश्लेष विविध अलङ्कार भेदों का उल्लेख किया है। इस प्रकार जयदेव के द्वारा स्वीकृत अलङ्कारों की संख्या १०० से अधिक हो जाती है।

जयदेव द्वारा स्वीकृत पुनरुक्तप्रतीकाश शब्दालङ्कार उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों के पुनरुक्तवदाभास का ही अपर पर्याय है। इन्होंने दो नवीन शब्दालङ्कारों स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास का निरूपण किया है। किन्तु स्फुटानुप्रास की धारणा दण्डी की अनुप्रास सम्बन्धी धारणा से अभिन्न सी प्रतीत होती है, केवल नाम मात्र नवीन है।

अर्थालङ्कारों के स्वरूप निरूपण में जयदेव ने भामह से लेकर रुय्यक पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत एवं निरूपित तत्तदलङ्कार-विषय मान्यताओं को अधिकांशतः अपनाया है। तथापि कुछ नवीन अलङ्कारों की भी उद्भावना का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ—उन्होंने प्रतीपोपमा अलङ्कार की कल्पना की है। वस्तुत मम्मट रुय्यक आदि के प्रतीप अलङ्कार के लक्षण से प्रतीपोपमा का लक्षण भिन्न नहीं है।[1] सम्पूर्णोपमा के स्वरूप की कल्पना आचार्य दण्डी के श्लेषोपमा लक्षण के आधार पर

---

१. द्रष्टव्य—चन्द्रालोक ५।१४ तथा काव्यप्रकाश १०।१३३, अलङ्कारसर्वस्व सूत्र ७०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

की गई है।[1] रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों में सोपाधिरूपक, दृश्यसादृश्य-रूपक, चपलातिशयोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति आदि नवीन भेदों की कल्पना की है। दीपक और एकावली अलङ्कारों के मिश्रण को मालादीपक नाम से अभिहित किया है।[2] जबकि भामह आदि आचार्यों ने अलङ्कारों के मिश्रण को संसृष्टि अथवा संकर नामक अलङ्कारों के रूप में स्वीकार किया है।

भामहादि पूर्ववर्ती आचार्यों ने जहाँ एक अलङ्कार के एकाधिक रूपों की कल्पना की थी, वहाँ जयदेव ने उन रूपों के आधार पर अनेक परस्पर स्वतन्त्र अलङ्कारों की कल्पना कर ली। उन्होंने मम्मट आदि आचार्यों की अतिशयोक्ति के एक रूप को अतिशयोक्ति नाम से तथा यद्यर्थोक्ति रूप को सम्भावना नाम से स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में स्वीकार किया। रुय्यक आदि के विषम अलङ्कार के दो रूपों के आधार पर विषम तथा विषादन इन दो अलङ्कारों की कल्पना की। प्रतीप तथा प्रतीपोपमा रूप से पृथक्-पृथक् अलङ्कारों की कल्पना की। पूर्ववर्ती आचार्यों के एक अलङ्कार के अनेक रूप-भेदों के आधार पर एकाधिक अलङ्कार की कल्पना ही **चन्द्रालोक** में अलङ्कार-संख्यावृद्धि का मुख्य कारण है। सम्भावना, विषादन तथा प्रतीपोपमा आदि नवीन अलङ्कारों के प्रादुर्भाव का यही रहस्य है।

जयदेव ने भाविक से स्वतन्त्र भाविकच्छवि, तद्गुण से अनुगुण, परिकर से पृथक् परिकरांकुर की कल्पना भी थोड़े-थोड़े सूक्ष्म भेद के आधार पर की है। अर्थान्तरन्यास के आधार पर विकस्वर, विरोधाभास के आधार पर असम्भव की कल्पना की गई है। आचार्य दण्डी ने कान्ति गुण के आधार पर अत्युक्ति नामक अलङ्कार की कल्पना की है।[3] प्रौढोक्ति का स्वरूप अतिशयोक्ति से इतना मिलता है कि उसकी स्वतन्त्र कल्पना अनावश्यक प्रतीत होती है।[4] जयदेव ने उल्लास,[5] पूर्वरूप,[6] प्रहर्षण[7] उन्मीलित[8] तथा अवज्ञा[9] नवीन अलङ्कारों की उद्भावना की है।

एकावलीकार विद्याधर ने ४ शब्दालंकारों (छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक और चित्र), ७१ अर्थालंकारों (उपमा रूपकादि) तथा एक शब्दार्थालंकार (पुनरु-

१. द्रष्टव्य—**चन्द्रालोक** ५।१७ तथा **काव्यादर्श** २।२८,
२. दीपकैकावली योगान्मालादीपकमुच्यते। **चन्द्रालोक** ५।८९।
३. द्रष्टव्य—**काव्यादर्श** १।८५ तथा **चन्द्रालोक** ५।११६।
४. द्रष्टव्य—**चन्द्रालोक** ५।४७।
५. द्रष्टव्य—**वही** ५।१०१।
६. द्रष्टव्य—**वही** ५।१०३–१०४।
७. द्रष्टव्य—**वही** ५।४९।
८. द्रष्टव्य—**वही** ५।३५।
९. द्रष्टव्य—**वही** ५।१०७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

क्तवदाभास) को स्वीकार किया है।[१] इन्होंने अलंकार की मान्यता के सम्बन्ध में सामान्यतः मम्मट और रुय्यक का अनुगमन किया है। किन्तु आचार्य रुय्यक द्वारा अर्थालंकार के रूप में स्वीकार किये गये रसवदादि (रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता) को मम्मटाचार्य की भाँति स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार इन्होंने मम्मट एवं रुय्यक दोनों द्वारा स्वीकृत 'सम' अलंकार को भी मान्यता नहीं दी है। आचार्य रुय्यक ने लाटानुप्रास को शब्दार्थालंकार के रूप में माना है, किन्तु विद्याधर ने इसे अर्थालंकारों में अन्यतम स्वीकार किया है। पुनरुक्तवदाभास को मम्मट की भाँति शब्दार्थालंकार के रूप में ही प्रतिष्ठापित किया है। इसप्रकार विधाधर पर मम्मट एवं रुय्यक का विशेष रूप से प्रभाव है। अलंकारों के वर्गीकरण में इन्होंने अलंकार-सर्वस्व की ही पद्धति को अपनाधा है।[२]

प्रतापरुद्रयशोभूषणकार विद्यानाथ ने ६ शब्दालंकार,[३] ६६ अर्थालंकार[४] तथा मिश्रालंकार[५] में संसृष्टि तथा संकर को स्वीकार किया है। विद्यानाथ द्वारा स्वीकृत अलंकारों को देखकर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने आचार्य रुय्यक का सर्वतोभावेन अनुसरण किया है, हाँ इतना अवश्य है कि उन्होंने सादृश्यमूलक (अध्यवसित

---

१. दीपकेकावली योगान्मालादीपकमुच्यते —**चन्द्रालोक** ५।८९, पृ० १३४।

२. वराविभूषासंसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः ॥

—**काव्यालंकार (भामह)** ३।४९, पृ० ८४।

३. **शब्दालंकार**—१. हेकानुप्रास २. वृत्यनुप्रास ३. यमक ४. पुनरुक्तवदाभास ५. लाटानुप्रास और ६. चित्र।

४. **अर्थालंकार**—१. उपमा २. अनन्वय ३. उपमेयोपमा ४. स्मरण ५. रूपक ६. परिणाम ७. सन्देह ८. भ्रांतिमान् ९. अपह्नुति १० उल्लेख ११. उत्प्रेक्षा १२. अतिशयोक्ति १३. सहोक्ति १४. विनोक्ति १५. समासोक्ति १६. वक्रोक्ति १७. स्वभावोक्ति १८. व्याजोक्ति १९. मीलन २०. सामान्य २१. तद्गुण २२. अतद्गुण २३. विरोध २४. विशेष २५. अधिक २६. विभावना २७. विशेषोक्ति २८. असंगति २९. विचित्र ३०. अन्योन्य ३१. विषम ३२. सम ३३. तुल्ययोगिता ३४. दीपक ३५. प्रतिवस्तूपमा ३६. दृष्टान्त ३७. निदर्शना ३८. व्यतिरेक ३९. श्लेष ४०. परिकर ४१. आक्षेप ४२. व्याजस्तुति ४३. अप्रस्तुतप्रशंसा ४४. पर्यायोक्त ४५. प्रतीप ४६. अनुमान ४७. काव्यलिंग ४८. अर्थान्तरन्यास ४९. यथासंख्य ५०. अर्थापत्ति ५१. परिसंख्या ५२. उत्तर ५३. विकल्प ५४. समुच्चय ५५. समाधि ५६. भाविक ५७. प्रत्यनीक ५८. व्याघात ५९. पर्याय ६०. सूक्ष्म ६१. उदात्त ६२. परिवृत्ति ६३. कारणमाला ६४. एकावली ६५. मालादीपक और ६६. सार।

५. मिश्रालंकार—ससृष्टि एवं संकर।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

प्रधान) अतिशयोक्ति और कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति का रुय्यक की भाँति पृथक्-पृथक् परिगणन नहीं किया है। इसके अतिरिक्त रसभावादिमूलक-रसवत्, प्रेय ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शवलता अलंकारों की चर्चा ग्रन्थ के मुख्य भाग में न करके (ग्रन्थ की) प्रस्तावना में की है। इसके अतिरिक्त इन्होंने रुय्यक के 'मीलित' अलंकार का 'मीलन' नामान्तर से वर्णन किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि **'प्रतापरुद्रयशोभूषण'** में वर्णित अलंकारों के स्वरूप प्राचीन ही हैं किन्तु उनके उदाहरणों की नवीनता इस ग्रन्थ की निजी विशेषता है। विद्यानाथ का उद्देश्य काव्यालंकारों के पूर्व-स्थापित सिद्धान्त को सरल रूप में प्रस्तुत करना तथा काकतीय नरेश प्रतापरुद्र के कीर्तियुक्त पदों से उन्हें उदाहृत करना था।[1]

कविराज विश्वनाथ ने ७ शब्दालंकार पुनरुक्तवदाभास यमक, वक्रोक्ति, अनुप्रास (छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य तथा लाट) भाषा-सम, श्लेष, और चित्र और ७७ अर्थालंकार[2] स्वीकार किये हैं।

विश्वनाथ ने अनुप्रास के पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत छेक, वृत्ति तथा लाट-भेदों के साथ श्रुति तथा अन्त्य भेदों की भी गणना की है। श्रुत्यनुप्रास की धारणा नवीन नहीं है। आचार्य दण्डी ने माधुर्य-गुण-विवेचन के प्रसंग में श्रुत्यनुप्रास के जिस लक्षण

१. प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलंकार प्रवन्धोऽयं सन्तः कर्जोत्सवोऽस्तु वः॥

—**प्रतापरुद्रयशोभूषण** १।६

२. १. उपमा २. अनन्वय ३. उपमेयोपमा ४. स्मरण ५. रूपक ६. परिणाम ७. संदेह ८. भ्रांतिमान् ९. उल्लेख १०. अपह्नुति ११. निश्चय १२. उत्प्रेक्षा १३. अतिशयोक्ति १४. तुल्ययोगिता १५. दीपक १६. प्रतिवस्तूपमा १७. दृष्टान्त १८. निदर्शना १९. व्यतिरेक २०. सहोक्ति २१. विनोक्ति २२. समासोक्ति २३. परिकर २४. श्लेष २५. अप्रस्तुत-प्रशंसा २६. व्याज स्तुति २७. पर्यायोक्त २८. अर्थान्तरन्यास २९. काव्य-लिंग ३०. अनुमान ३१. हेतु ३२. अनुकूल ३३. आक्षेप ३४. विभावना ३५. विशेषोक्ति ३६. विरोध ३७. असंगति ३८. विषम ३९. सम ४०. विचित्र ४१. अधिक ४२. अन्योन्य ४३. विशेष ४४. व्याघात ४५. कारणमाला, ४६. मालादीपक ४७. एकावली ४८. सार ४९. यथा-संख्य ५०. पर्याय ५१. परिवृत्ति ५२. परिसंख्या ५३. उत्तर ५४. अर्थापत्ति ५५. विकल्प ५६. समुच्चय ५७. समाधि ५८. प्रत्यनीक ५९. प्रतीप ६०. मीलित ६१. सामान्य ६२. तद्गुण ६३. अतद्गुण ६४. सूक्ष्म ६५. व्याजोक्ति ६६. स्वभावोक्ति ६७. भाविक ६८. उदात्त ६९. रसवत् ७०. प्रेय ७१. ऊर्जस्वि ७२. समाहित ७३. भावोदय ७४. भावसन्धि ७५. भावशवलता ७६. संसृष्टि और ७७. संकर।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

की कल्पना की थी, उसे ही विश्वनाथ ने स्वीकार किया है।[1] श्रुत्यानुप्रास की कल्पना दण्डी के पादान्त यमक की कल्पना पर आधारित है।[2]

अर्थालंकारों के सम्बन्ध में सामान्य रूप से इन्होंने आचार्य रुय्यक का अनुसरण किया है, यद्यपि कहीं-कहीं मौलिक मतभेद के भी दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ इन्होंने आचार्य रुय्यक द्वारा अर्थालंकार के रूप में स्वीकार किये गये वक्रोक्ति अलंकार को शब्दालंकार के रूप में तथा (रुय्यक द्वारा स्वीकृत) दो अतिशयोक्ति (अध्यवसितप्रधान और कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलक) अलङ्कारों के स्थान पर विद्यानाथ की भाँति एक अतिशयोक्ति को स्वीकार किया है। इसी प्रकार इन्होंने पुनरुक्तवदाभास और लाटानुप्रास को शब्दालङ्कारों में परिगणित किया है, जबकि रुय्यक ने पुनरुक्तवदाभास को अर्थालङ्कार और लाटानुप्रास को शब्दार्थालङ्कार के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत 'हेतु' अलंकार को एवं शोभाकर द्वारा उद्भावित 'निश्चय' अलंकार को पुनः मान्यता प्रदान कर उसके कुछ नवीन स्वरूप की कल्पना की है। उन्होंने 'अनुकूल' नामक अर्थालंकार एवं 'भाषासम' नामक शब्दालंकार (दो अलंकारों) की नवीन उद्भावना की है।

अलंकारमहोदधिकार आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने ४ शब्दालङ्कार[3] तथा ७१ अर्थालंकार[4] स्वीकार किये हैं। अलंकारों के सम्बन्ध में सामान्यतः इन पर आचार्य

---

१. द्रष्टव्य—**काव्यादर्श** १।५२ तथा **साहित्यदर्पण** १०।५

२. द्रष्टव्य—**काव्यादर्श** ३।२ तथा **साहित्यदर्पण** १०।६

३. शब्दालंकार—१. अनुप्रास (श्रुत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रासौ, २. यमक ३. श्लेष और ४. वक्रोक्ति।

४. अर्थालङ्कार—१. अतिशयोक्ति २. सहोक्ति ३. उपमा ४. अनन्वय ५. उपमेयोपमा ६. स्मरण ७. संशय ८. भ्रांतिमान ९. उल्लेख १०. रूपक ११. अपह्नुति १२. परिणाम १३. उत्प्रेक्षा १४. तुल्ययोगिता १५ दीपक १६. निदर्शना १७. प्रतिवस्तूपमा १८. दृष्टान्त १९. अर्थान्तरन्यास २०. व्यतिरेक २१. विनोक्ति २२. परिकर २३. समासोक्ति २४. अप्रस्तुतप्रशंसा २५. पर्यायोक्त २६. आक्षेप २७. व्याजस्तुति २८. श्लेष २९. विरोध ३०. असंगति ३१. विशेषोक्ति ३२. विभावना ३३. विषम ३४. सम ३५. अधिक ३६. विचित्र ३७. पर्याय ३८. विकल्प ३९. व्याघात ४०. अन्योन्य ४१. विशेष ४२. कारणमाला ४३. सार ४४. एकावली ४५. मालादीपक ४६. काव्यलिंग ४७. अनुमान ४८. यथासंख्य ४९. परिवृत्ति ५०. परिसंख्या ५१. अर्थापत्ति ५२. समुच्चय

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विश्वनाथ का प्रभाव दिखाई पड़ता है, यद्यपि इन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत हेतु, निश्चय एवं अनुकूल अलंकारों को मान्यता नहीं दी है।

काव्यानुशासनकार वाग्भट द्वितीय ने ७ शब्दालंकारों[1] तथा ६३ अर्थालंकारों[2] को स्वीकार किया है। इन्होंने भामह, दण्डी रुद्रट और भोज द्वारा स्वीकार किये गये पूर्व, हेतु, लेश, अहेतु, मत, उपन्यास, भाव और आशीः अलंकारों को पुनः प्रतिष्ठापित किया, किन्तु भामह, रुय्यक आदि द्वारा स्वीकार किये गये रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता एवं संसृष्टि अलंकारों को मान्यता नहीं दी है। इसके अतिरिक्त अन्य, अपर और उत्तरोत्तर तीन नवीन अलंकारों की उद्भावना की है।

अलंकारशेखरकार केशवमिश्र अप्पयदीक्षित के समसामयिक थे। केशवमिश्र ने आठ शब्दालंकारों एवं चौदह अर्थालंकारों का विवेचन किया है, इसके विपरीत अप्पयदीक्षित ने शताधिक अलंकारों का स्वरूप निरूपण किया है। केशवमिश्र के द्वारा स्वीकृत शब्दालंकार एवं अर्थालंकार निम्नलिखित हैं—

शब्दालङ्कार—१. चित्र २. वक्रोक्ति ३. अनुप्रास ४. गूढ ५. श्लेष ६. प्रहेलिका ७. प्रश्नोत्तर और ८. यमक।[3]

अर्थालङ्कार—१. उपमा २, रूपक ३, उत्प्रेक्षा ४, समासोक्ति ५, अपह्नुति ६, समाहित ७, स्वभाव या स्वभावोक्ति ८, विरोध ९, सार १०, दीपक ११, सहोक्ति १२, अन्यदेशत्व या असङ्गति १३, विशेषोक्ति और १४, विभावना।[4]

वक्रोक्ति को केशवमिश्र ने मम्मट तथा विश्वनाथ की भाँति शब्दालंकार के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने प्रश्नोत्तर को भी शब्दालंकार माना है, जबकि

पूर्व पृष्ठ की पाद टिप्पणी

५३. समाधि ५४. प्रत्यनीक ५५. प्रतीप ५६. मीलित ५७. सामान्य ५८. तद्गुण ५९. अतद्गुण ६०. उत्तर ६१. सूक्ष्म ६२. व्याजोक्ति ६३. स्वभावोक्ति ६४. भाविक ६५. उदात्त ६६, रसवत् ६७. प्रेय ६८. ऊर्जस्वि ६९. समाहित ७०. संसृष्टि और ७१. संकर।

१. चित्र श्लेषानुप्रासवक्रोक्तियुक्तियमकपुनरुक्तवदाभासाः षट् शब्दालंकाराः ॥ —**काव्यानुशासन** (वाग्भट) पृ० ४६।

२. जात्युपमोत्प्रेक्षारूपकदीपकान्योक्तिसमासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसापर्यायोक्त्यतिशयोक्ति सहोक्त्याक्षेपविरोधार्थान्तरन्यासव्याजस्तुतिव्यतिरेकससंदेहापह्नुति परिवृत्यनुमान स्मृतिभ्रान्तिविषमसमसमुच्चयान्यापरपरिसंख्याकारण-मालानिदर्शनेकावलीयथासंख्य परिकरोदात्तसमाहितविभावनान्योन्यमीलितविशेषपूर्वहेतुसारसूक्ष्मलेशप्रतीपपिहित व्याघातसंगतिरहेतुलेषमत्तोत्तरोभयन्यासभावपर्याय व्याजोक्त्यधिकप्रत्यनीकानन्वयतद्गुणातद्गुणसंकरा-आशीः प्रभृतयोऽर्थालंकाराः ॥—**वही**, पृ० ३२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

मम्मट आदि आचार्यों ने प्रश्नोत्तर को अर्थालंकार स्वीकार किया है। गूढ और प्रहेलिका को पृथक्-पृथक् रूप में स्वीकार किया है। आचार्य दण्डी आदि की प्रहेलिका के विस्तृत एवं व्यापक स्वरूप से ही गूढ की धारणा ली गई प्रतीत होती है। स्पष्टतः केशवमिश्र के सभी शब्दालंकार पूर्वाचार्यों की मान्यताओं पर आधारित है। अर्थालंकारों में भी किसी नवीन अलंकार की उद्भावना उन्होंने नहीं की है। केशव का उद्देश्य अलंकारों को सुबोध बनाकर संक्षेप में प्रस्तुत करना प्रतीत होता है।

अप्पयदीक्षित ने शब्दालंकारों की कोई चर्चा नहीं की है। इनके द्वारा स्वीकार किये गये अर्थालंकार निम्नलिखित हैं—१. उपमा २ अनन्वय ३. उपमेयोपमा ४. प्रतीप ५. रूपक ६. परिणाम ७. उल्लेख ८. स्मृति ९. भ्रांति १०. सन्देह ११. अपह्नुति १२. उत्प्रेक्षा १३. अतिशयोक्ति १४. तुल्ययोगिता १५. दीपक १६. आवृत्ति दीपक १७. प्रतिवस्तूपमा १८. दृष्टान्त १९. निदर्शना २०. व्यतिरेक २१. सहोक्ति २२. विनोक्ति २३. समासोक्ति २४. परिकर २५. परिकरांकुर २६. श्लेष २७. अप्रस्तुतप्रशंसा २८. प्रस्तुतांकुर २९. पर्यायोक्त ३०. व्याजस्तुति ३१. व्याजनिन्दा ३२. आक्षेप ३३. विरोधाभास ३४. विभावना ३५. विशेषोक्ति ३६. असम्भव ३७. असंगति ३८. विषम ३९. सम ४०. विचित्र ४१. अधिक ४२. अल्प ४३. अन्योन्य ४४. विशेष ४५. व्याघात ४६. कारणमाला ४७. एकावली ४८. मालादीपक ४९. सार ५०. यथासंख्य ५१. पर्याय ५२. परिवृत्ति ५३. परिसंख्या ५४. विकल्प ५५. समुच्चय ५६. कारकदीपक ५७. समाधि ५८. प्रत्यनीक ५९. अर्थापत्ति ६०. काव्यलिंग ६१. अर्थान्तरन्यास ६२. विकस्वर ६३. प्रौढ़ोक्ति ६४. सम्भावना ६५. मिथ्याध्यवसिति ६६. ललित ६७. प्रहर्षण ६८. विषादान ६९. उल्लास ७०. अवज्ञा ७१. अनुज्ञा ७२. लेश ७३. मुद्रा ७४. रत्नावली ७५. तद्गुण ७६. पूर्वरूप ७७. अतद्गुण ७८. अनुगुण ७९. मीलित ८०. विशेष ८१. उत्तर ८२. सूक्ष्म ८३. पिहित ८४. व्याजोक्ति ८५. गूढोक्ति ८६. विवृतोक्ति ८७. युक्ति ८८. लोकोक्ति ८९. छेकोक्ति ९०. वक्रोक्ति ९१. स्वभावोक्ति ९२. भाविक ९३. उदात्त ९४. अत्युक्ति ९५. निरुक्ति ९६. प्रतिषेध ९७. विधि ९८. हेतु ९९. रसवत् १००. प्रेय [भाव] १०१. ऊर्जस्वि १०२ समाहित १०३. भावोदय १०४. भावसन्धि १०५. भावशबलता १०६. प्रत्यक्ष १०७. अनुमान १०८. उपमान १०९. शाब्दप्रमाण ११०. स्मृति।

पूर्व पृष्ठ की पाद टिप्पणी

३. चित्रवक्रोक्त्यनुप्रासगूढश्लेषप्रहेलिकाः।
प्रश्नोत्तरं च यमकमष्टालंकृतयो ध्वनौ॥ —अलङ्कारशेखर१०।१

४. उपमारूपकोत्प्रेक्षाः समासोक्तिरपह्नुतिः।
समाहितं स्वभावश्च विरोधः साङ्गदीपकौ॥
सहोक्तिरन्यदेशत्वं विशेषोक्तिर्विभावना।
एवं स्युरर्थालंकाराश्चतुर्दश न चापरे॥ —वही११।१-२

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

१११, श्रुति ११२, अर्थापत्ति ११३, अनुपलब्धि ११४, सम्भव ११५, ऐतिह्य ११६, संसृष्टि ११७. अङ्गाङ्गिभाव संकर ११८. समप्राधान्यसंकर ११९. संदेहसंकर १२०. एकवाचकानुप्रवेश संकर १२१. संकटसंकर १२२. सामान्य १२३ उन्मीलित ।

उपर्युक्त अलंकारों में से उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससंदेह, भ्रांतिमान्, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति केवल इन ११ अलंकारों का विवेचन **चित्रमीमांसा** में किया गया है। आचार्य अप्पयदीक्षित ने भामह रुद्रट, शोभाकर मित्र आदि द्वारा स्वीकार किये गये अर्थालंकारों में से निम्नलिखित अलंकारों को मान्यता प्रदान नहीं की है :—

अहेतु, आगम, आदर, आपत्ति, उक्ति, उत्प्रेक्षावयम, उदाहरण, उद्भेद, उद्रेक, उपमा-रूपक, उभयन्यास, कल्पितोपमा, कियात्तिपत्ति, तत्त्व, तन्त्र, तुल्य, नियम, निश्चय, परभाग, पुनरुक्तप्रतीकाश, पूर्व, प्रतिप्रसव, प्रतिभा, प्रतिमा, प्रत्यादेश, प्रत्यूह, प्रसंग, भाषासम, (शब्दालंकार) भेद, मत, ललितोपमा, वर्धमानक, विकल्पाभास, वितर्क, विध्याभास, विनोद, विपर्यय, विरोध, विवेक, वैधर्म्य, व्यत्यास, व्याप्ति, व्यासंग, शृंखला, संदेहाभास, साम्य, समता, स्मरण, अनादर, अनुकूल, अन्यदेशत्व, अन्योक्ति, अपरिष्कृति, अभाव, अभेद, अवयव, अवरोह, अवसर, अविशेष, अशक्य और असम ।

अप्पयदीक्षित द्वारा उद्भावित किये गये अलंकार इस प्रकार हैं—

१. प्रस्तुतांकुर २. अल्प ३. कारकदीपक ४. मिथ्याध्यवसिति ५. ललित ६ अनुज्ञा ७. मुद्रा ८. रत्नावली ९. विशेषक १०. गूढोक्ति ११. विवृतोक्ति १२. युक्ति १३. लोकोक्ति १४. छेकोक्ति १५. निरुक्ति १६. प्रतिषेध १७. व्याजनिन्दा और १८. विधि ।

उपर्युक्त अलंकारों में से गूढोक्ति अलंकार को अग्निपुराणकार द्वारा ('चित्र' शब्दालंकार के उपभेद के रूप में) स्वीकृत 'गुप्त' तथा शौद्धोदनि द्वारा (शब्दालंकारों में) स्वीकार किये गये 'गूढ' अलंकार का समानान्तर माना जा सकता है।[1]

---

१. (क) गूढोक्तिरन्योदेश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते ।
वृषापेहिपरक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षकः ॥
—कुवलयानन्द ५४, पृ० २५२

(ख) यस्मिन्गुप्तेऽपिवाक्यांगे भावयर्थोऽपारमार्थिकः ॥
—अग्निपुराण ३४३।२६ (उत्तरार्घ) पृ० ७००

तदंगविहिताकांक्षास्तत्तद्गुप्तं गूढमप्यदः ॥
—वही—३४३।२७ (पूर्वार्द्ध) पृ० ७००

(ग) गूढंक्रियागुप्तादिः यथा—पुंस्कोकिल कुलस्यैतैः नितान्तमधुरारवैः ।
सहकारद्रुमारम्या वसन्ते कामपि श्रियम् ॥
—अलंकार शे० पृ० २५ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कुवलयानन्द में जिन नवीन अलंकारों का विवेचन हुआ है, उनमें से अधिकांश की स्वरूप-कल्पना का आधार प्राचीन आचार्यों की काव्य-तत्त्व धारणा में ही है। यथा प्रतिषेध एवं छेकोक्ति के स्वरूप की कल्पना क्रमशः निषेध, तथा लोकोक्ति के साथ व्यञ्जना-शक्ति की धारणा को मिलाकर की गई है। विवृतोक्ति अलंकार शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल ध्वनि की धारणा पर आधारित है। मिथ्याध्यवसिति निरुक्ति अलंकारों का स्वरूप भरत के मिथ्याध्यवसाय एवं निरुक्त लक्षणों के स्वरूप से मिलता-जुलता है। अनुज्ञा की कल्पना 'कार्य' लक्षण की धारणा पर आधृत प्रतीत होती है। विशेष सामान्य के वैपरीत्य के आधार पर कल्पित है। व्याजस्तुति से मिलते-जुलते स्वभाव वाले व्याजनिन्दा अलंकार की स्वतन्त्र रूप से कल्पना हुई है। व्याजोक्ति से मिलते-जुलते रूप वाले युक्ति अलंकार की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गई है। अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार के रूप के आधार पर प्रस्तुतांकुर कल्पित हुआ प्रतीत होता है।

कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने अधिकांशतः चन्द्रालोककार जयदेव द्वारा विवेचित अलंकारों के ही लक्षण एवं उदाहरण उद्धृत किये हैं किन्तु वृत्ति में उनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। अपने ग्रन्थ का उद्देश्य बताते हुए अप्पयदीक्षित ने कहा है कि कुवलयानन्द ग्रन्थ का मुख्य उद्दिष्ट अपरिपक्व बुद्धि वालों को अलंकार का परिचय कराना है। **चन्द्रलोक** में निर्दिष्ट अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण ग्रहण करने की बात उन्होंने स्वयं कही है। इसके साथ यह भी लिखा है कि जिन अलंकारों का लक्षण **चन्द्रलोक** में निर्दिष्ट नहीं है, उनको मैंने बनाया है।[१]

रसगंगाधर के अपूर्ण रूप में उपलब्ध होने के कारण यह कहना सम्भव नहीं है कि पण्डितराज जगन्नाथ को कितने अलंकार अभिप्रेत थे।[२] उपलब्ध ग्रन्थ में

---

१. (क) अलंकारेषु बालानामवगाहनसिद्धये ।
ललितः क्रियते तेषां लक्ष्यलक्षणसंग्रहः ॥
येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः ।
प्रायस्त एवं तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते ॥—**कुवलयानन्द** ४।५

(ख) इत्थं शतमलंकाराः लक्षयित्वा निर्दशिताः ।
प्राचामाधुनिकानां च मतान्यालोच्य सर्वतः ॥ —वही १६६।

२. नोट—रसगंगाधर में कुल ७० अलंकारों का निरूपण प्राप्त होता है···उत्तर अलङ्कार के निरूपण में ही अकस्मात ग्रन्थ खण्डित होकर समाप्त हो गया है। इस स्थिति में पण्डितराज-अभिमत अलंकारों की संख्या बताना सम्भव नहीं है, किन्तु इतना निश्चय है कि वे अलंकार-निरूपण में चन्द्रालोक की अर्थालंकार अनुक्रमणिका को लेकर चले हैं, क्योंकि उक्त ७० अलंकारों में केवल 'असम' 'उदाहरण, और 'तिरस्कार' में तीन अलंकार ही ऐसे हैं, जो चन्द्रलोक की अनुक्रमणिका से बहिर्भूत है।

······मदनमोहन झा, **रसगंगाधरभूमिका**—पृ० ३९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

निम्नलिखित ७० अर्थालंकारों का विवेचन होता है :— १. उपमा २. उपमेयापमा ३. अनन्वय ४. असम ५. उदाहरण ६. स्मरण ७. रूपक ८. परिणाम ९. ससंदेह १०. भ्रान्तिमान् ११. उल्लेख १२. अपह्नुति १३. उत्प्रेक्षा १४. अतिशयोक्ति १५. तुल्ययोगिता १६. दीपक १७. प्रतिवस्तूपमा १८. दृष्टान्त १९. निदर्शना २०. व्यतिरेक २१. सहोक्ति २२. विनोक्ति २३. समासोक्ति २४. परिकर १५. श्लेष २६ अप्रस्तुतप्रशंसा २७. पर्यायोक्त २८. व्याजस्तुति २९. आक्षेप ३०. विरोध ३१. विभावना ३२. विशेषोक्ति ३३. असंगति ३४. विषम ३५. सम ३६. विचित्र ३७. अधिक ३८. अन्योन्य ३९. विशेष ४०. व्याघात ४१. कारणमाला ४२. एकावली ४३. सार ४४. काव्यलिंग ४५. अर्थान्तरन्यास ४६. अनुमान ४७. यथासंख्य ४८. पर्याय ४९. परिवृत्ति ५०. परिसंख्या ५१. अर्थापत्ति ५२. विकल्प ५३. समुच्चय ५४. समाधि ५५. प्रत्यनीक ५६. प्रतीप ५७. प्रोढोक्ति ५८. ललित ५९. प्रहर्षण ६०. विषादन ६१. उल्लास ६२. अवज्ञा ६३. अनुज्ञा ६४. तिरस्कार ६५. लेश ६६. तद्गुण ६७. अतद्गुण ६८. मीलित ६९. सामान्य और ७०. उत्तर।

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा स्वीकृत अलंकारों को देखकर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने सामान्यत: जयदेव द्वारा स्वीकार किये गये अलंकारों को ही मान्यता प्रदान की है, किन्तु 'तिरस्कार' नामक नवीन अलंकार की उद्भावना करते हुए शोभाकर मित्र द्वारा स्वीकृत असम एवं उदाहरण नामक अलंकारों को भी पुनः प्रतिष्ठित किया है। आचार्य भरत ने गर्हण नामक लक्षण में दोष में गुण तथा गुण में दोष-प्रदर्शन की कल्पना की थी।[1] तिरस्कार की कल्पना का मूल गर्हण लक्षण में माना जा सकता है।[2] पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् संस्कृत-काव्यशास्त्र में मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति समाप्तप्राय हो गई। उनके बाद के आचार्यों का उद्देश्य साहित्य-शास्त्र के विभिन्न अङ्गों को सरल एवं सुबोध बनाकर संस्कृत-अध्येताओं के लिये प्रस्तुत करना मात्र रह गया है।

आचार्य विश्वेश्वर ने अलंकार-स्वरूप-विवेचनार्थ तीन ग्रन्थ लिखे हैं— १. **अलंकार-कौस्तुभ** २. **अलंकारमुक्तावली** तथा ३. **अलकारप्रदीप**। **अलंकार-मुक्तावली** अलंकारशास्त्र में प्रवेश करने वाले पाठकों के लिये लिखी गई थी। **अलंकारप्रदीप** में एक सौ उन्नीस अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत है। इसमें **कुवलयानन्द** में वर्णित 'मुद्रा' अलंकार को छोड़कर शेष सभी अलंकारों को ग्रहण किया गया है। इसके अतिरिक्त शोभकर-रचित **अलंकाररत्नाकर** से निश्चय अलंकार, **साहित्यदर्पण** से अनुकूल अलंकार **रसगंगाधर** से तिरस्कार अलंकार भी ग्रहण किये गये हैं।

---

१. द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती** में उद्धृत, पृ० ३१५

२. एवं दोषविशेषानुबन्धाद्गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः।

—**रसगंगाधर** पृ० ८०७

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकारकौस्तुभ में विश्वेश्वराचार्य ने पंडितराज जगन्नाथ की भाँति तार्किक शैली में अलंकारों का लक्षण-परिष्कार करने का प्रयास किया है इसमें उन्होंने इक्सठ अलंकारों की सत्ता स्वीकार की है। उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित निम्नलिखित अलंकारों में कुछ के अलंकारत्व का खण्डन किया है और कुछ का मम्मट सम्मत प्राचीन अलंकारों में ही अन्तर्भाव दिखाया है :--अनुगुण, अल्प, असम्भव, उन्मीलित, उल्लेख, निमीलित, निश्चय, परिकरांकुर, परिणाम, पूर्णरूप, प्रस्तुतांकुर, प्रहर्षण, प्रौढ़ोक्ति, मिथ्याध्यवसिति, युक्ति, ललित, लेश, विकस्वर, विचित्र, वितर्क, विशेष, विषाद, सम्भावना और हेतु।

इस प्रसंग में यह बात बड़ी विचित्र सी प्रतीत होती है कि एक ही आचार्य ने एक ग्रन्थ में एक सौ उन्नीस अलंकारों का विवेचन किया है और दूसरे ग्रन्थ में उनमें से कुछ अलंकारों के अलंकारत्व का और कुछ के स्वतन्त्र अस्तित्व का खण्डन कर दिया है। इसका कारण अज्ञात है। आचार्य विश्वेश्वर की प्रतिभा का प्रकाश-स्तम्भ **अलंकारकौस्तुभ** की टीका है।

इसप्रकार संस्कृत में अलंकार-निरूपण करने वाले आचार्यों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। जिन अलंकाररिकों का अलंकार-धारणा के विकास में मौलिक योग-दान नहीं है, उनकी कृतियों की समीक्षा नहीं की गई है।

उद्गम स्रोत की दृष्टि से अलंकारों को निम्न वर्गों में रखा जा सकता है—

१. **भरतमुनि-रचित लक्षण से आविर्भूत अलंकार**—जैसे अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, निदर्शना, संदेह आदि। आचार्य अभिनवगुप्त ने तो अलंकारों की संख्या-वृद्धि का प्रधान हेतु लक्षण को ही माना है।

२. **रीति वृत्ति आदि काव्य-तत्त्वों से समुद्भूत**—भोज ने रीति, वृत्ति आदि स्वतंत्र काव्यांगों को काव्यालंकार के रूप में परिगणित कर लिया है। वस्तुतः रीति वृत्ति आदि अलंकार से सर्वथा स्वतंत्र काव्याङ्ग हैं। भणिति, शय्या गुम्फना आदि भी ऐसे ही अलंकार हैं।

३. **गुण-धारणा से समुद्भूत** :—स्वभावोक्ति, अत्युक्ति, भाविक अलंकारों का मूल गुण-धारणा में है। भोजराज ने प्रशस्ति कान्ति औचित्य, संक्षेप और यावदर्थता को गुण रूप में स्वीकार किया है किन्तु अग्निपुराणकार ने प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप और यावदर्थता की गणना अलंकार के रूप में की हैं। औचित्य तो वस्तुतः न गुण है न अलंकार, वह तो काव्य का प्राणभूत स्वतंत्र तत्त्व है।

४. **नाट्यतत्त्वों के आधार पर कल्पित**--मुद्रा की कल्पना तथा नाट्यतत्त्व के आधार पर की गई है।

५. **दर्शन के क्षेत्र से काव्यक्षेत्र में अवतरित**—स्मरण, प्रत्यक्ष, उपमान, अनुमान, और आगम, आदि प्रमाण, वितर्क, अर्थापत्ति, विकल्प, आदि की धारणा

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

दर्शन से ली गई है और कुछ आलंकारिकों ने इनको अलंकार के रूप में स्वीकार कर लिया है।

७. अलंकार-विशेष के सूक्ष्म भेद के आधार पर कल्पित स्वतंत्र अलंकार—अलंकारशास्त्र के परवर्ती काल के आचार्यों में भेदीकरण की प्रवृत्ति के कारण थोड़े-थोड़े भेद के आधार पर अलंकारों की संख्या में वृद्धि होती गई और इस प्रकार पूर्व प्रतिपादित अलंकार से ही दूसरे अलंकार का जन्म हुआ यथा अनन्वय, उपमेयोपमा प्रतीप, प्रतिपोपमा परिकरांकुर, प्रस्तुतांकुर, गूढोक्ति, प्रोढोक्ति, युक्ति, मालादीपक, व्याजनिन्दा, पूर्व, असम्भव आदि।

७. अलंकार-विशेष के विपर्यय-स्वभाव से आविर्भूत—सामान्य, अतद्गुण, उन्मीलित, अल्प आदि अलंकारों के स्वरूप की कल्पना क्रमशः विशेष, तद्गुण, मीलित अधिक आदि के वैपरीत्य के आधार पर हुई मानी जा सकती है।

८. रस-भावादि की धारणा पर अवलम्बित—अलंकारवादी आचार्यों ने रस-भाव आदि को भी अलंकार के क्षेत्र में सन्निविष्ट कर दिया और इस प्रकार रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित आदि अलंकारों का आविर्भाव हुआ।

उपर्युक्त (अलंकार सम्बन्धी) सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर अलंकारों के क्रमिक विकास के मूल में निम्नलिखित प्रवृत्तियों को देखा जा सकता है—

१. लौकिक, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक वस्तुओं के स्वभाव के यथार्थ वर्णन में यद्यपि कोई आकर्षण प्रतीत नहीं होता, किन्तु जब वही यथार्थ वर्णन अपनी विशिष्ट सूक्ष्मताओं के साथ किया जाता है, तो उसमें एक विशेष चमत्कार का अनुभव होता है। इसी चमत्कार से सर्वप्रथम 'जाति' अथवा 'स्वभावोक्ति, अलंकार का जन्म हुआ है और यही (चमत्कार) भूत और भविष्य से सम्बद्ध होने पर 'भाविक' अलंकार के रूप में एवं उत्कर्ष से सम्बद्ध होने पर 'उदात्त' अलंकार के रूप में सहृदय हृदय को आह्लादित करता हुआ विकसित हुआ है।

(२) मानव की यह भी एक सामान्य प्रकृति है कि वह जिन परिस्थितियों में निरन्तर विकास करता है, कुछ काल के लिये उनसे भिन्न भी स्थितियों में वह आनन्द का अनुभव कराता रहा है। यथा—लोक-व्यवहार अथवा काव्य में सरल, सहज और सुबोध भाषा के निरन्तर प्रयोग के बीच में यथा-कदा किंचित्, दुर्बोध शब्दों का समावेश भी (जो श्रौता या पाठक के विचार प्रवाह को कुछ काल के लिये अवरुद्ध कर सके) आनन्द का कारण होता है। सम्भवतः यही प्रवृत्ति 'प्रहेलिका' 'गूढ़' गूढ़ोक्ति' व्याजोक्ति' श्लेष आदि अलंकारों के जन्म के मूल में रही प्रतीत होती है।

(३) लौकिक जीवन में आकर्षक अथवा प्रिय वस्तुओं और व्यक्तियों के चित्र सदा ही आकर्षण उत्पन्न करते रहते हैं। जहाँ एक ओर इस आकर्षण ने चित्रकला को जन्म दिया है, वहीं इसने काव्य के क्षेत्र में पद्म, मुसल, चक्र, सर्वतोभद्र, आदि

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विविध बंधों को जन्म दिया। इनमें विशेष प्रकार से की गई अक्षरयोजना कवि के चातुर्य-बोध के साथ-साथ दर्शक के हृदय में भी कौतूहल की सृष्टि करती है। कृत्रिमता की प्रधानता के कारण इस प्रवृत्ति से काव्यार्थ की प्रतीति में प्रायः बाधा उपस्थित होती है। इसीलिये आन्नदवर्धन और उनके अनुयायियों ने ऐसे कष्टसाध्य अलंकारों की आलोचना की है।[१] जिसके फलस्वरूप इस प्रकार के बंधमूलक चित्र अलंकारों के विकास में पर्याप्त निमंत्रण हुआ है।

(४) काव्य-रचना का मुख्य उद्देश्य वर्णनीय अर्थ को ललित रूप से श्रोता या पाठक के मानस में उपस्थित करना होता है। यह कार्य शब्द और अर्थ मिलकर करते हैं। शब्द उनके बाह्य साधन है और अर्थ आन्तर साधन। बाह्य साधन के सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तर साधन का सौंदर्य वर्णनीय वस्तु के वर्णन को अधिक ललित बना देता है। इस कारण अलंकारों के क्षेत्र में शब्दालांकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का अधिक महत्त्व होना स्वाभाविक है और इसीलिये अर्थालंकारों का अधिक महत्त्व होना स्वाभाविक है और इसीलिये अर्थालंकारों का विकास अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

(५) वर्णनीय वस्तु को बढ़ा चढ़ाकर कहने की प्रवृत्ति लोक और काव्य दोनों में समान रूप से पाई जाती है। भरत के **नाट्यशास्त्र** में अतिशय की यह प्रवृत्ति (काव्यगत) अलंकारविशेष के रूप में नहीं दिखाई पड़ती। स्वतंत्र अलंकार के रूप में इस प्रवृत्ति का सर्वप्रथम दर्शन भामह में होता है। रुद्रट के समय तो यह 'अतिशय' मूल अलंकारों में अन्यतम स्वीकार किया गया। इसी प्रवृत्ति से अतिशय, अतिशयोक्ति और अत्युक्ति आदि अलंकारों का जन्म हुआ।

(६) काव्यगत सादृश्य अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट एवं आहलादक तत्त्व माना जाता है, यह (सादृश्य) चाहे वर्णगत हो अथवा पदगत (शब्दगत) या पदार्थगत। प्रत्येक स्थिति में यह विविध अलंकारों द्वारा काव्य को चारुतर बनाते हुए काव्यार्थ के उन्मीलन में सहायक होता है। उदाहरणार्थ अनुप्रास आदि शब्दालंकारों एवं परुषा आदि वृत्तियों का आधार वर्णगत सादृश्य है, यमक, लाटानुप्रास एवं पुनरुक्त-वदाभास अलंकारों का मूल पदगत सादृश्य है और उपमा आदि अधिकांश अलंकारों का प्राण पदार्थगत सादृश्य है। वर्ण और पदगत सादृश्य की अपेक्षा पदार्थगत सादृश्य का महत्त्व कुछ अधिक कहा जा सकता है, क्योंकि जहाँ वर्णगत एवं पदगत सादृश्य केवल क्षणिक चमत्कार उत्पन्न करता है, वहाँ पदार्थगत सादृश्य का चमत्कार काव्यार्थ-प्रतीति (वर्णनीय वस्तु के सौन्दर्यबोध) तक रहने के कारण और भी अधिक स्थायी होता है। अनेक बार तो पदार्थगत सादृश्य पर ही काव्यार्थ की

---

१ ध्वन्यात्मभूतेश्रृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपिप्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥—ध्वन्यालोक २।१५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

प्रतीति निर्भर हुआ करती है। महाकवि कालिदास की उपमायें इसकी साक्षी हैं। इस सादृश्य के कारण ही नाट्यकला, काव्यकला और चित्रकला का विकास हुआ है। काव्य में यह सादृश्य वाक्य की अपेक्षा प्रतीयमान रूप में विद्यमान होने पर और भी अधिक सुन्दर हो जाता है।[1]

(७) रसभावादि काव्य की आत्मा कहे जाते हैं और काव्य में प्रधान रूप से उनकी विवक्षा रहती है, किन्तु कभी-कभी इन रसभावादि का उपनिबंधन अप्रधान रूप से भी होता है। उस स्थिति में भी रसभावादि की रसनीयता अतिशय आदि तत्त्वों की अपेक्षा अधिक मनोरम रहती है। रसवत्, प्रेय आदि अलंकारों का विकास इसी सौंदर्य प्रतीति के कारण हुआ है।

(८) सौन्दर्य के मूल-सादृश्य, अतिशय आदि उपयुक्त तत्त्वों के मिश्रण का भी अलंकारों के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उदाहरणार्थ अर्थ-श्लेष में सादृश्य और किञ्चित् दुर्बोधता का तथा अध्यवसितप्राधान्यमूला अतिशयोक्ति में सादृश्य और अतिशय का मिश्रण देखा जा सकता है। संसृष्टि और संकर अलंकार इसी मिश्रण के उदाहरण हैं।

(९) अलंकारों के विकास में उपर्युक्त सौंदर्यजन्य तत्त्वों के अतिरिक्त सौंदर्य को परखने वाली आलंकारिकों की दृष्टि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस दृष्टि-भेद के कारण अनेक नवीन अलंकारों की उद्भावना हुई है। उदाहरणार्थ किसी सौंदर्यपूर्ण वर्णन में जहाँ किसी एक आलंकारिक को सभी तत्त्वों में समान महत्त्व की प्रतीति होती है, किसी को किसी तत्त्वविशेष की प्रधानता तथा अन्य तत्त्व की गौणता (अप्रधानता) दृष्टिगत होती है, वहीं किसी अन्य आलंकारिक को इतर तत्त्व-विशेष की प्रधानता की अनुभूति होती है। इसी प्रकार एक तत्त्व में भी उसके अंगविशेष की प्रधानता की अनुभूति हो सकती है। इसके फलस्वरूप ही अनेक अलंकारों की उत्पत्ति हुई है। यथा दण्डी ने जहाँ अन्योन्योपमा, वाक्यार्थोपमा, तुल्ययोगोपमा और प्रतिवस्तूपमा नामक उपमा भेद मानते हुए एक उपमालंकार के दर्शन किये, वहीं रुय्यक आदि ने अनन्वय, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता और प्रतिवस्तूपमा नामक स्वतंत्र अलंकारों को स्वीकार किया।

जहाँ आचार्य भरत ने केवल चार अलंकारों द्वारा काव्यगत सौंदर्य की निज अनुभूति को प्रकाशित किया, वहाँ भामह ने उस सौंदर्यानुभूति का प्रकाशन ३८ अलंकारों में, उद्भट ने ४१ अलंकारों में, रुद्रट ने ६७ अलंकारों में, आचार्य मम्मट ने ६९ अलंकारों में, जयदेव और विश्वनाथ ने पृथक्-पृथक् रूप से ८९ अलंकारों में, शोभाकर मित्र ने १०८ अलंकारों में और अप्पयदीक्षित ने ११९ अलंकारों में किया है।

इस प्रकार दृष्टिभेद के आधार पर होने वाली चमत्कार की अनुभूति के अनन्त होने के कारण अलंकारों की संख्या की इयत्ता का निर्धारण कर सकना भी सम्भव नहीं प्रतीत होता है।[2]

———

१. वाच्यात् प्रतीयमानोऽर्थः तद्विदां स्वदते स्वयम्।
रूपकादिरतः श्रेयानलंकारेषु नोपमा ॥—**व्यक्तिविवेक** २।३९, पृ० ३०५।

२. ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते, कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥ —**काव्यादर्श** २।१

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

५

अलंकारों का वर्गीकरण

विश्व के समस्तपदार्थ एक ओर जहाँ कुछ वैधर्म्य के आधार पर परस्पर वैशिष्ट्य अथवा भेद रखते हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ समान्य धर्मों के आधार पर उनमें एकता भी देखी जाती है। इन्हीं समान एवं भिन्न धर्मों के आधार पर उन्हें विविध वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है। काव्यशरीर को विभूषित करने वाले अलंकारों का परस्पर वर्गीकरण भी इसी प्रकार कुछ साधर्म्य के आधार पर किया गया है। अलंकारशास्त्र के आदिआचार्य भामह से लेकर अब तक प्रायः सभी आलंकारिकों ने अलंकारों का वर्गीकरण प्रमुख रूप से दो वर्गों में किया है—शब्दालंकार और अर्थालंकार। इन अलंकारों को शब्द के दो साधारण धर्मों से संयुक्त किया जा सकता है—१. संगीत धर्म २. चित्र धर्म। अनिर्वचनीय रसानुभूति को अभिव्यक्त करने के लिये सर्वोत्तम साधन है संगीत। क्योंकि काव्य का उद्देश्य भी अनिर्वचनीय रस की अनुभूति कराना है और यह कार्य विशिष्ट शब्द और अर्थ द्वारा ही सम्भव होता है, इसीलिए भाषा में इस वैशिष्ट्य का होना आवश्यक हो जाता है। भाषा को व्यावहारिक धरातल से उठा कर वैशिष्ट्य प्राप्त कराने में संगीत बहुत सहायक होता है। काव्य के संगीत-धर्म का प्रकाशन एक ओर तो छन्द के द्वारा होता है और दूसरी ओर शब्दालंकारों के द्वारा। इनके द्वारा शब्द के अर्थ विविध ध्वनित तरंगों में विस्तृत होकर हृदयगत भावों को आभासित करते हैं, किन्तु जब कभी वे (शब्दालंकार) केवल वागेश्वर्य के प्रकाशन के लिये ही निबद्ध होते हैं, तो उस स्थिति में वे अलंकार न रहकर व्याधि रूप अर्थात् दोष रूप बन जाते हैं। शब्द-रचना पर आधारित माधुर्य और ओज गुण भी शब्द के संगीत धर्म की सृष्टि हैं।[१] शब्दालंकार न केवल कटककुण्डलादि के समान बाह्य सौंदर्य के ही अभिव्यंजक होते हैं, अपितु साधारण शब्द और अर्थ द्वारा जिसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती, उसे उनकी संगीतमय झंकार द्वारा प्रकट कर दिया जाता है। अभिव्यंजना के इस कौशल को चेष्टापूर्वक नहीं लाया जाता, अपितु यह कौशल स्वतः अहम्पूर्विकया उपस्थित होता है।[२] इस प्रकार शब्दालंकारों को काव्यगत भाषा के संगीत-धर्म के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है।

---

१. आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे दुतिकारणम् ॥

—काव्यप्रकाश ८।६८, पृ० ३८८।

२. अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहित चेतसः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे इत्यादि।

—ध्वन्यालोक २।१६, वृत्ति (आचार्य विश्वेश्वरकृत टीका) पृ० १४७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अर्थालंकार भाषा के चित्र धर्म के अन्तर्गत आते हैं। यहाँ चित्रधर्म का तात्पर्य है—बाहर की किसी वस्तु या घटना के (स्मृति में विद्यमान) स्फुट या अस्फुट चित्र को मानसपटल पर जाग्रत कर उसकी सहायता से वर्णनीय को व्यक्त करने का धर्म। हम जो कुछ भी सोचते या समझते हैं, वह सम्पूर्ण नहीं, तो अधिकांश बहिर्जगत् की वस्तु या घटना की अनुकृति की छाया में ही होता है। भाषा में निहित बहिर्जगत् की प्रतिच्छवि ही भाषा का चित्रधर्म है। यह चित्रधर्म ही विकसित होकर नाटक, आख्यायिका आदि विशिष्ट काव्य प्रकारों, उपमा आदि अर्थालंकारों तथा लोक-भाषा में लोकोक्ति और मुहावरों की सृष्टि करता है। उदाहरणार्थ—जब हम एक प्रयत्न द्वारा दो कार्य सिद्ध करते हैं, तब' एक तीर से दो निशाने मारते हैं'। हम पर 'हठात् विपत्ति' आकस्मिक 'वज्रपात' बन जाती है। ,महामूर्खबाहीक' 'गौ' कहा जाता है और अपात्र व्यक्ति के समीप निष्फल निवेदन 'अरण्यरोदन' बन जाता है। यह सब चित्रधर्म की ही महिमा है और इसी के प्रभाव से प्रेयसी का मुख चन्दमा, उसकी आँखें कमल, ओष्ठ विम्बफल एवं पाणि पल्लव बन जाते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि काव्य के चित्र धर्म—अर्थालंकार—काव्य के भूषणस्वरूप ही नहीं हैं, अपितु उनके बिना हमारी भाषा, विशेषत: काव्यभाषा चल ही नहीं सकती, मन के भाव अभिव्यक्त ही नहीं हो सकते।

अलंकारों के उपर्युक्त द्विविध वैशिष्ट्य को देखकर ही सर्वप्रथम उनका विभाजन शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार (शब्दार्थालंकार) के रूप में किया जाता है। जैसे लोक में कानों पर आश्रित रहने वाले कुण्डल आदि कर्णालंकार, हाथों में पहने जाने वाले केयूर आदि हस्तालंकार तथा पादाश्रित नूपुर आदि पादालंकार कहे जाते हैं, वैसे ही शब्दाश्रित अलंकार शब्दालंकार और अर्थाश्रित अलंकार अर्थालंकार कहे जाते है।[1] जिन अलंकारों में दोनों धर्मों का एक साथ समावेश दिखाई पड़ता है, उनको शब्दार्थालंकार की संज्ञा दी जाती है।

इस प्रकार अलंकारों को प्रधानतया शब्द तथा अर्थ दो भागों में बाँटा जाता है। भरतमुनि ने जिन चार (उपमा, दीपक, रूपक और यमक) अलंकारों का[2] उल्लेख किया है, उनमें यमक शब्दालंकार हैं तथा शेष तीन अर्थालंकार हैं। इसके पश्चात्

---

१. लोके हि यथा कर्णाश्रितः कुण्डलादिः कर्णालंकारः उच्यते, स पुनः सुवर्ण-कारणहेतुकत्वात्तदलंकारः ॥--**अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिणी**, पृ० १२४–१२५।

२. उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः। —नाट्यशास्त्र १६ ४०

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

भामह ने भी अनुप्रास तथा लाटानुप्रास को शब्दालंकारों की श्रेणी में रखा और अर्थालंकारों की संख्या में वृद्धि की। यद्यपि इन आचार्यों में से किसी ने भी न तो अलंकारों के विभाग का स्पष्टतः उल्लेख किया है और न उनका कोई आधार वर्णित किया है। किन्तु भामहाचार्य को कवि माघ की भाँति दोनों ही समान रूप से अभिप्रेत थे।[१] भामह ने **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**[२] रूप से काव्य की परिभाषा की थी अलंकार की कल्पना भी इन्हीं दो—शब्द तथा अर्थ में सीमित की जा सकती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भामह अलंकारों को शब्द तथा अर्थ दो भागों में विभाजित करना उचित समझते थे किन्तु उन्होंने इस विभाग का आधार संकेतित नहीं किया है। यही कारण है कि उन्होंने शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों को एक साथ एक वर्ग में वर्णित किया है।[३] तथा स्पष्ट कहा है कि वाणी की शोभा तो शब्द और अर्थ की वक्रता से बढ़ती है।[४]

आचार्य दण्डी ने भी गुण, दोष तथा अलंकार तीनों के शब्दगत तथा अर्थगत होने का निर्देश किया है। कि **काव्यादर्श** ग्रन्थ में काव्यशरीरभूत शब्द और अर्थ, उनके (शब्दगत और अर्थगत) अलंकार, सुकर एवं दुष्कर चित्र काव्यप्रकार तथा काव्य के गुण और दोष संक्षेप से निरूपित कर दिये गये हैं।[५] दण्डी ने शब्दालंकारों का तृतीय परिच्छेद में स्वतन्त्र रूप से विशद विवेचन किया है। इसीप्रकार उद्भट ने अपने ग्रन्थ **काव्यालंकारसारसंग्रह** को छः वर्गों में विभाजित करके प्रथम वर्ग में पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, उपमा, दीपक, तथा प्रतिवस्तूपमा शब्दार्थालंकारों को रखा है। भामह, दण्डी और उद्भट को अलंकारों का शब्दार्थ विभाग तो ज्ञात प्रतीत होता है, यद्यपि उन्होंने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का नाम-संकीर्तन पूर्वक पृथक् रूप से विवेचन नहीं किया है।

आचार्य वामन ने सर्वप्रथम आश्रय-आश्रयिभाव सिद्धान्त के आधार पर गुणों का शब्दगत और अर्थगत रूप से द्विविध विभाजन किया है। और अलंकारों को भी दो भागों में विभाजित किया है। 'आलंकारिक' नामक चतुर्थ अधिकरण के प्रथम

---

१. तुलनीय (क) शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।

—**शिशुपालवध** २।८६।

(ख) शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः।

—**काव्यालंकार** (भामह) १।१५।

२. **वही**, १।१६। (३) द्रष्टव्य —**वही**, २।४

४. वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिलंकाराय कल्पते। —**वही** ५।६६।

५. शब्दार्थालंक्रियाश्चित्रमार्गाः सुकर दुष्कराः।

गुणा दोषाश्च काव्यानामिह, संक्षिप्य दर्शिताः॥ —**काव्यादर्श** ३।१८६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अध्याय में केवल दो शब्दालंकारों—यमक और अनुप्रास—का प्रतिपादन किया है;[1] दूसरे अध्याय में अर्थालंकारों का वर्णन किया है।[2] काव्य में अलंकारों के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है। सौंदर्य ही अलंकार है। काव्य में सौंदर्य का समावेश गुण तथा अलंकार के ग्रहण एवं दोषाभाव के कारण होता है।[3] रीतिसम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य वामन ने अर्थालंकारों में केवल उन्हीं अलंकारों की सत्ता स्वीकार की है, जिनके मूल में सादृश्य हो। वे सभी अलंकारों को उपमाप्रपञ्च सिद्ध करना चाहते हैं।[4]

अर्थालंकारों के वर्गीकरण का सर्वप्रथम स्पष्ट एवं स्वतन्त्र प्रयास आचार्य रुद्रटकृत **'काव्यालंकार'** में प्राप्त होता है। उन्होंने काव्य के समस्त अर्थालंकारों को चार वर्गों में विभाजित किया है—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष।[5] मौलिकता की दृष्टि से रुद्रट का यह वर्गीकरण सर्वप्रथम वर्गीकरण माना जा सकता है। इस वर्गीकरण में उन्हें भामह आदि पूर्ववर्ती आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं से भी सहायता मिली है। भामह ने वक्रोक्ति की प्रशंसा की,[6] तो दण्डी ने उसका भी मूल श्लेष मानते हुए स्वभावोक्ति (वास्तव) में और 'वक्रोति' दोनों में ही समस्त वाङ्मय को समाहित माना।[7] तथा वामनाचार्य ने भी सभी अर्थालंकारों को उपमा प्रचञ्च कहकर

---

१. तत्र शब्दालंकारौ द्वौ यमकानुप्रासौ। —**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** ४।१।

२ सम्प्रत्यर्थालंकारणां प्रस्तावः। —**वही** ४।२।

३. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौंदर्यमलंकारः।
स दोषगुणालंकारहानादाभ्याम्।

४. (क) प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः। —**वही** ४।३।१।
(ख) ······शब्दवैचित्त्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिताः।
वही, वृत्ति पृ० २८०।

५. अर्थस्यालंकारा वास्तवमोपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट) ७।९, पृ० १९०।

६. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥
—**काव्यालंकार** (भामह) २।८५, पृ० ६२।

७. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥
—**काव्यादर्श** २।३६३, पृ० २१९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

साङ्ख्य तत्त्व को प्रधानता दी। इस प्रकार रुद्रट ने पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट स्वभावोक्ति (वास्तव), वक्रोक्ति (अतिशय) और श्लेष के साथ औपम्य को जोड़कर वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार वर्गों के अन्तर्गत समस्त अलंकारों को समाविष्ट कर दिया। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि आचार्य रुद्रट ने अलंकारों के इतिहास में वर्गीकरण सम्बन्धी नवीन परम्परा का प्रवर्तन किया।

उपर्युक्त चार भेदों में समस्त अलंकारों को विभाजित करते हुए आचार्य रुद्रट ने सहोक्ति, समुच्चय, उत्तर, विषम, हेतु, उत्प्रेक्षा और पूर्व आदि कुछ अलंकारों को दो दो भागों में परिगणित किया है। यथा अधिक और विरोध को अतिशय और श्लेष वर्ग में, उत्तर, सहोक्ति और समुच्चय को वास्तव और औपम्य वर्ग में, विषम को वास्तव और अतिशय वर्ग में, पूर्व और उत्प्रेक्षा को औपम्य और अतिशय वर्ग में। इसप्रकार समान संज्ञा होने पर भी वर्ग भेद से उनके स्वरूप पृथक् हो जाते हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता भोजराज ने अलङ्कारों को स्पष्टतः तीन वर्गों में विभाजित किया है—१. शब्दालङ्कार २. अर्थालङ्कार और ३. उभयालङ्कार (शब्दार्थालङ्कार)।[१] आचार्य भोजराजकृत यह वर्गीकरण अलङ्कारों में रहने वाले चारुत्व के आधार को ध्यान में रखकर किया गया है। कवि रमणीय अर्थ की प्रतीति के लिए विशेष प्रकार की योजना का आश्रय लेता है, अतः वह चारुत्व कभी केवल शब्द में रहता है, कभी केवल अर्थ में और कभी समान रूप से शब्द और अर्थ दोनों में रहता है। चारुत्व के उपर्युक्त तीन आश्रयों को आधार मानकर किया गया यह त्रिधा वर्गीकरण काव्यशास्त्र में एक मौलिक स्थापना मानी जा सकती है। उत्तरकालीन मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने वर्गीकरण के इस आधार को सामान्य रूप से स्वीकार किया है। इस प्रकार भोजराज के समय तक अलङ्कारों का वर्गीकरण शब्द, अर्थ तथा उभय वर्गों में किया जाता था। किन्तु अलङ्कारों के इस त्रिवर्ग-विभाजन का सिद्धान्त विकसित नहीं हुआ था।

---

१. शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरलंकारान् कवीश्वराः।
वाह्यानाभ्यन्तरान् बाह्याभ्यन्तरांश्चानुशासति ॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण** २।१, पृ० १४०।

ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः।
शब्दालंकारसंज्ञास्ते ज्ञेया जात्यादहो बुधैः ॥—वही २।२, पृ० १४०।
अलमर्थलंकर्तुं यद् व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना।
ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञैस्तेऽर्थालंकारसंज्ञया ॥—वही ३।१, पृ० ३३७।
शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादिः प्रतीयते।
विशिष्टोऽर्थः कवीनां स उभयालंक्रियाः मताः ॥—वही ४।१, पृ० ३९७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

यद्यपि वामन के शब्दगुण तथा अर्थगुण को निश्चित करने के आधार ने आश्रय-आश्रयिभाव का संकेत अवश्य कर दिया था। किस अलंकार को शब्द का और किसको अर्थ का स्वीकार किया जाए, इस पर सम्भवतः सर्वप्रथम आलोचनात्मक विवेचन राजानक तिलक से प्रारम्भ होता है। उन्होंने अलङ्कार-विभाजन के नियामक दो सिद्धान्तों—१.आश्रय-आश्रयिभाव तथा २. अन्वय-व्यतिरेकभाव के मानदण्डों की चर्चा अपनी विवृत्ति में की है। उन्होंने उद्‌भट के पुनरुक्तवदाभास को उभयालङ्कार की कोटि में रखकर अलङ्कार का त्रिविध विभाजन भी प्रतिपादित किया है।[1] अन्वय-व्यतिरेकवाद के प्रमुख समर्थक आचार्य मम्मट तथा आश्रय-आश्रयिभाव के प्रमुख प्रतिपादक राजानक रुय्यक दोनों अपने सिद्धान्तों के निरूपण के लिये राजानक तिलक के ऋणी हैं। कुछ आचार्य दोनों सिन्द्धातों का उद्‌भावक आचार्य उद्‌भट को मानते हैं। समुद्रबन्ध के अनुसार उद्‌भट आदि प्राचीन आचार्य आश्रय-आश्रयिभाव सिद्धान्त के समर्थक थे। इनके अनुसार अन्वय-व्यतिरेकवाद न केवल युक्तिहीन ही है, अपितु प्राचीन आचार्यों के मत के विपरीत भी है।[2] राजानक तिलक किस मत को वरेण्य मानते थे यह निर्णय कर सकना कठिन प्रतीत होता है। सहृदय को किसी अलङ्कार-विशेष में शब्दालङ्कारकृत चारुत्व आदि आकृष्ट करता है अथवा कवि-विवक्षा शब्दवैचित्र्य या अर्थवैचित्र्य में से किसी एक के प्रति विशेष है, तो उसी के अनुरूप अलङ्कार का निर्णय किया जा सकता है। आपाततः परस्पर विरोधी दोनों सिद्धान्तों—आश्रय-आश्रयिभाव तथा अन्वय-व्यतिरेकवाद—के प्रति राजानक तिलक के रूझान का सम्भवतः यही कारण हो सकता है।

अन्वय-व्यतिरेकवाद के समर्थक आचार्य मम्मट ने भी अलङ्कारों की त्रिविधता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि इस प्रकार शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत—ये तीन प्रकार के अलङ्कार (नवम तथा दशम उल्लासों में) प्रतिपादित किये गये हैं।[3]

मम्मट ने शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार की व्यवस्था का

---

१. तत्र आद्यः (पुनरुक्तवदाभासः) उभयस्य शब्दस्यार्थस्य च। ततस्त्रयः शब्दस्य। शेषास्त्वर्थस्यालंकाराः।—**विवृत्ति**, पृ० १।

२. (क) अन्वय-व्यतिरेकपक्षं न केवलं युक्तिविरोधः उद्‌भटादिर्श्वाचार्यविरोधोऽपि।—(**अलङ्कारसर्वस्व**), समुद्रबन्ध, पृ० २२८।

(ख) तस्मादश्रयाश्रयिभावेनैव चिरन्तनमतानुसृतिः।

—**अलङ्कारसर्वस्व**, पृ० ५७।

३. इति प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यजुषोऽलंकाराः।

—**काव्यप्रकाश** १०।१४१, वृत्ति।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कारण अन्वय-व्यतिरेकभाव को बताते हुए लिखा है कि जो अलंकार जिस (शब्द, अर्थ या शब्दार्थ-युगल) के अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करता है, वह उसका ही अलंकार है, यह व्यवस्था की जाती है।[1] जो अलंकार जिस शब्द या अर्थ के आश्रित है, वह उसका ही अलंकार कहलाता है, इस कल्पना में भी अन्वय और व्यतिरेक का ही आश्रय लेना पड़ेगा, क्योंकि यहाँ उस अन्वय-व्यतिरेक रूप निमित्त (आश्रय) के बिना कोई और विशेष प्रकार का आश्रय-आश्रयिभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः अलंकारों का अन्वय-व्यतिरेक निमित्तक ही (शब्दगत, अर्थगत और उभयगत) परस्पर भेद मानना अधिक अच्छा है।[2] स्पष्ट है कि मम्मट अन्वय-व्यतिरेकवाद के प्रमुख समर्थक हैं। उनके अनुसार न केवल अलंकार, अपितु दोष और गुण के भी शब्दार्थोभय विभाग का आधार अन्वय-व्यतिरेकभाव है। आश्रय-आश्रयिभाव के कारण अलंकारों का शब्दार्थविभाजन निश्चित नहीं किया जा सकता। अन्वय-व्यतिरेकवाद को मानने से शब्दालंकार अर्थालिंकार और अर्थालिंकार शब्दालंकार बन सकते हैं। उनके अनुसार ऐसे अलंकार जो केवल शब्द या केवल अर्थ पर आश्रित हों, कम प्राप्त होंगे। फिर सभी शब्दालंकारों का अर्थ से और सभी अर्थालिंकारों का शब्द से सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। शब्द के बिना अर्थ कैसे होगा, अतः आश्रय-आश्रयिभाव के कारण अलंकारों का शब्दार्थविभाग निश्चित नहीं किया जा सकता।

---

१. (क) कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलंकारः शब्दस्य, कश्चिदर्थस्य, कश्चिच्चोभयस्येति चेत्। उक्तमत्र यथा काव्ये दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायामन्वय-व्यतिरेकावेव प्रभवतः निमित्तान्तरस्याभावात्। ततश्च योऽलंकारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधन्ते स तदलंकारो व्यवस्थाप्यते······।

—काव्यप्रकाश १०।१४१, वृत्ति।

(ख) इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सः अन्वय-व्यति-रेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। तथाहि—कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयः व्यर्थ-त्वादि प्रौढ्याद्युपमादयस्तद्भाव-तदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते।

२. योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकार इत्यपि कल्पनायां अन्वय-व्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ। तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावात्। इत्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्।

—वही, १०।१४१ वृत्ति।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य मम्मट ने अलंकार का निर्णायक तत्त्व जानने के लिये तर्क प्रणाली को अपनाया है, किन्तु अलंकार से चमत्कारोत्पत्ति की मानसिक दशा तार्किक दशा से भिन्न होती है। चमत्कार की स्थिति में सहृदय पाठक अन्वय-व्यतिरेक के बुद्धि-व्यापार द्वारा तर्क का आश्रय नहीं लेता। अलंकार यदि विच्छित्ति है, वैचित्र्य है, तो अमुक अलंकार किस पर आश्रित है, यह ज्ञान भी अलंकार से उत्पन्न सौन्दर्यबोध के साथ ही हो जाना स्वाभाविक है, उसके ज्ञान की भिन्न प्रक्रिया नहीं होती। सौन्दर्य प्रतीति के साथ सौन्दर्य का कारण भी जुड़ा रहता है। अत: अलंकार बोध के साथ ही अलंकार के आश्रय तत्त्व या नियामक नत्त्व का ज्ञान हो जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अन्वय-व्यतिरेकभाव का खण्डन करते हुए कहा है कि इससे आश्रय का ज्ञान नहीं हो सकता। इससे तो केवल हेतु का ज्ञान होता है। अतः अन्वय-व्यतिरेकभाव के द्वारा यह नहीं जाना जा सकता कि अमुक अलंकार का आधार शब्द है या अर्थ।[1]

रुय्यक के अनुसार जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है, वह उसका अलंकार होता है। यदि अलंकार शब्द पर आश्रित है तो शब्दालंकार, अर्थ पर आश्रित है तो अर्थालंकार और शब्द तथा अर्थ दोनों पर आश्रित है तो उभयालंकार कहा जायेगा। लौकिक आभूषणों पर भी यही वात चरितार्थ होती है कि कटक हाथ का, कुण्डल कानों का तथा नूपुर पैरों का अलंकार कहा जाता है।[2]

भोजराज और मम्मट के वर्गीकरण के अनन्तर अपने पिता राजानक तिलक के अनुयायी तथा आश्रयाश्रयिभाव सिद्धान्त के समर्थक राजानक रुय्यक ने अलंकारों का त्रिविधविभाजन (शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार) अधिक स्पष्ट रूप से किया है। उन्होंने पौनरुक्त्य की तीन कोटियाँ मानी हैं—अर्थपौनरुक्त्य, शब्द-पौनरुक्त्य और शब्दार्थपौनरुक्त्य।[3] **अलङ्कारसर्वस्वकार** ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रारम्भ में पौनरुक्त्य के भेदों का उल्लेख अलंकारों का श्रेणीविभाग करने के लिये हुआ है।[4] अर्थ की अपेक्षा शब्द की प्रतीति पहले होती है तथापि पहले अर्थ

---

१. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि हेतुत्वावगमो घटं प्रति दण्डादेरिवास्तु न तु आश्रयत्वावगमः स पुनस्तद्वृत्तित्वाज्ञानत्वाधीनः।—**रसगंगाधर**, पृ० ४०२।

२. लोके हि योऽलङ्कारो यदाश्रितः स तदलङ्कारतयोच्यते यथा कुण्डलादिः कर्णाद्याश्रितस्तदलंकारः।—**अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी**, पृ० २५७।

३. इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकाराः।—**अलङ्कारसर्वस्व**, सूत्र १।

४. आदौ पौनरुक्त्यप्रकारवचनं वक्ष्यमाणालंकाराणां कक्षाविभागघटनार्थम्।
—**वही**, वृत्ति सूत्र १।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

पौनरुक्त्य का निर्देश पुनरुक्तवदाभास अलंकार का लक्षण करने के लिये किया गया है।[1] अलंकारों के इस त्रिविध विभाजन को रुय्यक ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम सूत्र में इस प्रकार स्पष्ट किया है कि इन शब्दालंकारों, अर्थालंकारों तथा उभयालंकारों का संक्षेप में सूत्रण कर दिया गया है। इनमें से यमक आदि शब्दालंकार हैं। उपमा आदि अर्थालंकार हैं। लाटानुप्रास आदि उभयालंकार हैं। संसृष्टि और संकर ये दो मिश्ररूप अलंकारों के भेद भी उभयालंकार होते हैं।[2] आचार्य रुय्यक ने अलंकारों के त्रिविध वर्गीकरण को स्वीकार करते हुए भी अलंकारों का पुनर्वर्गीकरण अलंकारों के मूल तत्त्वों के आधार पर निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है—पौनरुक्त्यमूलक, वाच्य और गम्य सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, शृङ्खलाबंधमूलक, तर्क न्यायमूलक, गूढार्थप्रतीति मूलक, रसादिप्रतीति मूलक, स्वभावमूलक आदि। पौनरुक्त्यमूलक अलंकारों में वर्णपौनरुक्त्य, पदपौनरुक्त्य तथा पदार्थपौनरुक्त्य (केवल तात्पर्यभेद की प्रतीति होने पर) भेद होते हैं। सादृश्यमूलक वर्ग का आधारभूत तत्त्व साधर्म्य है। इस वर्ग के प्रथमतः दो भेद हो जाते हैं—१. वाच्यसादृश्यप्रधान २. गम्यसादृश्य प्रधान और वाच्यसादृश्यप्रधान वर्ग के पुनः दो उपभेद हो जाते हैं—१. भेदाभेदतुल्य प्रधान और २. अभेद प्रधान। अभेदप्रधान वर्ग पुनः दो प्रभेदों में विभाजित हो जाता है–१ आरोपमूलक और २. अध्यवसायमूलक। अध्यवसायमूलक वर्ग पुनः दो खण्डों में विभाजित होता है—१. अध्यवसायव्यापारप्रधान २. अध्यवसितव्यापारप्रधान। गम्यसादृश्यमूलक वर्ग के ५ भेद हैं—१. पदार्थगतगम्यसादृश्य २. वाक्यार्थगतगम्यसादृश्य ३. भेदप्रधानगम्यसादृश्य ४. विशेषणवैचित्र्यगम्यसादृश्त और ५. विशेषणविशेष्यवैचित्र्यगम्यसादृश्य। इसके अतिरिक्त रुय्यक ने विरोधमूलक अलंकार, शृङ्खलाबन्धमूलक अलंकार, न्यायमूलक अलंकार (तर्कन्यायमूलक, वाक्यन्यायमूलक और लोकन्यायमूलक), गूढार्थप्रतीतिमूलक, रसादिप्रतीतिमूलक, स्वभावप्रतीतिमूलक और मिश्रित वर्गों अन्य अलंकारों को वर्गीकृत किया है।

---

१. अर्थापेक्षया शब्दस्य प्रतीतावन्तरंगत्वेऽपि प्रथममर्थगतधर्मनिर्देशश्चिरंतनप्रसिद्धया पुनरुक्तवदाभासस्य पूर्वं लक्षणार्थः।—वही, वृत्ति, सूत्र १।

२. (क) एवमेते शब्दार्थोभयलंकाराः संक्षेपतः सूत्रिताः।
—वही, वृत्ति, सूत्र ८७।

(ख) तत्र शब्दालंकारा यमकादयः। अर्थालंकाराः उपमादयः। उभयालंकारा लाटानुप्रासदयः। संसृष्टिसंकरप्रकारयोरपि कयोश्चित्तद्रूपत्वात्।—वही, वृत्ति, सूत्र ८७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य रुय्यक द्वारा स्वीकार किया गया अलंकारों का वर्गीकरण निम्न-लिखित है :—

१. पौनरुक्त्यमूलक—

(क) **वर्णपौनरुक्त्यमूलक**—१. वृत्त्यनुप्रास २. छेकानुप्रास ।

(ख) **पदपौनरुक्त्यमूलक**—१. यमक ।

(ग) **पदार्थपौनरुक्त्यमूलक**—१. लाटानुप्रास (तात्पर्य भेद होने पर)
२. पुनरुक्तवदाभास (पुनरुक्ति की प्रतीतिमात्र होने पर) ।

२. सादृश्यमूलक—

(क) **वाच्यसादृश्यप्रधान**—१. **भेदाभेदतुल्यप्रधान**–१. उपमा २. उपमेयोपमा ३. अनन्वय और ४. स्मरण।

२. **अभेदप्रधान** (अ) **आरोपमूलक**—१. रूपक २. परिणाम ३. संदेह ४. भ्रान्तिमान् ५. उल्लेख और ६. अपह्नुति ।

(ब) **अध्यवसायमूलक**—
१. अध्यवसान व्यापारप्रधान–१. उत्प्रेक्षा
२. अध्यवसितव्यापरप्रधान—
१. अतिशयोक्ति ।

(ख) **गम्यसादृश्यप्रधान—**

१. **पदार्थगतसादृश्यमूलक**—१. तुल्योगिता और २. दीपक ।

२. **वाक्यार्थगम्यसादृश्यमूलक**—१. प्रतिवस्तूपमा २. दृष्टान्त और ३. निदर्शना ।

३. **भेदप्रधानगम्यसादृश्यमूलक**—१. व्यतिरेक २. सहोक्ति और ३. विनोक्ति ।

४. **विशेषणवैचित्र्यगम्यसादृश्यमूलक**—१. समासोक्ति और २. परिकर ।

५. **विशेषणविशेष्यवैचित्र्यगम्यसादृश्यमूलक**—

१. श्लेष २. अप्रस्तुतप्रशंसा ३. अर्थान्तर-न्यास ४. पर्यायोक्त ५. व्याजस्तुति और ६. आक्षेप ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

३. सादृश्येतर वर्ग—

१. विरोधमूलक—१. विरोध २. विभावना ३. विशेषोक्ति ४. सम ५ विचित्र ६. अधिक ७. अन्योन्य ८. विशेष ९. व्याघात १०. अतिशयोक्ति (कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलक), ११. असंगति १२. विषम।

२. शृंखलाबंधमूलक—१. कारणमाला २. एकावली ३. मालादीपक और ४. सार।

३. न्यायमूलक–(क) तर्कन्यायमूलक—१. काव्यलिंग और २. अनुमान।

(ख) वाक्यन्यायमूलक—१. यथासंख्य २. पर्याय ३. परिवृत्ति ४. अर्थापत्ति ५. विकल्प ६. परिसंख्या ७. समुच्चय और ८. समाधि।

(ग) लोकन्यायमूलक—१. प्रत्यनीक २. प्रतीप ३. मीलित ४. सामान्य ५. तद्गुण ६. अतद्गुण और ७. उत्तर।

४. गूढार्थप्रतीतिमूलक— १. सूक्ष्म २. व्याजोक्ति और ३. वक्रोक्ति।

५. रसादिप्रतीतिमूलक—१. रसवत् २. प्रेय ३. ऊर्जस्वि ४. समाहित ५. भावोदय ६. भावसंधि और ७. भावशबलता।

६. स्वभावप्रतीतिमूलक—१. स्वभावोक्ति २. भाविक और ३. उदात्त।

७. मिश्रितवर्ग— १. संसृष्टि और २. संकर।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अलकारशास्त्र में आचार्य रुद्रट, भोज और रुय्यक ने अलंकारों के वर्गीकरण का जो प्रयास किया है, उसमें आचार्य रुय्यक कृत वर्गीकरण प्रौढ़, स्पष्ट और पूर्ण प्रतीत होता है। अतः विविध वर्गीकरणों में उनका (रुय्यक का) वर्गीकरण सर्वाधिक प्रशस्त कहा जा सकता है।

अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक से परवर्ती आलंकारिकों—विद्याधर तथा विद्यानाथ आदि ने अलकार विभाजन के सम्बन्ध में रुय्यक का पूर्णतः अनुसरण किया है।[1] हेमचन्द्र ने पुनरुक्तवदाभास तथा अर्थान्तरन्यास को उभयालंकार मानना अधिक तर्कसंगत समझते हुए भी उभयालंकार की अलग कोटि नहीं मानी है। उनका कथन है कि जहाँ शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों होते हैं, उनमें से किसी एक का वैचित्र्य अधिक उत्कट रहता है, अतः अलंकारों का द्विविध विभाजन ही उचित है।[2]

१. तत्र प्रथमं शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यमलंकाराणाम्।

—**प्रतापरुद्रयशोभूषण**, पृ० ३३७।

२. यद्यपि पुनरुक्तवदाभासार्थान्तरन्यासादयः केचिदुभयान्वयव्यतिरेकानुविधायिनोऽपि दृश्यन्ते तथापि तत्र शब्दस्यार्थस्य वा वैचित्र्यमुत्कटमिति उभयालंकारत्वमनपेक्ष्यैव शब्दालंकारत्वेन अर्थालंकारत्वेन चोक्ताः।

—**काव्यानुशासन**, पृ० ३५१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कविराज विश्वनाथ को अलंकारों का त्रिविध विभाग अभीष्ट प्रतीत होता है। इसलिये पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार मानना उनकी दृष्टि से अधिक उचित है।[१] अप्पयदीक्षित तथा जगन्नाथ ने शब्दालंकार तथा उभयालंकार का निरूपण नहीं किया है तथापि चित्रकाव्य के विभाग से प्रतीत होता है कि उन्हें भी यह विभाजन अभीष्ट है।[२] पंडितराज जगन्नाथ ने केवल ७० अर्थालंकारों का विश्लेषण किया है, शब्दालंकारों का वर्णन नहीं किया है।

—:०:—

---

१. शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालंकारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वाप्रथमं तमेवाह। —**साहित्यदर्पण** १०।१, वृत्ति, पृ० ६६६।

२. (क) शब्दचित्रस्य प्रायोनीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत इति शब्दचित्रांशमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते। —**चित्रमीमांसा**, पृ० ५।

(ख) तत् (चित्रं) त्रिविधं—शब्दचित्रमर्थचित्रमुभयचित्रमिति। यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्।
—**रसगंगाधर**, पृ० १९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

६
शब्दालंकार

शब्दों के सौन्दर्य से काव्यानन्द की अभिव्यक्ति होती है, इस धारणा के कारण ही अलंकार की प्रवृत्ति विकसित हुई है। सौन्दर्य का दूसरा पर्याय ही अलंकार है और अलंकार-काव्य की उत्कृष्टता का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। शब्दालंकार का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी अपनी वाणी को सजाकर बोलने का प्रयास करता है, जिसमें सहसा शब्दालंकार आभासित हो जाता है फिर साहित्य के क्षेत्र में इसका साम्राज्य क्यों न हो ? शब्द के प्रताप से जगत् के सम्पूर्ण व्यवहार चलते हैं, विश्व के समस्त प्राणी अपने मनोगत भाव प्रकट करते हैं तथा दूसरों के तात्पर्य भी इसके द्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं। इसलिये अज्ञानान्धकार में प्रकाश की किरणें विकीर्ण करने वाला शब्द सूर्य रूप है। आचार्य दण्डी ने कहा भी है कि 'यदि शब्द रूप ज्योति समस्त संसार में प्रदीप्त न हों, तो यह सारा त्रिभुवन अज्ञान के सघन अन्धकार में लीन हो जाए।'[1]

इस प्रकार शब्द वस्तुतः ज्योतिस्वरूप है और सभी शास्त्र इसकी महिमा के गीत मुक्तकण्ठ से गाते हैं। सम्भवतः शब्द की सार्वभौम सत्ता को देखकर ही शब्दाडम्बर वाग्जाल के विरोधी अर्थ-समर्थक, रस-साधक, ध्वनि-पोषक भी शब्दालंकार-परक साधना से अपने को अछूता नहीं रख सके हैं। उदाहरणार्थ **नाट्यशास्त्र**-प्रणेता भरत ने उपमा, रूपक दीपक रूप से तीन अर्थालंकारों के साथ शब्दालंकर के रूप में केवल यमक को ही स्वीकार किया है तथापि उसके दस भेद दिखलाकर शब्दालंकार के महत्त्व को भी स्पष्ट कर दिया है। दण्डी ने यमकालंकार के तीन सौ पन्द्रह एवं प्रहेलिका के सोलह प्रकार प्रस्तुत करके शब्दालंकार की गरिमा को सुदृढ़ किया है। उद्भट, वामन, अग्निपुराण, भोज, रुद्रट आदि अलंकारिकों के द्वारा अर्थालंकारों की प्रशंसा किये जाने पर भी उनके द्वारा स्वीकृत शब्दालंकारों के अत्यधिक विस्तृत रूपों से यह अनुमान सहज रूप से लगाया जा सकता है कि वे शब्दालंकार के भी समर्थक रहे हैं। अनान्दवर्धनाचार्य की चित्रकाव्यपूर्ण रचना **'देवीशतक'** उनके शब्दालंकार-परक दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ की कृतियाँ अनुप्रास से अनुप्राणित हैं। कवि प्रतिभा का मुख्य आधार शब्द है, इसीलिए पण्डितराज ने **'रमणीयार्थप्रतिपादक** शब्द को काव्य' कहा है।[2]

---

१. इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥ —**काव्यादर्श** १।४।

२. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। १।

—**रसगंगाधर**, प्रथम आनन

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य भामह ने—'वाणी की अलंकारविधि विस्तृत है,'[1] दण्डी ने अलंकारों की सृष्टि तो आज भी हो रही है, अतः समस्त अलंकारों की गणना कौन कर सकता है'[2]—वाक्य कहकर अलंकारों की गणना के प्रति असमर्थता प्रकट की है, अतः इन वाक्यांशों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शब्दालंकारों की संख्या निर्धारित कर सकना असम्भव नहीं है तो कठिन अवश्य है क्योंकि सम्प्रति भी अनेक विकल्पों का निर्माण हो रहा है। तथापि भामह आदि पूर्वाचार्यों द्वारा किये गये विवेचन के आधार पर शब्दालंकारों के प्रचलित भेद इस प्रकार हैं—१. अनुप्रास २. यमक ३. पुनरुक्तवदाभास ४. वक्रोक्ति ५. श्लेष और ६. चित्र।

अनुप्रास अलंकार—भरतमुनि ने अनुप्रास को यमकालंकार में ही समाविष्ट माना है, अतः इसका पृथक् संकेत नहीं किया है। उन्होंने सामान्यतः शब्दाभ्यास अथवा अक्षरसमूहावृत्ति को यमक माना था।[3] कालान्तर में कुछ वैशिष्ट्य की कल्पना कर यमक से स्वतन्त्र रूप में अनुप्रास की सत्ता स्वीकार की गई। जहाँ स्वरवैसादृश्य में भी व्यञ्जनों की समता होती है, वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। अनुप्रास शब्द अनु+प्र+आस के योग से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—वर्णनीय रसानुरूप व्यंजनों का बार-बार एक ही क्रम से विन्यास करना।[4] भामह कृत **काव्यालंकार** में सर्वप्रथम अनुप्रास का स्वरूप-निरूपण हुआ है। उनके अनुसार समान रूप वाले वर्णों के विन्यास को अनुप्रास कहते हैं।[5] भामह ने अनुप्रास की विशेषताओं के सम्बन्ध में कहा है कि ये अनुप्रास नानार्थक तथा समान अक्षरों वाले होते हैं। इनके प्रयोग से वाणी मनोरम होती है।[6] संक्षेप में उनके अनुसार अनुप्रास नानार्थक, सादृशाक्षर एवं वाणी के चारुत्व के द्योतक हैं।

भामह ने **'नानार्थवन्तोऽनुप्रास न चाप्यसादृशाक्षराः'** वाक्यांश में अनुप्रास विषयक जो निर्देश किया है, उसमें यमक का लक्षण घटित हो जाता है। क्योंकि

---

१. गिरामलंकारविधिः सविस्तरः। —भामह **काव्यालंकार** ३।५८।

२. ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।
—**काव्यादर्श** २।१।

३. शब्दाभ्यासस्तु यमकम्। —**नाट्यशास्त्र** १६।५८।

४. (क) रसादिभिरनुगतः प्रकृष्टो आसो न्यासो ह्यनुप्रासः।
—**काव्यप्रकाश**, पृ० ४९५ **बालबोधिनी**

(ख) न च स्वरमात्रसादृश्ये।

५. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते। —**काव्यलंकार (भामह)** २।५।

६. नानार्थवन्तोऽनुप्रासा न चाप्यसदृशाक्षराः।
युक्त्यानया मध्यमया जायन्ते चारवो गिरः॥ —**वही** २।७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अर्थभेद और अक्षर साम्य ये ही दोनों तो यमक के नियामक तत्त्व हैं। इस प्रकार भामह का उपर्युक्त लक्षण अनुप्रास के क्षेत्र को यमक से संकीर्ण कर देता है।

आचार्य दण्डी के अनुसार पादों और पदों में होने वाली वर्ण-आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं। इस वर्णावृत्ति में दो विशेषतायें होनी चाहिए—१. वह पूर्वानुभूत वर्ण के संस्कार का बोध कराने वाली हो और २. अदूरता युक्त (वर्णों की परस्पर निकट स्थिति) हो।[1]

दण्डी ने गुण-विवेचन के प्रसंग में श्रुत्यनुप्रास रूप माधुर्य गुण की चर्चा की है और उसे वैदर्भ मार्ग के सरस काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व स्वीकार किया है।[2] वैदर्भमार्ग शब्दमाधुर्य के दोनों पक्षों--श्रुत्यनुप्रास और वर्णानुप्रास--को स्वीकार करता है, यद्यपि इनमें से प्रथम को वह अधिक महत्त्व देता है। गौड मार्ग केवल वर्णानुप्रास में ही शब्दमाधुर्य की स्थिति मानता है।[3] इस प्रकार दण्डी ने वर्ण-अदूरता को स्वीकार कर नवीन तथ्य प्रकट किया।

अग्निपुराणकार के कथनानुसार पद और वाक्य में वर्णों की आवृत्ति का नाम अनुप्रास है और इसके दो भेद हैं--१. एकवर्णगतावृत्ति और २. अनेकवर्णगता-वृत्ति।[4]

उद्भट ने सरूप व्यञ्जनों के न्यास को अनुप्रास कहा है और तीनों वृत्तियों—परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या (कोमला) में व्यञ्जन—न्यास की पृथक्-पृथक् स्थिति होने से ही अनुप्रास के भेदों का उल्लेख किया है।[5] उन्होंने अनुप्रास के मुख्य तीन भेद माने हैं—१. छेकानुप्रास २. वृत्त्यनुप्रास और ३. लाटानुप्रास। ग्राम्या

---

१. वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता॥ **--काव्यादर्श १।५५।**
इत्यनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरांतरश्रुतिम्॥ **--वही, १।५८।**

२. यया कयापि श्रुत्या यत्समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासारसावहा॥ **वही, १।५२।**

३. इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमिष्यते॥ **—काव्यादर्श १।५४।**

४. स्यादावृत्तिनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः।
एकवर्णोऽनेकवर्णो वृत्तेर्वर्णगणो द्विधा॥
--अग्निपुराण ३४३। १।

५. सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥
--काव्यालंकारसारसंग्रह पृ० ५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

या कोमला वृत्ति पर आधृत वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास का उल्लेख भामह ने भी किया है। छेकानुप्रास की कल्पना उद्भट ने स्वतन्त्र रूप से की है। उद्भट ने वर्ण के स्थान पर व्यञ्जन का प्रयोग कर लक्षण-विकास में नवीनता का आधान किया। अनुप्रास के निरूपण में वृत्तियों का समावेश भी उनकी नवीन उद्भावना है।

वामन ने यमकालंकार में स्वर-व्यंजन समुदाय की आवृत्ति सम्बन्धी प्रक्रियाओं पर विचार करने के अनन्तर अनुप्रास के सम्बन्ध में कहा है कि यमक से अवशिष्ट सभी प्रकार के सारूप्य को अनुप्रास कहते हैं।[1] उनके द्वारा प्रतिपादित अनुप्रास का स्वरूप इस प्रकार है—जहाँ एकार्थक अथवा अनेकार्थक पदों (स्वर-व्यञ्जन समुदाय) की अनियत स्थान में आवृत्ति हो, वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है।[2] वामन ने अनुल्वण (मसृण) अनुप्रास को श्रेयस्कर तथा ग्राह्य माना है और उल्वण (उग्र) को अग्राह्य माना है।[3]

आचार्य रुद्रट ने अनुप्रास का लक्षण अधिक विस्तृत एवं परिष्कृत रूप में किया है। उनके अनुसार जहाँ एक दो या तीन वर्णों का व्यवधान रहने पर स्वर-निरपेक्ष व्यञ्जनों की आवृत्ति होती है उसको अनुप्रास कहते हैं।[4] रुद्रट ने मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा नामक पाँच आवृत्तियों के आधार अनुप्रास के पाँच भेद स्वीकार किये हैं।[5] रुद्रट स्वीकृत अनुप्रास का प्रस्तुत लक्षण-आवृत्त व्यञ्जनों की स्वर-निरपेक्षता तथा उन आवृत्त व्यञ्जनों के बीच अन्य वर्णों के व्यवधान का नियम—अनुप्रास का यमक से व्यावर्तन करता है।

---

१. शेषः सरूपोऽनुप्रासः।

—वामन—**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** १।१।८।

२. पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थानानियतं तद्विधमक्षरं च शेषः। सरूपो—अन्येन प्रयुक्तेन तुल्यरूपोऽनुप्रासः। —**वही, वृत्ति**, पृ० १७७।

३. (क) अनुल्वणो वर्णानुप्रासः श्रेयान्।

(ख) उल्वणस्तु न श्रेयः। —**वही, वृत्ति**, पृ० १७९।

४. एकद्वित्रान्तरितं व्यञ्जनमविवक्षितस्वरं बहुशः।
आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः॥

—**काव्यालंकार (रुद्रट)** २।१८।

५. (क) मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च।
वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः॥

—**वही** २।१९।

(ख) द्रष्टव्य, —**वही** २।२०–३१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने व्यञ्जन वर्णजन्य सौंदर्य को प्रकारो का वर्णन वर्ण-विन्यास-वक्रता में किया है। उनके अनुसार जहाँ एक, दो या बहुत से वर्ण थोड़े थोड़े अन्तर पर बार-बार ग्रथित होते हैं, वहाँ वर्ण-विन्यास की वक्रता मानी जाती है।[1] वह अनुप्रास का इसी में अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं। उनकी अनुप्रास के सम्बन्ध में नवीन धारणा है कि कवि का अनुप्रास के प्रति अति आग्रह नहीं होना चाहिए, अपेशल वर्णों का प्रयोग वर्जित है। नूतन आवर्तन से युक्त वर्णों की योजना होनी चाहिए। जिसमें काव्य के गुण और विशिष्ट मार्ग का अनुवर्तन हो, कवि द्वारा अनुसृत मार्ग का गुणों के साथ पूर्ण सामञ्जस्य हो, ऐसा ललित अनुप्रास वृत्तिविचित्रता की सम्पत्ति है।[2]

भोजराज ने थोड़े-थोड़े अन्तर पर होने वाली वर्णों की आवृत्ति मात्र को अनुप्रास कहा है।[3] स्पष्टतः भोज के लक्षण में किसी प्रकार की नवीनता न होकर दण्डी के ही मत का सार समाहित प्रतीत होता है।

आचार्य मम्मट ने वर्णसाम्य तथा रसानुकूल वर्ण-निवन्धन का प्राधान्य स्थापित करते हुए पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न पद्धति का आश्रय लेकर अनुप्रास का लक्षण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार स्वरों की असमानता होने पर भी व्यञ्जनों की समानता तथा उनकी रसादि के अनुरूप व्यवधान रहित प्रकृष्ट योजना ही अनुप्रास है।[4] इस प्रकार मम्मटाचार्य ने सर्वप्रथम रसानुकूल वर्ण-विन्यास को अनुप्रास का आवश्यक तत्त्व मानकर भाव एवं वर्णोच्चारण के मध्य संगति प्रस्तुत की है। उनके अनुसार अनुप्रास के दो भेद हैं—छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास। छेक का अर्थ

---

१. एको द्वौ बहवो वर्णा वध्यमानाः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता॥
—**वक्रोक्तिजीवित** २।१।

२. नातिनिर्वन्धरहिता नाप्यपेशलभूषिता।
पूर्वावृत्त-परित्याग-नूतनावर्तनोज्ज्वला॥ —**वही** २।४।
वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी।
वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः॥ —**वही** २।५।

३. आवृत्तिर्या तु वर्णानां नातिदूरान्तरस्थिता।
अलंकारः स विद्वद्भिरनुप्रासः प्रदर्श्यते॥
—**सरस्वतीकंण्ठाभरण** २।७०।

४. (क) वर्णसाम्यमनुप्रासः। —**काव्यप्रकाश** ९।१०४।
(ख) स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम्। रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः। —**वही, वृत्ति, पृ० ४१५।**
(साहित्य भण्डार मेरठ, संस्करण)

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विदग्ध है। विदग्ध जनों का प्रिय होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। एक से अधिक व्यञ्जनों का सकृत् सादृश्य छेकानुप्रास कहलाता है। रस-व्यञ्जना के अनुकूल व्यापार ही वृत्ति है, और वृत्ति पर आश्रित अनुप्रास ही वृत्त्यानुप्रास है। एक अथवा अनेक व्यंजनों का भी अनेक बार सादृश्य होना ही वृत्त्यानुप्रास है।[१] उन्होंने तात्पर्य भेद से शब्दावृत्ति या पदावृत्ति रूप लाटानुप्रास का सभेद स्वतन्त्र विवेचन किया है।

राजानक रुय्यक ने शब्दपौनरुक्त्य को दो रूपों में स्वीकार किया है—व्यंजन मात्र का पौनरुक्त्य और स्वर-व्यंजन-समुदाय का पौनरुक्त्य। उन्होंने शब्दपौनरुक्त्याश्रित अलंकार प्रकरण में छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास का उल्लेख किया है।[२] संख्या का नियम[३] होने पर पहले (व्यंजन समुदाय पर आश्रित) छेकानुप्रास होता है।[४] इससे भिन्न स्थिति में वृत्त्यनुप्रास होता है। अभिप्राय यह है कि केवल एक व्यंजन का सादृश्य, व्यंजन समुदाय का एक बार सादृश्य, दो से अधिक तीन आदि व्यंजनों का सादृश्य होने पर वृत्त्यनुप्रास होता है।[५] अलंकार प्रकरण में रस विषयक व्यापार से युक्त वर्ण-रचना वृत्ति कहलाती है। यह वृत्ति परुषा, कोमला और मध्यम वर्णों से युक्त होने के कारण तीन प्रकार की होती है। इसी त्रिविध वृत्ति से अनुप्रास

---

१. (क) वर्णसाम्यमनुप्रासः छेकवृत्तिगतो द्विधा।
सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः एकस्याप्यसकृत्परः॥

—काव्यप्रकाश ९।७९।

(ख) छेकाः विदग्धाः। वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। गत इति छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्च। अनेकस्य अर्थात् व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः। एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रासः।

—वही, वृत्ति, ९।७९, पृ० ४३५।

२. शब्दपौनरुक्त्यं व्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्यं स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं च। अलंकारप्रस्तावे केवल-स्वर-पौनरुक्त्यमचारुत्वान्न गण्यत इति द्वैविध्यमेव। —अलंकारसर्वस्व, पृ० २८।

३. द्वयोर्व्यञ्जनसमुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं संख्यानियमः।

—वही, वृत्ति, २८।

४. संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः। —वही, सूत्र—४।

५. अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः। वही, सूत्र—५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

भी उपलक्षित होता है।[1] यहाँ ध्यातव्य है कि रुय्यक ने भी लाटानुप्रास का निरूपण यमकालंकार के पश्चात् किया है। स्पष्टतः इसका कारण अनुप्रास लक्षण में स्वर निरपेक्ष व्यञ्जन-आवृत्ति पर बल देना माना जा सकता है। लाटानुप्रास में स्वर व्यञ्जन समुदाय की आवृत्ति होती है। **वाग्भटालंकार** के प्रणेता ने तुल्यश्रुति वाले अक्षरों की आवृत्ति को अनुप्रास माना है।[2]

कविराज विश्वनाथ ने अपने अनुप्रास लक्षण में वर्णसाम्य के स्थान पर शब्द साम्य की प्रतिष्ठा की है तथा स्वर-वैषम्य को भी ग्राह्य स्वीकार किया है। मम्मटाचार्य की भाँति विश्वनाथ भी रसानुगत शब्दन्यास को अनुप्रास स्वीकार करते हैं।[3] इन्होंने अनुप्रास के पाँच भेद स्वीकार किये हैं— १. छेकानुप्रास २. वृत्यनुप्रास ३. श्रुत्यनुप्रास ४. अन्त्यानुप्रास और ५. लाटानुप्रास।[4]

अनुप्रास के स्वरूप के सम्बन्ध में भामह से विश्वनाथ पर्यन्त आचार्यों के द्वारा जो तथ्य प्रकट हुए हैं, उनका सार इस प्रकार है—

१. वर्णसाम्य को अनुप्रास कहते हैं।

२. स्वरों की असमानता में भी व्यञ्जन-साम्य के कारण अनुप्रास होता है। तात्पर्य यह है कि इसमें व्यञ्जन-साम्य तो अनिवार्य है, किन्तु स्वरों (मात्राओं) की आवृत्ति में कोई नियम नहीं है।

३. वर्णावृत्ति का व्यवधान रहित होना आवश्यक है। अर्थात् आवृत्त वर्णों में अदूरता होनी चाहिए।

४. रसानुगत वर्ण विन्यास अनुप्रास का अन्यतम प्रमुखतम तत्त्व है।

५. अनुप्रास पद के आदि, मध्य अथवा अन्त में कहीं भी हो सकता है।

---

१. केवल-व्यञ्जनसादृश्यमेकधा समुदायसादृश्यं, त्र्यादीनां च परस्पर सादृश्य मन्यथाभावः। वृत्तिस्तु रसविषयो व्यापारः। तद्वती पुनर्वर्णरचनेह वृत्तिः। स च परुष कोमलमध्यमवर्णारब्धत्वात्त्रिधा। तदुपलक्षितोऽयमनुप्रासः। —**वही, वृत्ति** पृ० ३०-३१।

२. तुल्यश्रुतिरक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः।
—**वाग्भटालंकार** पृ० ८४।

३. (क) अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।
—**साहित्यदर्पण** १०।३।

(ख) स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम्। रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यासोऽनुप्रासः।
—**वही दशम परिच्छेद**, पृ० ६६७।

४. (क) द्रष्टव्य—वही, १०।३-७।
(ख) अनुप्रासः पञ्चधा ततः। —**वही**, १०।७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

सरूप वर्णाभ्यास रूप अनुप्रास का स्वतन्त्र विश्लेषण करते हुए [भामहादि आचार्यों ने इसके भेदोपभेदों का वर्णन किया है।

आचार्य भामह ने इसके दो भेद किये हैं—१. ग्राम्यानुप्रास तथा २. लाटानुप्रास।

उद्भट ने स्वतन्त्र अलंकार के रूप में छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास की गणना की है तथा परुषा, उपनागरिका एवं ग्राम्या नामक वृत्तियों को वृत्त्यनुप्रास के भेदों के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य रुद्रट ने अनुप्रास के पाँच भेदों को प्रतिपादित किया है। उन्होंने वर्णों के नाना प्रकार के प्रयोग के कारण अनुप्रास की पाँच वृत्तियाँ मानी हैं—मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता इनमें नामों के अनुसार ही वर्णयोजना का वर्णन किया है।[1]

भोजराज ने अनुप्रास के भेदों का अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। सर्वप्रथम उन्होंने इसके छः भेद किये हैं—श्रुति, वृत्ति, वर्ण, पद, नाम तथा लाट।[2] श्रुत्यनुप्रास के तीन भेद माने हैं—ग्राम्य, नागर एवं उपनागर। पुनः ग्राम्य के चार प्रकार माने हैं—मसृण, वर्णमसृण, वर्णोत्कट और वर्णानुत्कट।[3] वृत्त्यनुप्रास के बारह भेद स्वीकार किये हैं—१. कर्णाटी २. कौन्तली ३. कौंकी ४. कौंकणी ५. बाणवासिका ६. द्राविडी ७. माथुरी ८ मात्सी, १०. मागधी ११. ताम्रलिप्तिका और १२ औण्ड्री-पौण्ड्री।[4] वर्णानुप्रास[5] तथा पदानुप्रास[6] के भी बारह-बारह भेद किये हैं। नामानुप्रास के चार भेद किये हैं—स्वभावतः गौणी, वीप्सा तथा आभीक्षण।[7] पुनः वीप्सा के द्रव्य, गुण, जाति एवं क्रिया के आधार पर अनेक भेद किये हैं तथा आभीक्षण के भी पुनरुक्ति रूप से कई भेदों का वर्णन किया है। लाटानुप्रास के भी अनेक अवान्तर भेद प्रतिपादित किये हैं।[8]

---

१. द्रष्टव्य—**काव्यालंकार** (रुद्रट) २।१९, २०, २१, २४, २६, २८, २९।

२. श्रुतिभिर्वृत्तिभिर्वर्णैः पदैर्नामद्भिरुक्तिभिः।
लाटानामुक्तिभिश्चायं षट्प्रकारः प्रकाशते॥
—**सरस्वतीकंठाभरण** २।७१।

३. स त्रिधा—ग्राम्यः, नागरः उपनागरश्च। तेषु ग्राम्यश्चतुर्धा—मसृणः वर्णमसृणः वर्णोत्कटः वर्णानुत्कटश्च। —**वही**, पृ० २२९।

४. द्रष्टव्य—**वही**, २।७९–८०।

५. द्रष्टव्य—**वही**, २।९०–९१।

६. द्रष्टव्य—**वही**, २।९५–९६।

७. द्रष्टव्य—**वही**, २।९९।

८. द्रष्टव्य—**वही**, २।१०३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

स्मरणीय है कि परवर्ती आचार्यों द्वारा भोजकृत भेदोपभेद स्वीकृत नहीं हुए हैं।

आचार्य मम्मट ने अनुप्रास के दो भेद किये हैं—वर्णानुप्रास और शब्दानुप्रास। वर्णानुप्रास में छेकानुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास का समावेश किया है। शब्दानुप्रास को लाटानुप्रास कहा है। वह लाटानुप्रास अनेक पदों के सादृश्य में, एक पद के सादृश्य में, एक समास में, भिन्न समास में तथा समास एवं असमास में प्रातिपदिक का ही होता है। इसप्रकार लाटानुप्रास पाँच प्रकार का होता है।[1]

पीयूषवर्ष जयदेव ने अनुप्रास का सामान्य लक्षण प्रस्तुत न करके केवल उसके प्रकारों का स्वतन्त्र रूप से सोदाहरण वर्णन किया है।[2]

विश्वनाथ ने अनुप्रास के पांच भेद स्वीकार किये हैं–१. छेकानुप्रास २. वृत्त्यनुप्रास ३. श्रुत्यनुप्रास ४. अन्त्यानुप्रास एवं ५. लाटानुप्रास।[3]

काव्य में स्वाभाविक अनुप्रास के प्रयोग से सहज आकर्षण होता है किन्तु प्रयत्नसाध्य अनुप्रास योजना से काव्यसौन्दर्य क्षीण होता है। अनुप्रास योजना का महत्त्व रसानुकूल वर्णविन्यास में हैं और उसकी सार्थकता भावानुरूप अक्षर-विन्यास में है।

ग्राम्यानुप्रास—आचार्य भामह ने अनुप्रास अलंकार के लक्षण तथा उद्धरण क अनन्तर सर्वप्रथम ग्राम्याप्रास का विवेचन किया है किन्तु इस विषय में भी उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने अन्य विद्वानों के पक्ष के रूप में ही इसका वर्णन किया है और इसका लक्षण न देकर उद्धरण मात्र दिया है।[4] उद्भट ने काव्य में आदृतबुद्धि वाले विद्वानों द्वारा अनुशंसित ग्राम्यावृत्ति का सोदाहरण उल्लेख किया है।[5] उद्भट के **काव्यालङ्कारसारसंग्रह** के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने विशिष्ट विवेचन करते हुए कहा है कि ग्राम्यावृत्ति ही ग्राम्यानुप्रास है।[6] **सरस्वतीकण्ठाभरण** प्रणेता भोजराज ने श्रुत्यनुप्रास के ग्राम्य, नागर और उपनागर तीन भेद किये हैं और फिर ग्राम्य के मसृण, वर्णमसृण वर्णोत्कट और वर्णानुत्कट चार उपभेद किये हैं। इस ग्राम्य अनुप्रास के उपभेदों के उद्धरणों का

---

१. द्रष्टव्य—**काव्यप्रकाश** १०।७९, ८०, ८१ और ८२।

२. द्रष्टव्य—**चन्द्रालोक** ५।२, ३, ४, ५, ६।

३. द्रष्टव्य—**साहित्यदर्पण** १०।३–७।

४. ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
स लोलमालानीलालिकुलाकुलगलो बल:॥—**काव्यालङ्कार (भामह)** २।५।

५. शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथिता कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धय:॥—**काव्यालङ्कारसारसंग्रह** १।६।
केलिलोलालिमालालानां कलै: कोलाहलै: क्वचित्।
कुर्वती कानना-रूढश्रीनूपुर-रवभ्रमम्॥—**वही**, १।७।

६. द्रष्टव्य —**काव्यालङ्कारसारसंग्रह**, पृष्ठ ६ टीका भाग।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विश्लेषण करने से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि इस अनुप्रास में समान श्रुति वाले कोमल वर्णों का बाहुल्य होता है, इसीलिये इसे ग्राम्य कहते हैं।[1] भोज के पश्चात् किसी भी उत्तरवर्ती आचार्य ने ग्राम्यानुप्रास का उल्लेख नहीं किया।

लाटानुप्रास—काव्यालङ्कार प्रणेता आचार्य भामह ने ग्राम्यानुप्रास भेद के अतिरिक्त लाटानुप्रास का भी उल्लेख किया है, किन्तु इस स्थल पर भी अन्य विद्वान् लाटानुप्रास को भी मानते हैं, कहकर ग्राम्यानुप्रास के समान ही लक्षण के बिना ही उदाहरण दे दिया है।[2] दण्डी ने इस भेद की चर्चा नहीं की है। **अग्निपुराण** के अनुप्रास भेदों में वाक्यगत-अनुप्रास भेद को लाटानुप्रास स्थानीय माना जा सकता है।[3] उद्भट ने इसे स्वतन्त्र शब्दालंकार के रूप में मान्यता प्रदान कर निम्न लक्षण किया है—'शब्द और पदों के स्वरूपार्थ में किसी प्रकार की विशेषता न रहने पर भी तात्पर्य भेद से युक्त यदि पुनरुक्ति हो, तो वह पुनरुक्ति लाटानुप्रास कहलाती है।[4] उद्भट ने पादाभ्यास-क्रम से लाटानुप्रास के पाँच उपभेद प्रस्तुत किये हैं[5]—

१. स्वतन्त्रपदाश्रयगत–एकैकपदाश्रय।
२. स्वतन्त्रपदाश्रय–पादाभ्यासगत समुदायाश्रय।
३. परतन्त्रपदाश्रयगत–पदद्वितयस्थित।
४. परतन्त्रपदाश्रयगत–एकपदाश्रयशब्दद्वितयवर्ती।
५. स्वतन्त्र-परतन्त्र-पदाश्रय।

वामन ने लाटानुप्रास का नामतः उल्लेख न करते हुए भी उसे पादानुप्रास में अन्तर्निहित कर लिया है और पादानुप्रास का लक्षण इस प्रकार किया है—'पादानुप्रास पादयमक के समान होता है।[6] इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि

---

१. स त्रिधा ग्राम्यः नागरः उपनागरश्च। तेषु ग्राम्यश्चतुर्धा इत्यादि।
—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, पृ० २२९–३२१।

२. लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा।
दृष्टिं दृष्टिसुखां धेहि चन्द्रश्चन्द्रमुखोदितः॥
—**काव्यालङ्कार (भामह)** २।८।

३. स्यादानुवृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः।—**अग्निपुराण** ३४१।१।

४. स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरम्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते॥
—**काव्यालङ्कारसारसंग्रह** १।८।

५. स पदद्वितयस्थित्या द्वयोरेकस्य पूर्ववत्।
तदन्यस्य स्वतंत्रत्वाद् द्वयोरेकपदाश्रयात्॥
स्वतंत्रपदरूपेण द्वयोर्वापि प्रयोगतः।
भिद्यतेऽनेकधा भेदैः पादाभ्यासक्रमेण च॥
—**काव्यालङ्कारसारसंग्रह** १।९—१०।

१. पादानुप्रासः पादयमकवत्।—**काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)** ४।१।१०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

वामन को पादानुप्रास के उतने ही भेद मान्य हैं जितने पादयमक के होते हैं। पादानुप्रास के भेद निम्नलिखित हैं— १. समस्त पादगत २. पादादिगत ३. पादमध्यगत ४. पादान्तगत ५. द्विपादादिगत ६. द्विपादमध्यगत ७. द्विपादान्तगत ८. एकान्तरित पादादिगत ९. एकान्तरित पादमध्यगत १०. एकान्तरित पादान्तगत ११. समस्त-पादादिगत १२. समस्तपादमध्यगत १३. समस्तपादान्तगत १४ संकर।

रुद्रट ने लाटानुप्रास की कोई चर्चा नहीं की है। भोजराज ने लाटानुप्रास को केवल पादयमक तक सीमित न रखकर यमक के सभी अवान्तर भेदों के बराबर लाटानुप्रास के भेद माने हैं।[1] उन्होंने लाटानुप्रास का लक्षण इस प्रकार किया है— 'समानार्थक पदों की आवृत्ति होने पर भी यदि तात्पर्यभेद होता है तो वहाँ लाटीय (लाटा) अनुप्रास होता है।[2] भोज ने अव्यवहित, व्यवहित और व्यवहिताव्यवहित रूप से सर्वप्रथम इसके तीन भेद किये हैं, पुनः उनके भी क्रमशः सात, पाँच और छः उपभेद किये हैं।[3] इस प्रकार कुल मिलाकर अट्ठारह भेद हो जाते हैं जो इस प्रकार हैं—

१.

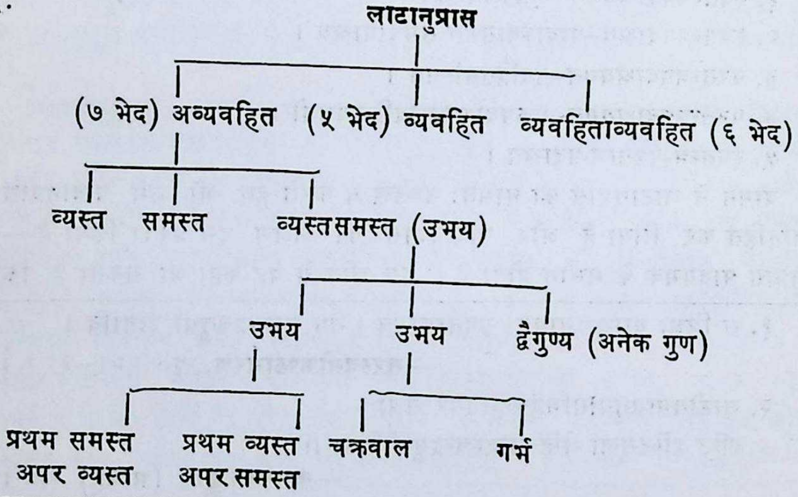

---

१. यमकानां हि यावत्या वर्ण्यन्ते भेदभक्तयः।
अनुप्रासस्य लाटानां भिदास्तावत्य एव हि॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण** २।१०५।

२. अर्थभेदे पदावृत्तिः प्रवृत्त्या भिन्नयेह वा।
स सूरिभिरनुप्रासो लाटीय इति गीयते॥ —**वही**, २।१०२।

३. (क) स चाव्यवहितो व्यस्तः समस्त उभयः पुनः।
उभयं चक्रवालं च गर्भश्चैवाभिधीयते॥
यस्तु व्यवहितो नाम नेयत्ता तस्य शक्यते।
कर्तुमेकादिगणना पादवृत्त्यादिभङ्गिभिः॥—**वही**, २।१०३–१०४।

(ख) अव्यवहितेऽपि द्वैगुण्यादेर्न विरोधः।—**वही**, पृ० २६३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

२. **व्यवहित लाटानुप्रास के पाँच भेद**

व्यस्त एक गुण | व्यस्त अनेक गुण | समस्त एक गुण | समस्त अनेक गुण | व्यस्त समस्त अनेक गुण

३. **व्यवहिताव्यवहित लाटानुप्रास के छः भेद**

पदाभ्यास | अर्धाभ्यास | द्विभागाभ्यास | व्यवहित पदाभ्यास | अव्यवहित पदाभ्यास | इवाद्यावृत्तिशाली

अव्यवहित लाटानुप्रास के सात भेदों में से चार भेद उद्भटकृत भेदों के समान हैं। यथा—

भोज-वर्णित लाटानुप्रास के भेद जो उद्भट के तुल्य हैं—	उद्भट-वर्णित भेद जो भोज के समान हैं—
१. अव्यवहित व्यस्त	१. स्वतन्त्रपदाश्रयगतएकैकपदाश्रय
२. अव्यवहित चक्रवाल	२. परतन्त्रपदाश्रयगत पदद्वितयस्थित
३. अव्यवहित समस्त	३. परतन्त्रपदाश्रयगत एकपदाश्रयशब्दद्वितीयवर्ती
४. अव्यवहित प्रथम व्यस्त अपर समस्त	४. स्वतन्त्रपरतन्त्रपराश्रय

आचार्य मम्मट के अनुसार तात्पर्यमात्र से भेद होने पर जो शब्दानुप्रास होता है, वही लाटानुप्रास कहलाता है।[1] अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ के अभिन्न होने पर भी तात्पर्यमात्र का भेद होने से शब्दगत अनुप्रास होता है तथा वह लाट-देशवासियों का प्रिय होने के कारण लाटानुप्रास कहा जाता है। इसी को कुछ अन्य आचार्य (उद्भट आदि) पदानुप्रास भी कहते हैं।[2] शब्दानुप्रास (लाटानुप्रास) के प्रथमत: दो भेद हैं—१. अनेकपदगत और २. एकपदगत। नामगत के भी तीन उपभेद हो जाते हैं—१. एक समासगत प्रातिपदिकावृत्ति २. भिन्न समासगत प्रातिपदिकावृत्ति और ३. समास-असमासगत प्रातिपदिकावृत्ति। इसप्रकार मम्मट ने लाटानुप्रास के पाँच भेद स्वीकार किये हैं और उनका सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया है।[3]

---

१. शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।—**काव्यप्रकाश** ९।८१।

२. शब्दगतोऽनुप्रासः। शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदात्। लाटजनवल्लभत्वाच्च लाटानुप्रासः। एष पदानुप्रास इत्यन्ये।—**वही**, वृत्ति ९।८१।

३. (क) पदानां स पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा।
नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च तदेवं पञ्चधा मतः॥—**वही**, ९।८२।

(ख) द्रष्टव्य—**उद्धरण**—९।३५७–३५९।

(ग) एकस्मिन् समासे, भिन्ने वा समासे समासासमासयोर्वा, नाम्नः प्रातिपदिकस्य न तु पदस्य सारूप्यम्।
—**वही**, वृत्ति ९।८२, पृ० ४३९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य रुय्यक से पूर्ववर्ती सभी आचार्यों ने लाटानुप्रास को अनुप्रास का ही एक भेद मानकर वर्णित किया था किन्तु रुय्यक ने लाटानुप्रास को एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त अब तक के सभी आचार्यों ने इसे शब्दालंकार-परम्परा में ही स्थान दिया था, किन्तु रुय्यक ने इसमें शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार के चमत्कार का समान रूप से अनुभव करते हुए इसे उभयालंकार में स्थान प्रदान किया है। उनके अनुसार शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति होने पर भी तात्पर्य में भेद रहने पर 'लाटानुप्रास' होता है।[1] तात्पर्य भेद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि तात्पर्य का अर्थ है अन्यपरत्व और यही अन्यपरत्व एक शब्द और अर्थ के अभिधेय अर्थ बतलाकर विश्रान्त हो जाने पर और दूसरे शब्दार्थ के लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ के विरत हो जाने पर स्पष्ट होता है।[2] इसके अतिरिक्त उनके अनुसार विभक्ति, वचन और लिङ्ग की पुनरुक्ति न होने पर भी प्रातिपदिक का अर्थ पुनरुक्त होने से लाटानुप्रास होता है।[3] अभिप्राय यह है कि तात्पर्य भेद तो लाटानुप्रास का जीवातुभूत है किन्तु शब्दार्थ पौनरुक्त्य में केवल प्रातिपदिक के शब्दार्थ की पुनरुक्ति से भी लाटानुप्रास की हानि नहीं होती। लाटानुप्रास और अनन्वय में अन्तर स्पष्ट करते हुए रुय्यक ने कहा है कि लाटानुप्रास का चमत्कार शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व दोनों पर अन्योन्यापेक्षया अवलम्बित होता है जबकि अनन्वय का चमत्कार केवल अर्थतत्त्व पर निर्भर होता है। अनन्वय में शब्दैक्य औचित्य के नाते आनुषंगिक है परन्तु लाटानुप्रास में शब्दैक्य साक्षात् हेतु है।[4]

शोभाकर मित्र ने लाटानुप्रास को पुनः शब्दालंकार के रूप में प्रतिष्ठापित किया। पुनरुक्तधर्मता शब्द का चारुत्व है, इसलिये लाटानुप्रास शब्दालंकार ही है।[5] उनके अनुसार तुल्य अभिधेय भिन्न तात्पर्यशब्दावृत्ति को लाटानुप्रास कहते हैं।[6] इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं अभिधेयांश भेद से भी तात्पर्य भेद हो जाता है, ऐसे स्थान पर भी लाटानुप्रास होगा।[7] इस प्रकार यह

---

१. तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः ।--**अलङ्कारसर्वस्व**, सूत्र—८ ।

२. तात्पर्यमन्यपरत्वम् । तदेव भिद्यते, न तु शब्दार्थयोः स्वरूपम् ।

३. ......विभक्त्यादेरपौनरुक्त्येऽपि बहुतरशब्दार्थपौनरुक्त्याल्लाटानुप्रासत्वमेव । --**वही**, वृत्ति-सूत्र—८, पृ० ३५ ।

४. अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषंगिकम् ।
अस्मिस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् । --वही, ११, पृ० ३७ ।

५, तेन शब्दस्यैव चारुत्वहेतुः पुनरुक्तता धर्म इति शब्दालंकार एवायम् ।
--**अलङ्काररत्नाकर**, सूत्र—५, वृत्ति भाग ।

६. तुल्याभिधेयभिन्नतात्पर्यशब्दावृत्तिर्लाटानुप्रासः ।
--**अलङ्कार-रत्नाकर**, सूत्र—५ ।

७. ऐक्येऽप्यर्थस्य भिन्नत्वमभिधेयांशभेदतः ।
लक्ष्यादिना वा तात्पर्यं भेदो नान्यः समन्वयः ।।--**वही**

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कहा जा सकता है कि अर्थभेद रहने पर जो शब्दावृत्ति होती है, वहाँ यमक होता है और अर्थ के अभेद में भी भेद रहने पर लाटानुप्रास होता है।

पीयूषवर्ष जयदेव के अनुसार जहाँ पुनरुक्तपद भिन्न-भिन्न अभिप्राय के प्रकाशक होते हैं, वहाँ लाटानुप्रास होता है। यह लाट देश के मनुष्यों को अधिक प्रिय है, इसीलिये इसको लाटानुप्रास कहा जाता है।[1] जयदेव ने भी इसे स्वतन्त्र शब्दालंकार के रूप में स्वीकार किया है।

विश्वनाथ के अनुसार केवल तात्पर्य भिन्न होने पर शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति होने से लाटानुप्रास होता है।[2] यहाँ ध्यातव्य है कि विभक्त्यर्थ का पौनरुक्त्य (आवृत्ति) न होने पर भी प्रातिपदिक रूप अंश के बोध्यधर्मी रूप मुख्यतर अंश के अभिन्न होने पर लाटानुप्रास ही होता है।[3] उनके अनुसार यह अनुप्रासभेद इसलिये लाटानुप्रास कहा जाता है क्योंकि लाट देश के कवि-जनों को यह बड़ा प्रिय है।[4]

लाटानुप्रास सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मम्मट, शोभाकर मित्र, जयदेव, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने लाटानुप्रास को शब्दालंकार माना है। आचार्य रुय्यक ने लाटानुप्रास को उभयालंकार के रूप में प्रतिपादित किया है। तथापि लाटानुप्रास के लक्षण के सम्बन्ध में सभी आचार्य एकमत हैं। तात्पर्यभेद इसका अनिवार्य तत्त्व है। इसमें आवृत्ति वाले पदों का अर्थ प्रकट-रूप में तो एक ही रहता है और शब्दावली श्लिष्ट भी नहीं होती, तथापि उसका अर्थ तात्पर्य-भेद के कारण बदल जाता है।

श्रुत्यनुप्रास—यह अनुप्रास-भेद सर्वथा श्रुति अर्थात् कर्णेन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाला है। जिस प्रकार कर्णेन्द्रिय को गीतादि के स्वर, ताल एवं लय आदि का ज्ञान श्रवण मात्र से हो जाता है, उसी प्रकार सूक्ष्मविवेचन में अभ्यस्त कर्णेन्द्रिय वाले जन मधुर, कठोर और कोमल वर्णों के कण्ठ, तालु, दन्त आदि स्थानों को सुनकर पहचान लेते हैं। इस अनुप्रास भेद का विस्तृत विवेचन सर्वप्रथम भोजराज

---

१. लाटानुप्रासभूर्भिन्नाभिप्राया पुनरुक्तता।
यत्र स्यान्न पुनः शत्रोर्गर्जितं तज्जित जितम् ॥—**चन्द्रालोक** ५।४।

२. शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः।
लाटानुप्रास इत्युक्तोऽनुप्रासः पञ्चधा ततः ॥—**साहित्यदर्पण** १०।७।

३. स्मेरराजीवनयने, नयने किं निमीलिते।
पश्य निर्जितकन्दर्पं कन्दर्पवशगं प्रियम् ॥
अत्र विभक्त्यर्थस्यापौनरुक्त्येऽपि मुख्यतरस्य प्रातिपदिकांशद्योत्यधर्मिरूपस्याभिन्नार्थत्वाल्लाटानुप्रासः।—**वही**, वृत्ति, पृ० ६७१।

४. एष च प्रायेण लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः।—**वही**, वृत्ति, पृ० ६७२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

ने किया है। किन्तु दण्डी के **काव्यादर्श** में इसका स्पष्ट निर्देश न होते हुए भी बीज रूप में इसके दर्शन अवश्य होते हैं। माधुर्यगुण के विवेचन में दण्डी ने इसका वर्णन वैदर्भमार्गानुयायी विद्वानों के प्रिय अनुप्रास के रूप में किया है—जिस किसी भी श्रुति (उच्चारण) से जो पूर्वश्रुति के समान श्रुति की अनुभूति होती है, उससे समन्वित अनुप्रासयुक्त पदासत्ति को रस अथवा श्रुतिसुभगता का पोषक माना जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि जिस पद-समुदाय में कण्ठादि स्थान-जन्य वर्णों की बिना किसी व्यवधान के पूर्वश्रुति के समान श्रुति का अनुभव हो, वहाँ श्रुत्यनुप्रास रूप पदसमुदाय रसव्यञ्जक (रसावह) होता है। प्रस्तुत लक्षण की सङ्गति के लिये दण्डी ने निम्न उद्धरण प्रस्तुत किया है—

एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मण प्रियः।
तदा प्रभृति धर्मस्य लोकेऽस्मिन्नुत्सवोऽभवत्॥ —काव्यादर्श १।५३

इस उदाहरण में 'एष राजा' इस अंश में षकार और रेफ दोनों मूर्धन्य, 'राजा यदा' अंश में जकार तथा यकार दोनों में तालव्य एवं 'यदा लक्ष्मीं' में दकार और लकार दोनों दन्त्य वर्णों में श्रुतिसाम्य है, अतः यहाँ श्रुत्यनुप्रास अलंकार है। इसप्रकार दण्डी-कृत प्रासङ्गिक संकेत भी श्रुत्यनुप्रास का बीज माना जा सकता है।

उद्भट, वामन, रुद्रट और **अग्निपुराण** में श्रुत्यनुप्रास की कोई चर्चा नहीं उपलब्ध होती है। भोजराज ने श्रुत्यनुप्रास का लक्षण न देते हुए अनुप्रास के छः भेदों में उसका संकेत मात्र कर दिया है।[2] किन्तु टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि आवृत्ति द्विविध होती है—१. वर्णमात्रावलम्बिनी और २. समुदायगोचरा। वर्णमात्रावलम्बिनी आवृत्ति के भी दो उपभेद हैं—१. सामान्यतः और २. रूपतः। पुनः सामान्यतः आवृत्ति के भी दो उपभेद होते हैं—१. स्थानगत और २. व्यापारगत। इनमें स्थानगतसामान्यवर्णमात्रावलम्बिनी आवृत्ति ही कण्ठादि स्थानों पर आधारित अनुप्रास है और क्योंकि कण्ठादि स्थान-जन्य वर्णों का ज्ञान श्रुति पर ही निर्भर होता है, इसलिये इसे श्रुत्यनुप्रास कहा जाता है। श्रुति के द्वारा अभिव्यक्त वर्णव्यापार जो अभिव्यञ्जक रूप में सुना जाता है, वह अनुप्रास श्रुत्यनुप्रास कहलाता है।[3] इसके अतिरिक्त भोज ने श्रुत्यनुप्रास को समस्त अनुप्रासों का नायक बतलाया

---

१. यया कयापि श्रुत्या यत्समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदासत्ति सानुप्रासा रसावहा॥—**काव्यादर्श** १।५२।

२. श्रुतिमिवृ‍त्तिर्वर्णैः पदैर्नामद्विरुक्तिभिः।
लाटानामुक्तिभिश्चायं षट्प्रकारः प्रकाशते॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण** २।७१।

३. श्रूयते तयाऽभिव्यक्तो वर्णव्यापारोऽभिव्यञ्जकरूपः। **वही**, पृ० २२९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

है, इसी के कारण वैदर्भी सनाथ होती है। इस अनुप्रास को प्रतिभाशाली कवि के पुण्यों से ही उसके सुसमाहित चित्त में स्वयं वाग्देवी सन्निविष्ट करती है।[१]

श्रुत्यनुप्रास के मुख्य तीन भेद हैं—१. ग्राम्य २. नागर और उपनागर। इनमें से ग्राम्य के चार उपभेद हैं—१. मसृण २. वर्ण-मसृण ३. वर्णोत्कट ४. वर्णानुत्कट।

नागर के तीन उपभेद इस प्रकार हैं—१. भेदेऽप्येकत्वबुद्धिशाली (समान-स्थानीय) २. भेदेऽप्येकत्वबुद्धिशाली (असमानस्थानीय) और ३. एकत्वेऽपि भेदावभासशाली।[२]

तृतीय भेद उपनागर है इसमें ग्राम्य और नागर दोनों भेदों के गुणों का योग रहता है।[३]

मम्मट और जयदेवादि ने श्रुत्यनुप्रास की चर्चा नहीं की है। कविराज विश्वनाथ ने श्रुत्यनुप्रास का उल्लेख करते हुए कहा है—जब उच्चारण में तालव्य, दन्त्य आदि व्यञ्जनों की समानता किसी एक ही पद में आये, तो वहाँ श्रुत्यनुप्रास होता है। यह सहृदयों को सुनने में अतिसुखदायक होने के कारण ही श्रुत्यनुप्रास कहा जाता है।[४] साहित्यदर्पणकार इसके भेदोपभेद के सम्बन्ध में सर्वथा मौन हैं।

नरेन्द्र प्रभसूरि ने अपने ग्रन्थ **अलङ्कारमहोदधि** में श्रुत्यनुप्रास को तुल्यस्थानगतवर्णों की आवृत्ति स्वीकार किया है तथा इसे कविकर्म में सुप्रसिद्ध कहा है। इन्होंने इसके तीन भेद किये हैं—१. शुद्ध २. संकीर्ण और ३. नागर।[५]

---

१. प्रायेण श्रुत्यनुप्रासस्तेष्वनुप्रायेषु नायकः।
सनाथैव हि वैदर्भी भाति तेन विचित्रता॥
निवेशयति वाग्देवी प्रतिभानवतः कवेः।
पुण्यैरमुमनुप्रासं ससमाधिनि चेतसि॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण** २।७२–७३।

२. द्रष्टव्य—**सरस्वतीकण्ठाभरण** २।७४ तथा उद्धरण २।१७०, १७१, १७२, १७३।

३. द्रष्टव्य—**वही**, २।७५ तथा उद्धरण २।१७४।

४. (क) उच्चार्यत्वाद् यदैकत्र स्थाने तालु-रदादिके।
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते॥—**साहित्यदर्पण** १०।५।
(ख) एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वात् श्रुत्यनुप्रासः।
—**वही**,।

५. तुल्यस्थानभवैर्वर्णैरावृत्तैः श्रुतिहारिभिः।
विश्रुतः श्रुत्यनुप्रासः सर्वस्वं कविकर्मणः॥—**अलङ्कारमहोदधि** ७।३।
स एष त्रिविधः शुद्धः संकीर्णो नागरस्तथा। —**वही**।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि अनुप्रास के इस भेद का अधिकांश आचार्यों ने विवेचन नहीं किया है। इसका प्रमुख कारण इस अनुप्रास भेद का व्याकरण के नियमों से सुसम्बद्ध होना माना जा सकता है।

वृत्त्यनुप्रास—श्रुत्यनुप्रास के समान दण्डी ने वृत्त्यनुप्रास का भी माधुर्यगुण के प्रसंग में निर्देश मात्र ही किया है किन्तु वर्णावृत्तिरनुप्रासः के साथ ही पादेषु च पदेषु च कहकर जो भेद-संकेत किया है तथा पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता' का जो वर्णन किया है, उससे स्वाभाविक रूप से ही वृत्त्यनुप्रास के लक्षण का संकेत प्राप्त हो जाता है।[1] **काव्यादर्श** में पादगत वृत्त्यनुप्रास तथा पदगत वृत्त्यनुप्रास के उद्धरण क्रमशः इस प्रकार दिये गये हैं—

चन्द्रे शरन्निशोत्तंसे कुन्दस्तवकसंनिभे।
इन्द्रनीलनिभं लक्ष्म संदधात्यालिनः श्रियम्॥—काव्यादर्श १।५६।

प्रस्तुत उदाहरण में सभी पादों में चन्द्र, कुन्द, इन्द्र और सन्द इन पदों में नकार और दकार की आवृत्ति हुई है अतः यहाँ पादगत वृत्त्यनुप्रास अलंकार है।

चारुचान्द्रमसं भीरु बिम्बं पश्यैतदम्बरे।
मन्मनो मन्मथाक्रान्तं निर्दयं हन्तुमुद्यतम्॥ काव्यादर्श १।५७।

यहाँ विभिन्न पदों में चा और रु की, म्ब, मन्म आदि वर्णों की आवृत्ति हुई है, अत यह पदगत वृत्त्यनुप्रास का उद्धरण है।

इस प्रकार दण्डी ने वैदर्भ और गौडमार्गों के माध्यम से श्रुत्यनुप्रास और वृत्त्यनुप्रास का उल्लेख किया है।[2]

आचार्य उद्भट ने वृत्त्यनुप्रास को अधिक स्पष्ट एवं विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया है, साथ ही वृत्तियों के स्वरूप का विवेचन भी प्रस्तुत किया है। उनका स्पष्ट कथन है कि **परुषा, उपनारिका** और **ग्राम्या** ये तीन वृत्तियाँ हैं, इन्हीं वृत्तियों के आधार पर कविगण पृथक्-पृथक् अनुप्रास स्वीकार करते हैं। इस आधार पर वृत्त्यनुप्रास के तीन उपभेद हैं— १. परुषानुप्रास २. उपनागरिकानुप्रास ३. गाम्यानुप्रास।[3]

---

१. वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता॥—**काव्यादर्श** १।५५।

२. इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमिष्यते॥—**काव्यादर्श** १।५४।

३. सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥—**काव्यालंकारसारसंग्रह** १।३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

१. परुषावृत्ति में कठोर वर्णों का विन्यास रहता है। इसी को परुषानुप्रास भी कहते हैं।[1]

२. **उपनागरिकावृत्ति** (उपनागरिकानुप्रास)—इसमें अपने ही समान वर्ण के संयोग से बने हुए क्क, प्प, च्च आदि वर्ग के अन्तिम अक्षर ङ् ञ् ण् आदि के संयोग से बने हुए अक्षर ङ्क, ञ्च, ण्ट आदि की पुनरावृत्ति होती है।[2] नगर की चतुर, विदग्ध वनिता की सुकुमार वाक्यावली के समान होने से इसे उपनागरिका कहा जाता है। इसे उपनागरिकानुप्रास भी कहते हैं।[3]

ग्राम्यावृत्ति (ग्राम्यानुप्रास) इसमें परुषा और उपनागरिका से अवशिष्ट वर्णों लकारादि का समुचित प्रयोग किया जाता है। इसका दूसरा नाम कोमलावृत्ति भी है। काव्यों में आदर-बुद्धि रखने वाले इस ग्राम्यावृत्ति की प्रशंसा करते हैं।[4] कोमलवर्ण-विन्यास-युक्त यह कोमलावृत्ति ग्रामीण नारियों की स्वाभाविक श्रुतिमधुर पदावली के अनुरूप होने के कारण ग्राम्या कही जाती है। इसी को कोमलानुप्रास या ग्राम्यानुप्रास भी कहा जाता है।

आचार्य वामन ने वृत्त्यनुप्रास को पादानुप्रास में अन्तर्विष्ट किया है। यह बात उनके पादानुप्रास के उद्धरणों से ज्ञात होती है।[5]

काव्यालंकार प्रणेता आचार्य रुद्रट ने पाँच वृत्तियाँ स्वीकार की हैं और परुषावृत्ति के नाम को छोड़कर शेष सबके नाम तथा परुषावृत्ति के सहित सबके लक्षण भी बदल दिये हैं। रुद्रट द्वारा वर्णित वृत्तियाँ निम्नलिखित हैं १. मधुरावृत्ति २. प्रौढ़ावृत्ति ३. परुषावृत्ति ४. ललितावृत्ति और भद्रावृत्ति।[6]

वृत्तियों के प्रयोग के सम्बन्ध में रुद्रट का कथन है कि इन वृत्तियों का प्रयोग अर्थ के औचित्य का पूर्ण विचार करके ही करना चाहिए। विषय के अनुकूल कभी दीर्घ

---

१. शेषाभ्यां रेफसंयोगैष्ट्वर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद् ह्ल-ह्व-ह्य-द्यैश्च संयुता॥ —वही १।४

२. सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्तयोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः॥ —वही १।५।

३. एषा खलु नागरिकया वैदग्धीजुषा वनितया उपमीयते तत् उपनागरिका।
नागरिकया उपमिता उपनागरिकेति॥ —**प्रतिहारेन्दुराज काव्यलंकार —सारसंग्रहवृत्ति।**

४. शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः॥
—काव्यालंकार सारसंग्रह १।६।

५. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—४।१।१०।

६. द्रष्टव्य—**काव्यालंकार** (रुद्रट) २।१९–३१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

तथा कभी अल्प अक्षरों का प्रयोग होना चाहिये । और पुनः एक वृत्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।[१]

आनन्दवर्धनाचार्य उपनागरिका आदि वृत्तियों को संघटना के धर्मविशेषरूप माधुर्यादि गुणों से भिन्न रूप में स्वीकार नहीं करते ।[२] किन्तु उन्होंने कैशिकी आदि नाट्यवृत्तियों और परुषा आदि अनुप्रास जाति से सम्बद्ध वृत्तियों का काव्य में उपयोग स्वीकार किया है । उद्भट ने अनुप्रास जातियों को रसानुगुण-व्यवहार अभिहित किया है, किन्तु आनन्दवर्धन ने इन्हीं को रसानुगुण-शब्दव्यवहार कहा है ।[३] अभिनवगुप्त ने वृत्तियों के सम्बन्ध में कहा है कि अनुप्रास भेदों के आश्रयभूत होने के कारण ही वृत्तियों का यह नामकरण हुआ है। वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति—**'वर्तन्ते अनुप्रासभेदाः यासु इति वृत्तय'**:—के अनुसार इनमें अनुप्रास के भेद वर्तमान हैं, अतः इन्हें वृत्तियाँ कहते हैं । अभिनवगुप्त रीति को वृत्ति के गुण से भिन्न नहीं मानते ।[४] इनके अनुसार अनुप्रास के तीन प्रकार हैं । यथा—

१. **परुषानुप्रास**—जिसका प्रयोग दीप्प वस्तु के वर्णन के प्रसंग में किया जाता है । इस प्रकार परुषावृत्ति वीर, रौद्र तथा वीभत्स रसों के सर्वथा अनुकूल है ।

२. **ललितानुप्रास**—इसको मसृण अथवा उपनागरिका वृत्ति भी कहते हैं इसका प्रयोग ललित विषय के वर्णन में किया जाता है ।

३. **मध्यमानुप्रास**—इसी को ग्राम्या अथवा कोमलावृत्ति भी कहते हैं इसका प्रयोग कोमल विषय के अवसर पर किया जाता है ।

---

१. एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम् ।
मिश्राः कवीन्द्रै रघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः ॥
—**काव्यालङ्कार** (रुद्रट) २।३२ ।

२. वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपिप्रतीयन्ते । तदनति रिक्तवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशितास्ता अपि गताः श्रवणगोचरम् ।
—**ध्वन्यालोक**, पृ० ५६ ।

३. रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विधा स्थिताः ॥—**वही** ३।३३ ।

४. नैवं वृत्तिरीतिनां गुणव्यतिरिक्तत्वं सिद्धम् । यथा हि अनुप्रासमेव दीप्तमसृणमध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्व-ललितत्व-मध्यमत्वस्वरूप-विवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः ।
—**ध्वन्यालोक-लोचन**, पृ० ५६ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

स्पष्टतः उपनागरिकावृत्ति का प्रयोग श्रृंगार रस में, परुषावृत्ति का रौद्रादि रस में तथा कोमलावृत्ति का प्रयोग हास्यादि में स्वीकार किया गया है।[1]

भोजराज ने वृत्त्यनुप्रास के सम्बन्ध में कहा है कि अकठोर अक्षरों का प्रयोग, अतिनिर्वाह के दुराग्रह का त्याग तथा अशैथिल्य वृत्त्यनुप्रास के रसिकों के लिये आवश्यक है।[2] वर्णानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास में यह अन्तर है कि वृत्त्यनुप्रास में आवृत्ति का निर्वाह निरन्तरता से होता है, इसके विपरीत वर्णानुप्रास में कदाचित् आवृत्ति होती है।[3]

भोजराज ने अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित द्वादश वृत्तियों का सोदाहरण विशद् विवेचन करने के अनन्तर अन्त में उनका खण्डन कर दिया है। वे इन वृत्तियों को सौकुमार्यादि गुणों से आदि भारती और वृत्तियों से पृथक् नहीं मानते। उनके मतानुसार इस वृत्ति के और भी भेद हो सकते थे किन्तु उन्होंने उन्हें दुष्कर मानकर छोड़ दिया है।[4]

आचार्य मम्मट के अनुसार एक वर्ण का अथवा अनेक वर्णों का अनेक बार सादृश्य होने पर वृत्त्यनुप्रास अलंकार होता है।[5] इनको उपनागरिका, परुषा तथा कोमला—ये तीन ही वृत्तियाँ अभीष्ट हैं। इनमें से माधुर्य व्यञ्जक वर्णों से युक्त वृत्ति उपनागरिका ओज प्रकाशक वर्णों से युक्त वृत्ति परुषा तथा शेष वर्णों से युक्त 'कोमला' (ग्राम्या) होती है।[6]

---

१. नागरिकोपमिताऽनुप्रासवृत्तिः शृंगारादौ विश्राम्यति। परुषा दीप्तेषु रौद्रादिषु कोमला हास्यादौ ; तथा वृत्तयः काव्यमातर इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टाविशेषो वृत्तिः।

—**ध्वन्यालोक-लोचन** ३ उद्योत

२. अकठोराक्षरादानं नातिनिर्वहणैषिणः।
अशैथिल्यं च सत्कर्तुं वृत्त्यनुप्रासमीशते ॥ —**सरस्वतीकण्ठाभरण** २।८१।

३. क्वदस्ति क्वचिन्नास्ति क्वचिदस्ति न चास्ति च।
वर्णानुप्रास एषा तु सर्वतोऽस्तीति भिद्यते ॥ —**वही** २।८२।

४. (क) **द्रष्टव्य-वही** २।८३–८६
(ख) इति द्वादशधा वृत्तिः कैश्चिद्या कथितेह सा।
न गुणेभ्यो न वृत्तिभ्यः पृथक्त्वेनावभासते ॥—**वही**, २।८७।
(ग) श्रुत्यनुप्रासवर्णानुप्रासयोरपि दुष्कराः।
कश्चिदभेदाः पृथक्कर्तुमस्यास्तेनेह नेष्यते ॥—**वही**, २।८८।

५. (क) एकस्याप्यसकृत्परः। —**काव्यप्रकाश** ९।७९।
(ख) एकस्य अपि शब्दादनेकस्य व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रासः। —**वही** ९।७९ वृत्ति।

६. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः ॥ —**वही** ९।८०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

जो वामन के अनुसार क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियाँ हैं।[1]

आचार्य उद्भट ने वृत्त्यनुप्रास में काव्य की तीन वृत्तियों—उपनागरिका, परुषा तथा कोमला का निरूपण किया था।[2] वामन ने उन्हीं वृत्तियों का वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीति के नाम से विवेचन किया था।[3] दण्डी और कुन्तक ने मार्ग नाम से[4] तथा आनन्दवर्धन ने संघटना नाम से इनका उल्लेख किया था।[5] आचार्य मम्मट ने वृत्ति, रीति, मार्ग तथा संघटना आदि को एक (अभिन्न) माना है। उन्होंने तीन गुणों (माधुर्य, ओज और प्रसाद) के अनुसार तीन प्रकार की गुणाभिव्यंजक वृत्तियों को ही माना है तथा उनका स्वतंत्र अस्तित्व न मानकर वृत्त्यनुप्रास में ही अन्तर्भाव कर दिया है। मम्मट के अनुसार नियत वर्णों में रहने वाला रसविषयक व्यापार ही वृत्ति है।[6]

रुय्यक के अनुसार केवल एक व्यञ्जक के सादृश्य, व्यंजन-समुदाय के एक बार सादृश्य अथवा दो से अधिक तीन आदि व्यंजनों के परस्पर सादृश्य की स्थिति में वृत्त्यनुप्रास होता है।[7] रसविषयक व्यापार ही वृत्ति कहलाता है और अलंकार प्रकरण में उस व्यापार से युक्त वर्ण-रचना वृत्ति कहलाती हैं। यह वृत्ति परुष,

---

१. (क) केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रतियो मताः।—**काव्यप्रकाश** ९।८१।
(ख) एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनांमते वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः। —**वही वत्ति**, ९।८१, पृ०४३७।

२. सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥ —**काव्यालंकारसारसंग्रह**।

३. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। सा त्रिधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली च।—**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** १।२।६–९।

४. (क) इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥ —**काव्यादर्श** १।४२।
(ख) इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः॥—वही १।१०१।

५. वर्णसंघटना धर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम्, रीतश्च वैदर्भीप्रभृतयः। —**ध्वन्यालोक** १।१।

६. वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।
—**काव्यप्रकाश**, ९।७९ वृत्ति, पृ० ४३५।

७. (क) अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः। —**अलंकारसर्वस्व**, सूत्र ५।
(ख) केवल व्यञ्जन-सादृश्यमेकधा समुदायसादृश्यं त्र्यादीनां च परस्पर-सादृश्यमन्यथाभावः।—वही वृत्ति, सूत्र–५, पृ० ३०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कोमल और मध्यम वर्णों से युक्त होने के कारण तीन प्रकार की है। यह वृत्त्यनुप्रास इसी त्रिविध वृत्ति से उपलक्षित होता है।[१]

जयदेव के अनुसार जहाँ एक वर्ण अथवा अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होती है, वहाँ वृत्त्यनुप्रास होता है। रसानुकूल उपनागरिका आदि वृत्ति के अनुप्रास को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं।[२]

विश्वनाथ के अनुसार अनेक व्यञ्जनों की एक ही प्रकार से समानता होने पर अथवा अनेक व्यंजनों की अनेक वार आवृत्ति होने पर अथवा अनेक प्रकार से अनेक बार अनेक वर्णों की आवृत्ति होने पर अथवा एक ही वर्ण की एक ही बार समानता होने पर अथवा एक ही वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने पर वृत्त्यनुप्रास होता है।[३] इनके अनुसार भी रसविषयक अनुकूल व्यापार से युक्त रचना को वृत्ति कहते हैं। उससे अनुगत प्रकृष्ट विन्यास को वृत्त्यनुप्रास कहते हैं।[४]

मम्मटाचार्य के अनन्तर वृत्ति और रीति में इतना ऐक्य स्थापित हो गया था कि पण्डितराज जगन्नाथ ने वैदर्भी को वृत्ति नाम से ही वर्णित किया है।[५]

स्पष्टतः वृत्त्यनुप्रास वृत्तियों के आधार पर बना है, अतः इस अलंकार-भेद को वृत्तिमूलक अनुप्रास अलंकार भी कहा जा सकता है।

छेकानुप्रासः—इस अनुप्रास-प्रभेद की सर्वप्रथम उद्भावना आचार्य उद्भट ने की। उनके अनुसार जहाँ दो-दो स्वर और व्यञ्जनों के समुदाय का समान उच्चारण हो, वहाँ छेकानुप्रास होता है।[६] जिस प्रकार अपने घोंसले में बैठे हुए पक्षी बिना किसी कष्ट के सुखपूर्वक मधुर वाणी बोलते हैं, उसी प्रकार इस अनुप्रास भेद में भी बिना किसी प्रयत्न के सरलता से स्वर और व्यञ्जनों की योजना से

---

१. वृत्तिस्तु रसविषयो व्यापारः। तद्वती पुनर्वर्णरचनेह वृत्तिः।
सा च परुषकोमलमध्यमवर्णारब्धत्वात्त्रिधा। तदुपलक्षितोऽयमनुप्रासः।
—वही, वृत्ति, सूत्र–५, पृ० २०-३१।

२. आवर्तवर्णसंपूर्णं वृत्त्यनुप्रासवद्वचः।—चन्द्रालोक ५।३।

३. अनेकस्यैकधासाम्यमसकृद् वाप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥ —साहित्यदर्पण १०।४।

४. रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद् वृत्त्यनुप्रासः।—साहित्यदर्पण, वृत्ति १०।४, पृ० ६६९।

५. व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती निर्मातुर्या प्रसादयुता।
तां विबुधा वैदर्भी वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाकाम् ॥
—रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ७३।

६. छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ।
—काव्यालङ्कारसारसंग्रह ३।२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

माधुर्य आ जाता है, अतः इसे छेकानुप्रास कहते हैं।[१] इसके अतिरिक्त विदग्धजनों को प्रिय होने के कारण भी इसे छेकानुप्रास कहते हैं।

वामन, रुद्रट ने इस प्रभेद को स्वीकार नहीं किया है। भोजराज ने भी छेकानुप्रास की चर्चा नहीं की है तथापि उनके द्वारा स्वीकृत वर्णानुप्रास और उसके भेदों में यह अनुप्रास भेद अन्तर्हित हो जाता है।

आचार्य मम्मट ने छेकानुप्रास को वर्णानुप्रास के एक भेद के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार अनेक व्यञ्जनों की एक बार समानता होने पर छेकानुप्रास होता है।[२] उनके अनुसार छेक का अर्थ विदग्ध (सहृदय) जन है। विदग्ध जनों का प्रिय होने से इसका यह नाम पड़ा है।[३]

रुय्यक के अनुसार दो व्यंजन समुदायों का परस्पर अनेक बार सादृश्य होने पर छेकानुप्रास होता है।[४] रुय्यक ने इसके विवेचन में सर्वप्रथम स्वरूप एवं क्रम का सन्निवेश किया।

जयदेव के अनुसार जहाँ अनेक स्वर अथवा अनेक व्यञ्जन की एक बार आवृत्ति की जाए, वहाँ छेकानुप्रास होता है।[५]

विश्वनाथ ने व्यञ्जनों के समुदाय की एक ही बार अनेक प्रकार की समानता होने पर छेकानुप्रास माना है। यहाँ अनेक प्रकार की समानता से यह अभिप्राय है कि स्वरूप से भी समानता होनी चाहिए और क्रम से भी। छेक का अर्थं है चतुर पुरुष। उनके प्रयोग के योग्य होने के कारण इसे छेकानुप्रास कहा जाता है।[६]

---

१. छेकशब्देन कुलायाभिरतानां पक्षिणामभिधानं तेषां च कुलायाभिरतत्वादन्येन केनचिदनायास्यमानानामनेनानुप्रासेन सदृशी मधुरा वागुच्चरति।
—वही, वृत्ति।

२. (क) सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः·········।
—**काव्यप्रकाश** ९।७९।

(ख) अनेकस्य अर्थाद् व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः।
—**वही**, वृत्ति ९।७९, पृ० ४३६।

३. छेकाः विदग्धाः। —**वही**, वृत्ति ९।७९, पृ० ४३५।

४. (क) संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः। —**अलंकारसर्वस्व**, सूत्र–४।

(ख) द्वयोर्व्यञ्जन समुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं संख्यानियमः। पूर्वं व्यञ्जन समुदायाश्रितम्।·········छेका विदग्धाः।
—**वही**, वृत्ति सूत्र ४, पृ० २८-२९।

५. गौर्जगज्जाग्रदुत्सेका छेकानुप्रासभासुरा।—**चन्द्रालोक** ५।२।

६. (क) छेको व्यञ्जनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा।
—**साहित्यदर्पण** १०।३।

(ख) छेको विदग्धस्तत्प्रयोज्यत्वादेष छेकानुप्रासः।
—**वही**, १०।३ वृत्ति भाग।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विश्वनाथ ने छेकानुप्रास के लक्षण में स्वरूप एवं क्रम के स्वरूप को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है।

संस्कृत अलंकारिकों में रुय्यक ने छेकानुप्रास का वर्णन अनुप्रास के एक भेद के रूप में न करके स्वतन्त्र अलंकार के रूप में किया है। इसके विपरीत आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ ने इसे अनुप्रास का एक भेद ही स्वीकार किया है।

स्फुटानुप्रास—पीयूषवर्ष जयदेव के अनुसार जहाँ श्लोक के अर्धपाद में अथवा अर्धपाद के भी अर्धभाग में यदि निश्चित रूप से वर्णावृत्ति होती है, तो वहाँ स्फुटानुप्रास होता है।[1] सम्भवतः अन्य आचार्यों ने इसे छेकानुप्रास में अन्तर्हित मान कर इसका पृथक् वर्णन नहीं किया है। इस अनुप्रास-भेद को केवल जयदेव ने ही स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है।

अर्थानुप्रास—इस अनुप्रास भेद का भी वर्णन केवल जयदेव ने ही किया है। उनके अनुसार जहाँ उपमेय और उपमान दोनों के वर्णों में समानता रहती हैं, वहाँ अर्थानुप्रास होता है।[2] अन्य आचार्यों ने इस अनुप्रास-भेद पर विचार नहीं किया है।

अन्त्यानुप्रास—इस अनुप्रास-भेद को केवल विश्वनाथ ने ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ आद्यस्वर के साथ यथावस्थ (यथासम्भव) अनुस्वार, विसर्ग अथवा स्वर से युक्त व्यञ्जन की आवृत्ति हो, वहाँ अन्त्यानुप्रास होता है। यह पादान्तगत और पदान्तगत रूप से दो प्रकार का होता है।[3]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह जा सकता है कि रसानुकूल वर्ण-विन्यास का शास्त्रीय नाम अनुप्रास है। अनुप्रास को विद्वानों ने नादमूलक अलंकार माना है। वर्ण साम्य से एक विशेष प्रकार का नाद उत्पन्न होता है, जिसका अनुभव अर्थ को न जानने वाला व्यक्ति भी सहज रूप से कर लेता है। अनुप्रास के लक्षण-विकास का परिशीलन करने से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि भामह तथा विश्वनाथ पर्यन्त तथा

---

१. तदा मता मतिमतां स्फुटानुप्रासता सताम्। —**चन्द्रालोक ५।५।**

२. उपमेयोपमानादावर्थानुप्रास इष्यते।
चन्दनं खलु गोविन्दचरणद्वन्द्ववन्दनम्॥ —**वही, ५।६।**

३. (क) व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत्॥
—**साहित्यदर्पण १०।६।**

(ख) यथावस्थमिति यथासंभवमनुस्वार विसर्गस्वर युक्ताक्षरविशिष्टम्। एष च प्रायेण पादस्य पदस्य चान्ते प्रयोज्यः।
—**वही, १०।६ वृत्ति भाग।**

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उत्तरवर्ती आचार्यों में भी लक्षणगत कोई वैषम्य नहीं आया है। भेद-विवेचन से अनुप्रास की लोकप्रियता का आभास मिलता है। अनुप्रास का चमत्कार व्यञ्जन अथवा व्यञ्जनों की आवृत्ति के ही अधीन है। अनुप्रास की आवृत्तियों में यमक की आवृत्ति प्रणाली का पूर्ण प्रभाव है। **अलंकारकौस्तुभ** की टिप्पणी में अनुप्रास के सम्बन्ध में उचित ही कहा गया है—यद्यपि अनुप्रास की कृत्रिमता स्वभावतः सिद्ध है तथापि मानव द्वारा ऐसा कोई भी काव्य नहीं बना था, बनता है और बनेगा जिसमें इसकी सहायता की अपेक्षा न की जाए।[1] इस प्रकार अनुप्रास की सर्वप्रियता प्रकट हो जाती है। अनुप्रास के गुणों पर मुग्ध होकर भोज ने भी कहा है—जैसे ज्योतना चन्द्रमा का तथा लावण्य अङ्गनाओं का सौंदर्यवर्धन करता है, वैसे ही यह अनुप्रास काव्य को अलंकृत करने में समर्थ है। प्रतिभाशाली कवि के पुण्यों से ही उसके सुसमाहित चित्त में वाग्देवी स्वयं अनुप्रास (श्रुत्यनुप्रास) का सन्निवेश करती है।[2]

सरूप वर्णाभ्यास रूप अनुप्रास के पाँच भेद ही मान्य हो सके हैं।

१. वृत्त्यनुप्रास—वृत्ति विशेष में प्रयुक्त व्यञ्जन-समुदाय की आवृत्ति।

२. छेकानुप्रास—वर्णसंघ की क्रमभङ्ग आवृत्ति।

३. लाटानुप्रास—तात्पर्यभेद से समानार्थक पद की आवृत्ति।

४. श्रुत्यनुप्रास—समान उच्चारण स्थान से उच्चरित वर्णों की अदूर योजना।

५. अन्त्यानुप्रास—पद या पाद के अन्त में सरूप वर्णावृत्ति।

यमकालंकार—भारतीय अलंकार शास्त्र में उपलब्ध शब्दालंकारों में यमक प्रथम है। भरत मुनि द्वारा यह सर्वप्रथम वर्णित है। अतः यह शब्दालंकारों का उद्गम स्रोत स्वीकार किया गया है। आचार्य भरत द्वारा परिगणित चार अलंकारों उपमा, रूपक, दीपक और यमक में से यमक एक मात्र शब्दालंकार है। **'यम्यते गुण्यते आवर्त्यते पदमक्षरं वेति यमः'** इस शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार पद अथवा अक्षर की जहाँ आवृत्ति हो, उसे यमक कहते हैं।

आचार्य भरत के अनुसार शब्द का अभ्यास यमक अलंकार है।[3] उन्होंने

---

१. अनुप्रासस्य कृत्रिमतायां स्वभावसिद्धायामपि न तावत् किमपि मानवकृतं काव्यं भूतं भवद्भव्यं वा यत्रास्य साहाय्यकमनपेक्षितुमर्हति।

—अलंकारकौस्तुभ

२. यथा ज्योतस्ना चन्द्रमसं लावण्यमङ्गनानाम्।
अनुप्रासस्तथा काव्यमलङ्कर्तुमयं क्षमः॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण २।७६।

निवेशयति वाग्देवी प्रतिभानवतः कवेः।
पुण्यैरमुमनुप्रासं ससमाधिनि चेतसि॥ **—सरस्वतीकण्ठाभरण** २।३७।

३. शब्दाभ्यासस्तु यमकम्। **नाटयशास्त्र** १६।५८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

इसके पादान्त, कांची, समुद्ग, विक्रान्त, चक्रवाल, सन्दष्टक पादादि यमक, आम्रेडित, चतुर्थवस्थित तथा माला यमक रूप से दस भेद स्वीकार किये हैं।[1]

आचार्य भामह ने सुनने में समान प्रतीत होने वाले किन्तु अर्थों में परस्पर भिन्न वर्णों की आवृत्ति अथवा पुनरुक्ति को यमक कहा है।[2] इसके अतिरिक्त यमक की विशेषता तथा हेयता पर भी विचार किया है। उनके अनुसार जिसके शब्द प्रसिद्ध और पद-सन्धियाँ सुश्लिष्ट हों, जो ओजस्वी, प्रसाद-सम्पन्न और सुखोच्चार्य हो, वही यमक विद्वानों को अभीष्ट है।[3] अनेक अप्रसिद्ध धातुओं के निष्पन्न दुर्बोध शब्दों के प्रयोग से युक्त यमक को हेय माना है तथा उसे प्रहेलिका कहा है। इस सम्बन्ध में राम शर्मा के 'अच्युतोत्तर' काव्य की ओर संकेत किया है[4] यमक में यथासम्भव क्लिष्टता का अभाव अपेक्षित है; इसकी ओर संकेत करते हुए भामह ने कहा है कि यदि ये काव्य भी शास्त्रों के समान व्याख्या गम्य बन जाएँ, तो विद्वान् ही आनन्द उठायेंगे, जो बेचारे विद्वान् नहीं हैं, वे तो मारे गये।[5] भामह ने यमक के पाँच भेद स्वीकार किये हैं—१. आदियमक २. मध्यान्तयमक ३. पादाभ्यास ४. आवली तथा ५. समस्तपादयमक।[6] सन्दष्टक, समुद्ग आदि यमक के भेदों का पूर्वोक्त भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है। वे या तो आदि में रहते हैं या मध्यान्त में। इस प्रकार यमक के पाँच ही भेद हैं।[7]

आचार्य दण्डी ने एक स्थल पर वर्ण संघात की आवृत्ति को यमक माना

---

१. द्रष्टव्य, वही, १६।६०-६२।

२. तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते॥
—काव्यालंकार (भामह) २।१७।

३. प्रतीतशब्दमोजस्वि सुश्लिष्टपदसन्धि च।
प्रसादि स्वभिधानञ्च यमकं कृतिनां मतम्॥ —वही २।१८।

४. नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे॥ —वही २।१९।

५. काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः। —वही, २।२०।

६. (क) आदिमध्यान्तयमकं पादाभ्यासं तथावली।
समस्तपादयमकमित्येतत्पञ्चधोच्यते॥ —वही २।९।

(ख) द्रष्टव्य—वही, २।११-१६।

७. सन्दष्टकसमुद्गादेरत्रैवान्तर्गतिर्मता।
आदौ मध्यान्तयोर्वा स्यादिति पञ्चैव तद्यथा॥
—काव्यालंकार (भामह) २।१०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

है ।[१] तथा दूसरे स्थल पर उस पूर्वोच्चारित वर्ण समुदाय की आवृत्ति में अव्यवधान तथा व्यवधान दोनों को ग्राह्य बतलाया है । इस यमक की स्थिति पद्य के चरणों के आदि, मध्य अथवा अन्त में हो सकती है ।[२] एक पादगत, द्विपादगत, त्रिपादगत और चतुष्पादगत यमकों के आदि, मध्य, अन्त, मध्य-अन्त, आदि-अन्त और सर्व (आदि, मध्य और अन्त) इन सात भेदों से विविध प्रकार बनते हैं ।[३] इन यमक-भेदों के परस्पर सम्मिश्रण से उत्पन्न अनेकानेक प्रभेद हैं, जो सरस भी हैं और कठिन भी ।[४] इस प्रकार यमक के कुल तीन सौ पन्द्रह प्रभेद बन जाते हैं । यद्यपि दण्डी ने यमक की एकान्त मधुरता का निषेध किया है, तथापि इसके प्रति उनका विशेष आग्रह प्रतीत होता है । उन्होंने यमकालंकार के भेदोप-भेद-विवेचन में पर्याप्त श्रम किया है । अग्निपुराणकार ने भिन्नार्थप्रतिपादिका अनेकवर्णावृत्ति को यमक कहा है ।[५] उन्होंने सर्वप्रथम यमक के अव्यपेत और व्यपेत रूप से दो भेद किये हैं, फिर इन दोनों भेदों के स्थान और पाद के क्रम से अवान्तर भेद किये हैं ।[६]

उद्भट ने यमक की सत्ता ही स्वीकार नहीं की है । वामन ने यमक के लक्षण को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि अनेकार्थक पद अथवा अक्षर की आवृत्ति स्थान-नियम से होने पर यमक अलंकार होता है ।[७]

रुद्रट ने यमक का विषय प्रायः छन्द को बतलाते हुए तुल्यश्रुति और क्रम रहते हुए भी परस्पर भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति को यमक का माना है ।[८] वामन के स्थान-नियम को रुद्रट ने यमक का आवश्यक लक्षण नहीं माना है ।

---

१. आवृत्ति वर्णसंघातगोचरां कवयो: विदुः । —काव्यादर्श १।६१ ।

२. अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्ण-संहतेः ।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ।। —वही ३।१ ।

३. एकद्वित्रिचतुष्पाद यमकानां विकल्पनाः ।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्त सर्वतः ।। —वही, ३।२ ।

४. अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः संभेदयोनयः ।
सुकरा दुष्कराश्चैव दर्श्यन्ते तत्र केचन ।। —वही, ३।३ ।

५. अनेकवर्णावृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका । —अग्निपुराण ३४३।११ ।

६. द्रष्टव्य—अग्निपुराण ३४३।१२-२० ।

७. पदमनेकार्थमक्षरं वाऽवृत्तं स्थान नियमे यमकम् ।
—काव्यालंकार सूत्र वृत्ति ४।१।१ ।

८. तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम् ।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छंदांसि विषयोऽस्य ।।
—काव्यालंकार (रुद्रट) ३।१ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

भोजराज ने विभिन्नार्थक तथा एकरूप वाली वर्णसंहति की आवृत्ति को यमक अलंकार का लक्षण स्वीकार किया है। यह आवृत्ति अव्यवधान तथा व्यवधान रूप से दो प्रकार की होती है।[1] भोजराज दण्डी से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता के भेद के रूप में यमक का लक्षण निरूपित किया है। उनके अनुसार जहाँ समान वर्ण वाले, किन्तु भिन्नार्थक, प्रसाद-गुणयुक्त, श्रुतिपेशल, औचित्ययुक्त पद की स्थान-नियम के साथ आवृत्ति होती है, वहाँ यमक अलंकार होता है।[2] इस लक्षण में समान वर्ण वाले किन्तु भिन्नार्थक पद की नियत-स्थान में आवृत्ति की धारणा तो वामन से ली गई है, किन्तु प्रसादगुण से युक्त होने, श्रुतिपेशल होने तथा औचित्ययुक्त होने की धारणा नवीन है।

आचार्य मम्मट के अनुसार अर्थ होने पर, भिन्न-भिन्न अर्थ वाले वर्ण-समुदाय की पूर्वक्रम से ही आवृत्ति यमक अलंकार कहलाती है।[3] प्रस्तुत यमक के लक्षण-वाक्य में चार अंश हैं—

१. वर्णानां पुनः श्रुतिः—वर्ण समुदाय की आवृत्ति यमकालंकार है। किन्तु वर्ण समुदाय की आवृत्ति तो लाटानुप्रास में भी होती है, इसीलिये यहाँ **२. अर्थ-भिन्नानाम्**—पद का प्रयोग किया गया है, क्योंकि लाटानुप्रास में एकार्थक वर्ण-समुदाय की आवृत्ति होती है, भिन्नार्थक की नहीं। किन्तु अर्थभिन्नानां वर्णानां पुनः श्रुतिः यमकम् कहने से **'समरसमरसोयम्'** में यमक नहीं होता, क्योंकि यहाँ द्वितीय 'समर' अनर्थक है, इसी कारण **३. अर्थे सति**—यह पद दिया गया है। अतः यह अर्थ हुआ कि भिन्न-भिन्न अर्थ वाले सार्थक, सार्थक और निरर्थक तथा सभी निरर्थक वर्ण समुदायों का यमक हुआ करता है। ऐसी स्थिति में तो **'सरो रसः'** में भी यमक होने लगेगा जो अभीष्ट नहीं है। इसलिये **'पुनः श्रुतिः'** के विशेषण रूप में **'सा'** पद दिया

---

१. विभिन्नार्थैकरूपाया या वृत्तिर्वर्णसंहतेः।
अव्यपेतव्यपेतात्मा यमकं तन्निगद्यते॥ —**सरस्वतीकण्ठाभरण** २।५८।

२. समानवर्णमन्यार्थप्रसादि श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत्॥
—**वक्रोक्तिजीवित** २।६–७।

३. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः।
यमकं पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम्॥ —**काव्यप्रकाश** ९।८३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि वर्णों की पुनः श्रुति क्रम से ही होनी चाहिए।[१] स्पष्ट है कि यमक स्थल में यह आवश्यक नहीं है कि आवृत्त वर्ण दोनों स्थलों पर सार्थक ही हों। इस प्रकार मम्मटाचार्य ने समश्रुति वाले पदों की सार्थक अथवा निरर्थक किन्तु क्रमबद्ध आवृत्ति को यमक का अनिवार्य धर्म स्वीकार किया है। यमक पादवृत्ति से तथा पादभागवृत्ति से अनेक प्रकार का हो जाता है।[२]

राजानक रुय्यक के अनुसार स्वर तथा व्यञ्जनों के समुदाय का पौनरुक्त्य यमक अलंकार होता है।[३] इस यमक में कहीं अर्थ भिन्न होता है, कहीं अर्थ भिन्न नहीं होता है और कहींएक स्वर-व्यञ्जन-समुदाय अर्थहीन होता है और दूसरा सार्थक होता है, इस प्रकार संक्षेप में इसके तीन भेद हैं।[४] स्पष्ट है कि आचार्य रुय्यक ने यमक को शब्दपौनरुक्त्याश्रित बतलाया है।

शोभाकर मित्र ने तुल्यरूपसमुदाय की आवृत्ति को यमक कहा है।[५]

जयदेव के अनुसार मधुर भाषण करने वाले प्राचीन विद्वानों ने कवि की प्रशंसा करने वाले अनेक वर्णों की आवृत्ति के समूह को यमकालंकार बताया है।[६] विद्यानाथ के अनुसार स्वर-व्यञ्जन समुदाय की पुनरुक्ति होने पर यमकालंकार होता है।[७]

---

१. समरसमरसोऽयमित्यादावकेषामर्थवत्त्वेऽन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुं इति अर्थे सतीत्युक्तम्। सेति सरो रस इत्यादि वैलक्षण्येन तेनैव क्रमेण स्थिता॥

—काव्यप्रकाश ९।८३, वृत्ति।

२. (क) पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम्। —वही, ९।८३।

(ख) द्रष्टव्य—९।८३ वृत्ति, पृ० ४४१।

(ग) एवं वैचित्र्यसहस्रैः स्थितमन्यदुन्नेयम्।

—वही, वृत्ति, पृ० ४४५।

३. स्वर-व्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम्।

—अलंकारसर्वस्व, सूत्र–६।

४. अत्र क्वचिद्भिन्नार्थत्वं क्वचिदनर्थकत्वं क्वचिदेकस्यानर्थकत्वमपरस्य सार्थकत्वमिति संक्षेपतः प्रकारत्रयम्।

—वही, सूत्र–६ वृत्ति, पृ० ३३।

५. तुल्यरूपसमुदायावृत्तिर्यमकम्। —अलंकाररत्नाकर–२।

६. आवृत्तवर्णस्तवकं स्तवकन्दाङ्कुरं कवेः।
यमकं प्रथमाधुर्यमाधुर्यवचसो विदुः॥ —चन्द्रालोक ५।८।

७. यमकं पौनरुक्त्ये तु स्वरव्यञ्जनयुग्मयोः।

—प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० २४९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विश्वनाथ के अनुसार सार्थक किन्तु भिन्नार्थक स्वर-व्यञ्जन समूह की पूर्व-क्रमानुसार आवृत्ति को यमक कहते हैं।[1] यमक में कहीं-कहीं दोनों पद सार्थक हुआ करते हैं और कहीं-कहीं दोनों निरर्थक और कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि एक पद तो सार्थक होता है और दूसरा निरर्थक, इसीलिये सार्थक किन्तु भिन्नार्थक स्वर-व्यञ्जन समुदाय की बात कही गई है। 'तेनैव क्रमेण' पद के प्रयोग का अभिप्राय है कि दमो-मोदः जैसे स्वर-व्यञ्जन-समूह की आवृत्ति को यमक स्वीकार न किया जाये। यमकालंकार की भेद संख्या अति प्रचुर है क्योंकि पादावृत्ति, पादार्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि प्रकार की आवृत्तियाँ यमक के ही विविध प्रकार हैं और इनमें भी प्रत्येक के अनेकानेक प्रकार—पाद-आदिभाग की आवृत्ति, मध्यभाग की और अन्त्यभाग की आवृत्ति आदि सम्भव हैं।[2]

यमकालंकार सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि यमक में स्वर-व्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम में पाद के आदि मध्य अथवा अन्त आदि नियत स्थान में आवृत्ति होती है। यदि वह वर्ण-समुदाय सार्थक हो तो आवृत्त पदों को भिन्नार्थक होना चाहिए। निरर्थक वर्ण-समुदाय की आवृत्ति में स्वर-व्यञ्जन का समान क्रम तथा आवृत्ति का नियत स्थान मात्र अपेक्षित होता है। आवृत्ति व्यवहित (व्यपेत) और अव्यवहित (अव्यपेत) भी हो सकती है। आवृत्ति की निम्न स्थितियाँ हो सकती हैं—

१. दोनों पद सार्थक किन्तु भिन्नार्थक हो २. दोनों वर्ण-समुदाय निरर्थक हों ३. प्रथम अंश सार्थक तथा दूसरा निरर्थक हो और ४. पूर्वभाग निरर्थक तथा उत्तर-भाग सार्थक हो। रस के साथ यमक का नियत सम्बन्ध न होने से दण्डी कुन्तक जैसे आचार्यों ने इसे महत्त्वपूर्ण अलंकार स्वीकार नहीं किया है।[3] तथापि **रामायण-महाभारत** आदि महाकाव्यों में प्राप्त यमक के बहुत उदाहरण इसके प्रति महाकवियों की रुचि के प्रतीक हैं। यमक का प्रयोग अत्यन्त सावधानी एवं कुशलतापूर्वक होना चाहिए। **ध्वन्यालोककार** आनन्दवर्धन ने ध्वन्यात्मक शृंगार में विशेषकर विप्रलम्भ

---

१. सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥ —**साहित्यदर्पणः** १०।८।

२. अत्र द्वयोरपि पदयोः क्वचित्सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम्। क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम्। अत उक्तं–सत्यर्थे इति। तेनैव क्रमेण इति दमो-मोद इत्यादेर्विविक्तविषयत्वं सूचितम्। एतच्च पादपादार्द्धश्लोकावृत्तित्वेन पादावृत्तेश्चानेकविधतया प्रभूततमभेदम्।
—**साहित्यदर्पण** १०।८ **की वृत्ति**, पृ० ६७२।

३. तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद् विधास्यते। —**काव्यादर्श** १।६१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

शृंगार में यमकादि का निबन्धन कवि के प्रमाद का सूचक माना है।[1] इस प्रकार रस प्रधान काव्य में इसका निरूपण अवश्य गौण माना गया है तथापि भाषा-सौन्दर्य तथा नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से काव्य-साहित्य में यमकालंकार का अपना विशिष्ट स्थान है।

पुनरुक्तवदाभास अलंकार—जो पुनः कथन की तरह आभासित हो किन्तु वस्तुतः वह पुनरुक्त न हो, उसे पुनरुक्तवदाभास कहते हैं। इस अलकार के सम्बन्ध में भरत, भामह और दण्डी ने कोई विचार नहीं दिया है। आचार्य उद्भट ने सर्व-प्रथम पुनरुक्तवदाभास अलंकार का निरूपण किया है और अपने शब्दालंकार विवेचन में भी इस अलकार को प्रथम स्थान प्रदान किया है।[2] उद्भट के अनुसार भिन्न होने पर भी एकरूपात्मक प्रतीति कराने वाले पदों के विन्यास में पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है।[3] यद्यपि एक ही अर्थ का भिन्न-भिन्न पदों से पुनः-पुनः कथन पुनरुक्ति-दोष माना जाता है तथापि जहाँ यथार्थतः अर्थ की पुनरुक्ति नहीं रहने पर भी आपाततः पुनरुक्ति का आभास होता है और अन्ततः पुनरुक्ति का परिहार हो जाता है, वहाँ चमत्कार के कारण पुनरुक्तवदाभास या पुनरुक्ताभास अलंकार माना जाता है। इस अलंकार के शब्दालंकारत्व अथवा अर्थालंकारत्व के सम्बन्ध में संस्कृत आचार्यों में मतैक्य नहीं है।

अग्निपुराणकार, वामन और रुद्रट ने इस अलंकार की कोई चर्चा नहीं की है। भोजराज ने भी प्रायः लाटानुप्रास के विवेचन में कहीं द्विरुक्ति और पुनरुक्ति के विश्लेषण से ही पुनरुक्तवदाभास को अन्तर्हित मान लिया है।

आचार्य मम्मट ने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकारों में छठा स्थान दिया है। उनके अनुसार यह अलंकार शब्दगत रहने पर शब्दालकार और शब्दार्थोभयगत होने पर उभयालंकार (शब्दार्थोभयनिष्ठ) है।[4] मम्मटाचार्य ने पुनरुक्तवदाभास

---

१. ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥ —ध्वन्यालोक २।१५।

२. पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च।
अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः॥ —**काव्यालंकारसारसग्रह**।

३. पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवोद्भासि भिन्नरूपपदम्। —**वही, १।१**।

४. (क) स च शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम्। —**काव्यप्रकाश ९।८६**।
(ख) द्रष्टव्य—उदाहरणम्—तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जर............ हरिर्जिष्णुः। अत्रैकस्मिन् पदे परिवर्तिते नालंकार इति शब्दाश्रय अपरस्मिंस्तु परिवर्तितेऽपि स न हीयते इत्यर्थनिष्ठ इत्युभया-लकारोऽयम्।
—**वही ९।३९१ तथा वृत्ति भाग, पृ० ४६४–४६५**।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

का लक्षण देते हुए कहा है कि जहाँ भिन्न-भिन्न आकार (वर्णक्रम) वाले शब्दों में एकार्थकता का आभास होता है, वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है।[१] इस प्रकार मम्मट के अनुसार परस्पर भिन्न-भिन्न रूप वाले सार्थक अथवा निरर्थक शब्दों की आपाततः जो एकार्थकता की प्रतीति होती है, उसे पुनरुक्तवदाभास कहते हैं। उन्होंने इसके शब्दगत और शब्दार्थगत दो भेद किये हैं तथा शब्दगत के सभङ्ग और अभङ्ग रूप से पुनः दो उपभेद किये हैं। इस प्रकार उनके अनुसार पुनरुक्तवदाभास के तीन भेद हैं—**१. सभंगशब्दगतपुनरुक्तवदाभास २ अभंगशब्दगतपुनरुक्तवदाभास ३ शब्दार्थोभयगतपुनरुक्तवदाभास।**

राजानक रुय्यक ने पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकार के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रारम्भ में पुनरुक्त-सा भासित होना पुनरुक्तवदाभास है।[२] आमुखावभासन से उनका तात्पर्य है कि प्रथम दर्शन में जैसा दिखाई दे, वैसा अन्त में दिखाई न दे।[३] इसे अर्थालंकार मानने का कारण बताते हुए रुय्यक ने स्पष्ट कहा है कि अर्थ की ही पुनरुक्ति होने से, अर्थ पर ही आश्रित होने से इसे अर्थालंकार मानना चाहिए।[४]

शोभाकरमित्र पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार मानते हैं। उनके अनुसार आमुख में एकार्थ पद की पुनरुक्ति को पुनरुक्तवदाभास कहते हैं।[५]

जयदेव ने पुनरुक्तप्रतीकाश नाम से पुनरुक्तवदाभास अलंकार का विवेचन किया है। उनके अनुसार जहाँ पुनरुक्त अर्थ के सदृश पद हों, वहाँ पुनरुक्तप्रतीकाश

---

१. (क) पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोग्यम्॥
—काव्यप्रकाश ९।८६।

(ख) भिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः।
·········इत्युभयालंकारोयऽम्।
—वही, ९।८६ वृत्ति, पृ० ४६३–४६५;

२. आमुखावभासनं पुनरुक्तवदाभासम्। **—अलंकारसर्वस्व,** सूत्र–३।

३. आमुखग्रहणं पर्यवसानेऽन्यथात्वप्रतिपत्त्यर्थम्।
—वही, सूत्र–३, वृत्ति, पृ० २५।

४. अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारत्वं ज्ञेयम्।
—वही, वृत्ति सूत्र–३, पृ० २५।

५. द्रष्टव्य—**अलंकाररत्नाकर—**

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकार होता है।[1] वृत्ति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह अलंकार वाक्यनिष्ठ होने के कारण शब्दालंकार माना गया है।[2]

विश्वनाथ के अनुसार जहाँ अर्थ आपाततः पुनरुक्तवत् प्रतीत हुआ करता है, वहाँ भिन्न स्वरूप वाले समानार्थक शब्दों में पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकार होता है।[3]

इस अलंकार के विषय में आचार्यों में थोड़ा मतभेद इसके शब्दगतत्व तथा अर्थगतत्व आदि को लेकर ही रहा है अन्यथा इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कोई मतवैभिन्नय नहीं दिखाई देता।

आचार्य मम्मट ने इसे शब्दार्थोभयगत अलंकार के रूप में स्वीकार किया है। विश्वनाथ भी इसे उभयालंकार मानने के पक्षपाती हैं। विश्वनाथ ने शब्दालंकार-प्रकरण में इसका निरूपण केवल परम्परा के निर्वाह के लिये किया है।[4] राजानक रुय्यक ने इसे अर्थालंकार के रूप में स्वीकार किया है। पुनरुक्तवदाभास अलंकार के उद्भावक आचार्य उद्भट ने यद्यपि शब्दालंकार और अर्थालंकार का सैद्धान्तिक रूप से विभाजन नहीं किया है तथापि उनके अलंकार-विवेचन के क्रम को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता जाता है कि उन्होंने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार माना है। शोभाकरमित्र तथा जयदेव ने भी इसे शब्दालंकार के रूप में स्वीकार किया है।

यद्यपि काव्य में पुनरुक्ति को दोष माना गया है तथापि वह पुनरुक्ति जब स्वाभाविक गुणों से युक्त होकर शब्दसौन्दर्य के साथ-साथ अर्थ-सौन्दर्य को भी प्रकाशित करती है, तो वह अलंकारत्व से युक्त हो जाती है। इस प्रकार जब पुनरुक्ति वास्तविक न होकर आभासमात्र होती है, तो उसे पुनरुक्तवदाभास अलंकार कहते हैं। पुनरुक्तवदाभास की योजना में कहीं शब्दों में समानाकारता हो या न हो किन्तु एकार्थकता का आभास अवश्य होना चाहिए। पुनरुक्तवदाभास को उभयगत मानना ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें पुनरुक्ति का बोध पहले शब्द-प्रयोग-चातुरी से होता है, किन्तु पुनरुक्ति का परिहार अर्थ-सापेक्ष होता है।

---

१. पुनरुक्तप्रतीकाशं पुनरुक्तार्थसन्निभम्। —**चन्द्रालोक ५।७।**

२. भिन्नार्थकत्वे सति एकार्थपदवदाभाससमानत्वम्। अयं चालंकारो वाक्यनिष्ठत्वाद् शब्दः।। —**वही, वृत्ति।**

३. आपाततो यदर्थस्य पौरुक्त्येन भासनम्।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः।। —**साहित्यदर्पण १०।२।**

४. शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालंकारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात्प्रथमं तमेवाह। —**साहित्यदर्पण,** दशमपरिच्छेद पृ० ६६६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

यमक और पुनरुक्तवदाभास दोनों अलंकारों में भिन्नार्थक शब्द प्रयुक्त होते हैं किन्तु जहाँ यमक में भिन्नार्थक शब्दों का आकार समान होता है वहाँ पुनरुक्तवदाभास में भिन्न आकार वाले शब्दों का प्रयोग होता है। आचार्यों ने यमक से भिन्नता प्रदर्शनार्थ ही इसके लक्षण में 'विभिन्नाकार' विशेषण का प्रयोग किया है।

वक्रोक्ति अलंकार—भारतीय काव्यशास्त्र में जहाँ एक ओर वक्रोक्ति की धारणा का विकास काव्य के एक प्रमुख तत्त्व के रूप में हुआ है, वहाँ दूसरी ओर संकुचित अर्थ में उसे काव्यालंकारों में से अन्यतम माना गया है। वक्रोक्ति दो शब्दों—वक्र और उक्ति—से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है—वक्र कथन। वक्ता के भिन्नार्थक वाक्य का यदि श्रोता भिन्न अर्थ कर देता है तो वहाँ वक्रोक्ति होती है।

आचार्य भामह ने अतिशयोक्ति से मिलाते हुए अतिशयपूर्ण कथन के लिये वक्रोक्ति का प्रयोग किया है। उनके अनुसार वक्रोक्ति के अभाव में कोई अलंकार नहीं हो सकता, इसके द्वारा काव्यार्थ रमणीय हो जाता है।[1] वामनाचार्य ने अलंकार विशेष के रूप में इसका निरूपण किया। उन्होंने लाक्षणिक प्रयोग के प्रकार-विशेष का पर्याय बनाकर वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप में इस प्रकार परिभाषित किया कि सादृश्य के कारण होने वाली लक्षणा वक्रोक्ति है।[2] सादृश्यमूला लक्षणा में वक्रोक्ति स्वीकार कर वामन उसे आचार्य दण्डी के समाधि गुण के समान बना दिया है।[3]

आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति के नवीन स्वरूप की कल्पना की है। उनके अनुसार जहाँ वक्ता के किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त वाक्य का श्रोता श्लेष के सहारे उससे भिन्न अर्थ लगा लेता है, वहाँ श्लेष वक्रोक्ति नामक अलंकार होता है।[4] जहाँ वक्ता के उच्चार्यमाण स्वर विशेष से अक्लिष्ट अर्थान्तर की प्रतीति होती है, वहाँ काकुवक्रोक्ति होती है।[5] इस प्रकार वक्रोक्ति के प्रमुख दो भेद होते हैं—श्लेपवक्रोक्ति तथा काकु-

---

१. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥
—काव्यालंकार (भामह) २।८५।

२. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। —काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः ४।३।८।

३. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥ —काव्यादर्श १।९३।

४. वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
वचनं यत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः॥ —काव्यलङ्कार (रुद्रट) २।१४।

५. विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्ति॥ —वही २।१६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

वक्रोक्ति। पारवर्ती आचार्यों में रुद्रट-कृत वक्रोक्ति के स्वरूप तथा उसके श्लेष और काकुभेदों के सम्बन्ध में मतभेद दिखाई नहीं देता हैं। किन्तु उसके शब्दालंकारत्व तथा अर्थालंकारत्व के विषय में आचार्यों में दो मत रहे हैं। यथा रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार स्वीकार किया था, मम्मट तथा विश्वनाथ ने भी रुद्रट का समर्थन करते हुए इसे शब्दालंकार ही माना किन्तु रुय्यक, अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों ने उसी स्वरूप को स्वीकार करने पर भी उसे अर्थालंकार के रूप में मान्यता दी।

आचार्य मम्मट ने रुद्रट के दोनों लक्षणों को एक करके यह लक्षण बनाया है जहाँ वक्ता के द्वारा किसी अभिप्राय से कहा गया वाक्य यदि अन्य व्यक्ति (श्रोता) के द्वारा श्लेष या काकु रूप कण्ठध्वनि विकार के हेतु से अन्य अर्थ में कल्पित कर लिया जाता है, तो वहाँ वक्रोक्ति नामक अलंकार होता है और यह श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति भेद से दो प्रकार का होता है।[1] इन्होंने पदभङ्गश्लेष अभङ्गश्लेष तथा काकु रूप से वक्रोक्ति के तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

राजानक रुय्यक के अनुसार अन्यार्थक वाक्य को काकु से या श्लेष से अन्य अर्थ में लगा देना वक्रोक्ति है।[2] इन्होंने इसके चार भेद स्वीकार कर चार उदाहरण दिये हैं—१. काकु वक्रोक्ति २. अभङ्ग श्लेष ३. सभङ्गश्लेष और ४. उभयश्लेष-वक्रोक्ति।[3]

पीयुषवर्ष जयदेव ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार रूप से परिगणित किया है। उनके अनुसार जहाँ श्लेष तथा काकु के कारण अन्य अभिप्राय के वाक्य का दूसरा अभिप्राय समझा जाए, वहाँ वक्रोक्ति होती है।[4] इन्होंने श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति रूप से दो ही स्वीकार किये हैं।

विश्वनाथ ने वक्रोक्ति के लक्षण में मम्मटाचार्य का अनुकरण किया है। उनके अनुसार जहाँ श्लेष के कारण अथवा काकु के कारण किसी के अन्यार्थक वाक्य को किसी अन्य अर्थ में लगा लिया जाता है, वहाँ श्लेष के कारण श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु के कारण ऐसा होने से काकु वक्रोक्ति होती है। इस प्रकार वक्रोक्ति के द्विविध भेद हुआ करते हैं।[5] इन्होंने भी श्लेष के सभङ्ग और अभङ्गरूप से दो भेद तथा काकु रूप एक भेद करके तीन उदाहरण दिये हैं।

---

१. यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।—**काव्यप्रकाश** ९.७८

२. अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथा योजनं वक्रोक्तिः।
—**अलंकारसर्वस्व** ७८।

३. काकुवशाद्विधिनिषेधयोर्विपरीतार्थसंक्राति। श्लेषोऽभङ्गसभङ्गत्वेनोभयमत्वेन त्रिविधः।—**वही, वृत्ति,** पृ० ३२३।

४. वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां वाच्यार्थान्तरकल्पनम्।—**चन्द्रालोक** ५.१११।

५. अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा भोजयेद्यदि।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा॥
—**साहित्यदर्पण** १०.९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ श्लेष या काकु में से किसी एक के द्वारा अर्थान्तर की कल्पना की जाए, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।[1] इन्होंने अविकृत श्लेष वक्रोक्ति तथा विकृतश्लेषवक्रोक्ति रूप से शब्दश्लेष मूलक एवं अर्थश्लेष मूलक वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति के उदाहरण दिये हैं।[2]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि रुद्रट कल्पित वक्रोक्ति अलंकार के स्वरूप-लक्षण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हाँ, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के विषय में आचार्यों में मतभेद अवश्य रहे हैं। वस्तुत: सभङ्ग तथा अभङ्ग श्लेष और काकु पर आश्रित वक्रोक्ति में शब्दालंकारत्व भी है और अर्थालंकारत्व भी। अत: इसे उभयालंकार वर्ग में समाहित करना उचित कहा जा सकता है।

श्लेष अलङ्कार—श्लेष ही एक ऐसा अलंकार है जिसे आचार्यों ने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों रूपों में स्वीकार किया है। श्लेष शब्द 'श्लिष्' धातु से बना है जिसका अर्थ है चिपका हुआ। इस अलंकार में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है, जिनमें एकाधिक अर्थ चिपके रहते हैं।

श्लेष एक प्राचीन अलंकार है। आचार्य भामह ने सर्वप्रथम इसे अलंकार के रूप में मान्यता प्रदान कर इसका स्वरूप-विवेचन किया। किन्तु इनके पूर्व भरत मुनि ने श्लेष की गणना गुणों में की थी। उनके अनुसार इच्छित अर्थसमूह से परस्पर सम्वद्ध पदों की श्लिष्टता को श्लेष कहा जाता है।[3] उन्होंने इसका एक अन्य लक्षण भी दिया है—जहाँ स्वभाव से ही स्पष्टता और विचार-गहनता हो तथा स्वत: ही शब्दों में सुप्रतिबद्धता हो, वहाँ श्लेष होता है।[4] इस प्रकार भरत ने गुण रूप में वर्णित श्लेष में इच्छित अर्थ की श्लिष्टता पर अधिक बल दिया है। इस लक्षण में श्लेप के प्रमुख तत्त्व–शब्द एक हो और वह कवि की ईप्सा के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ देने में समर्थ हो का निर्देश भरत ने ही कर दिया था।

भामह ने श्लेष अलंकार के लक्षण में उपमान एवं उपमेय की तादात्म्यसिद्धि पर विचार किया है। उनके अनुसार यदि गुण, क्रिया, नाम या संज्ञा के द्वारा उपमान का उपमेय के साथ अभेद (तादात्म्य) वर्णित किया जाये, तो उसे श्लिष्ट

---

१. वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकल्पनम्। —**कुवलयानन्द, १५६।**

२. सर्वमिदं शब्दश्लेपमूलाया वक्रोक्तेरुदाहरणम्, अर्थश्लेषमूलाया।
वक्रोक्तेः काक्वा यथा।—**वही, वृत्ति, पृ० २६०।**

३. ईप्सितेनार्थजातेन सम्वद्धानुपरस्परम्।
श्लिष्टता या पदानां स श्लेष इत्यभिधीयते॥—**नाटयशास्त्र, १६।९७।**

४. विचारगहनं यत्स्यात् स्फुटं चैव स्वभावतः।
स्वतः सुप्रतिवद्धं च श्लिष्टं तत्परिकीर्तितम्॥—**वही, १६।९८।**

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकार कहते हैं।[१] भामह ने इस लक्षण द्वारा उपमेय सम्बन्धी गुण, क्रिया और नाम के उपमान सम्बन्धी गुण, क्रिया और नाम के साथ अभेद-प्रतिपादन पर बल दिया है। किन्तु उनके इस लक्षण से रूपक और श्लेष की पृथक्‌ता स्पस्ट नहीं हो पाती थी, अतः इस लक्षण की रूपक में अतिव्याप्ति की आशंका से उन्होंने अन्य कथन द्वारा उस का निराकरण करते हुए कहा है कि श्लेष में उपमान तथा उपमेय का एक साथ प्रयोग अभीष्ट होता है।[२] इसमें एक ही शब्द में अनेकार्थता आवश्यक होती है, इसके विपरीत रूपक में उपमेय और उपमान के धर्म भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहे जाते हैं इसमें शब्दों की अनेकार्थता नहीं होती। श्लेष का स्वरूप-निर्णय करते हुए भामह ने स्पष्ट कहा है कि शब्द और अर्थ में श्लेष रहने से ही श्लिष्ट (श्लेष) का रूपक से भेद होता है। सहोक्ति, उपमा और हेतु का निर्देश होने से वह श्लिष्ट तीन प्रकार का होता है।[३] इस प्रकार भरत-निर्दिष्ट श्लेष गुण को अलंकार रूप में मान्यता देने तथा शब्द-अर्थ रूप दोनों भेदों के यत्किंचित् निर्देश का सर्व-प्रथम श्रेय भामहाचार्य को ही है।

दण्डी के अनुसार एक रूप से स्थित वाक्य के द्वारा अनेकार्थ-प्रतिपादन होने पर श्लेष होता है। यह अभिन्नपद और भिन्नपदप्राय रूप से दो प्रकार का होता है।[४] इस प्रकार दण्डी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि एक रूपान्वित (एकार्थ-वाची) शब्दों के प्रयोग द्वारा ही किसी वाक्य में अनेकार्थबोध हो, तो वहाँ श्लेष होता है। दण्डी ने अपने लक्षण में उपमानोपमेय भाव का उल्लेख नहीं किया है। दण्डी कृत अभिन्न पद और भिन्नपदप्राय भेदों के आधार पर ही परवर्ती आचार्यों ने श्लेष के 'अभङ्ग' तथा 'सभङ्ग' भेदों की कल्पना की है। दण्डी की दृष्टि में यह श्लेष अधिक व्यापकता को प्राप्त हुआ क्योंकि उन्होंने उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक आदि अलंकारों में इसकी गोचरता को सिद्ध किया है।[५] उपर्युक्त दो भेदों के अतिरिक्त उन्होंने अन्य सात श्लेष-प्रकार भी स्वीकार किये हैं—१. अभिन्नक्रिय २. अविरुद्ध-क्रिय ३. विरुद्धक्रिय (विरुद्धकर्मा) ४. नियमवान् ५. नियमापेक्षरूपोक्ति ६. अविरोधी

---

१. उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य साध्यते।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते॥
—काव्यालङ्कार (भामह) ३।१४।

२. लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु।
इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः॥—वही, ३।१५।

३. श्लेषादेवार्थवचसोरस्य च क्रियते भिदा।
तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधं यथा॥—वही ३।१७।

४. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः।
तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा॥—काव्यादर्श, २।३१०।

५. (क) उपमारूपकाक्षेपव्यतिरेकादिगोचराः।
प्रागेव दर्शिताः श्लेषा दर्श्यन्ते केचनापरे॥—वही, २।३१३।
(ख) द्रष्टव्य—वही, २।२८-२९, २।८७, २।१६०, २।१८६, २।११४, २।१७०, २।१७४, तथा २।३४५–३४६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

और ७. विरोधी ।[1] दण्डी ने श्लेष के महत्त्व के सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है कि यह सभी वक्रोक्तिमूलक अलंकारों में उपस्थित होकर उनकी शोभावृद्धि करता है ।[2]

अग्निपुराण में श्लेष को अलंकार नहीं माना गया है। अग्निपुराणकार ने गुण के शब्दगुण नामक भेद के सात प्रबन्धों में प्रथम स्थान देते हुए शब्दों के सघन गुम्फन को श्लेष कहा हैं ।[3] आचार्य उद्भट ने श्लेष की परिभाषा का परिष्कार कर उसके स्वरूप, प्रकार एवं उसकी सीमा का निर्धारण कर सर्वथा नवीन विचार दिया है । उनके अनुसार एक प्रयत्नोच्चार्यमाण तथा उन शब्दों की छाया धारण करने वाले शब्दों के भिन्न स्वरितादि गुणों से होने वाले बन्ध को श्लेष कहते हैं तथा यह पदों के द्वारा अलंकारान्तर्गत प्रतिभा को उत्पन्न करते हुए अर्थ और शब्दोक्ति रूप से दो प्रकार का होता है ।[4] इस प्रकार उद्भट ने अर्थश्लेष और शब्दश्लेष का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है । जहाँ एक प्रयत्नोच्चार्यमाण शब्दों का प्रयोग होगा, वहाँ अर्थश्लेष होगा और जहाँ एक प्रयत्नोच्चार्य शब्दों की छाया रखने वाले शब्दों की योजना होगी, वहाँ शब्दश्लेष होगा। स्पष्टतया शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में श्लेष का विकास उद्भट की मौलिकता का प्रतीक कहा जा सकता है ।

वामन ने भामह के ही मत का अनुसरण किया है । उनके अनुसार गुणक्रिया-शब्दरूप धर्मों में तन्त्रप्रयोग होने पर श्लेष अलंकार होता है ।[5]

आचार्य रुद्रट ने शब्दश्लेष और अर्थश्लेष को पृथक्-पृथक् प्रकरणों में स्थान

---

१. अस्त्यभिन्नक्रियः कश्चिदविरुद्धक्रियोऽपरः ।
विरुद्धकर्मा चास्त्यन्यः श्लेषो नियमवानपि ॥
नियमापेक्षरूपोक्तिरविरोधी विरोध्यपि ।
तेषां निदर्शनेष्वेव रूपमाविर्भविष्यति ॥—वही, २।३१४–३१५ ।

२. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।—वही, २।३६३ ।

३. शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं यः स तद्गुणः ।
श्लेषो लालित्यगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता ॥
सत्येव यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा ।
सुश्लिष्टसंनिवेशत्वं शब्दानां श्लेष उच्यते ॥—अग्निपुराण, ३४६।५–६ ।

४. एक प्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम् ।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते ॥
अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः ।
द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम् ॥
—काव्यालङ्कारसारसंग्रह, ४।९–१० ।

५. (क) स च धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः ।
उपमानोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्दरूपेषु स तत्त्वारोपः ॥
—काव्यालङ्कारसूत्र, वृत्ति, ४।३।७ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

देकर उनके लक्षण दिये । उनके अनुसार जहाँ सुश्लिष्ट अक्लिष्ट तथा विविध पद-संधियों से युक्त कहने योग्य अनेक अर्थों को बतलाने वाले अनेक वाक्यों की एक साथ रचना हो, वहाँ श्लेष (शब्द श्लेष) अलंकार होता है ।[1] इन्होंने इसके आठ भेद माने हैं—वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय विभक्ति और वचन श्लेष ।[2] शब्द-श्लेष के लक्षण में निम्न तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं—

१. इसमें अनेकार्थवाची शब्द (पद) प्रयुक्त होते हैं ।

२. इसमें अनेक वाक्यों की योजना होती है किन्तु उनकी रचना अक्लिष्ट तथा विविध पद-संधियों से युक्त होती है ।

रुद्रट ने अर्थ श्लेष का लक्षण इस प्रकार दिया है—जहाँ अनेकार्थक पदों से युक्त एक वाक्य द्वारा अनेक अर्थों का निश्चय होता है, वहाँ अर्थश्लेष होता है ।[3] इन्होंने इसके दस भेद किये हैं—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व और विरोधाभास ।[4]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि शब्दश्लेप में अनेक वाक्य प्रयुक्त होते हैं किन्तु अर्थश्लेष में एक वाक्य का विधान होता हैं । स्मरणीय है कि रुद्रट ने श्लेष के उपयुक्त एवं सहृदय-सम्मत प्रयोग के लिये महाकवि को शब्दानुशासन व्याकरण के गहन अध्ययन सम्यगालोचन तथा लक्ष्याधिगमन के साथ ही देशभाषा का प्रौढ ज्ञान तथा अभिधान-कोषों के मनन के पश्चात् ही प्रयोग करने की सम्मति दी है ।[5]

पूर्व पृष्ठ की पाद टिप्पणी ।

(ख) तन्त्र का तात्पर्य एक बार उच्चारण से अनेक अर्थ के बोधरूप अनेकोपकारित्व से है ।

१. वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसंधि ।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः ॥
—काव्यालङ्कार (रुद्रट), ४।१ ।

२. (क) वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम् ।
अत्रायं मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ॥—वही, ४।२ ।

(ख) द्रष्टव्यः—वही, ४।३, ५, ७, १०, २४, २६, २८ ।

३. यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ॥—वही, १०।१ ।

४. (क) अविशेषविरोधाधिकवक्रव्याजोक्त्यसंभवावयवाः ।
तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ॥—वही, १०।२ ।

(ख) द्रष्टव्य—वही, १०।३, ५, ७, ९, ११, १४, १६, १८, २०, २२ ।

५. शब्दानुशासनमशेषमवेत्य सम्यगालोच्य लक्ष्यमधिगम्य च देशभाषाः ।
यत्नादधीत्य विविधानभिधानकोषाञ्श्लेषं महाकविरिमं निपुणो विदध्यात् ॥
—वही, ४।३५ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने श्लेष के शब्द और अर्थ रूप दो भेदों को स्वीकार किया है। शब्द-श्लेष का लक्षण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जहाँ दो वस्तुओं का ऐसा सादृश्य जो न कम हो और न अधिक, केवल शब्द द्वारा कहा जाता हो, उसे शब्दश्लेष कहते हैं। यह कर्ता कर्म आदि प्रधान अर्थों के साथ नित्य-सम्बद्ध धर्मी और धर्मवाचक शब्दों में प्रयोग से दो प्रकार का होता है। इस प्रकार शब्दश्लेष का लक्षण संक्षेप में समझ लेना चाहिए। दूसरा (अर्थश्लेष) प्रसिद्ध है, अतः हम ने (व्यक्तिविवेककार ने) उसके लक्षण का विवेचन नहीं किया है। किन्तु उनका कथन हैं कि श्लेष के दोनों प्रकारों में अर्थद्वय की अभिव्यक्ति का कोई कारण अवश्य बताया जाना चाहिये अन्यथा कवि का श्लेष की रचना का श्रम व्यर्थ हो जायेगा।[१]

भोजराज ने श्लेष को शब्दगुण, अर्थगुण, शब्दालंकार तथा उभयालंकार के रूप में मान्यता दी है। उन्होंने सुश्लिष्टपदता को (भिन्न पदों की एक पद के समान प्रतीति होने को) शब्दश्लेष गुण माना है।[२] संविधान में सुसूत्रता को (क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्ति रूप घटना के व्यवस्थित विन्यास को) अर्थश्लेष गुण माना है।[३] उनके अनुसार जहाँ एक रूप वाक्य से एक साथ ही दो अर्थों का कथन हो, उसे शब्दज्ञों ने श्लेष (शब्दश्लेष) अलंकार कहा है।[४] यह प्रकृति-प्रत्यय भेद से छः प्रकार का होता है।[५] जहाँ एक पद से अनेक अर्थों का कथन हो, वहाँ उभया-लंकार रूप श्लेषालंकार होता है। यह षड् विध होता है।[६] इस प्रकार शब्दश्लेष

---

१. यत्रान्यूनातिरिक्तेन सादृश्यं वस्तुनोर्द्वयोः ।
शब्दमात्रेण कथ्येत स शब्दश्लेष इष्यते ॥
स शब्दैः कर्तृकर्मादि-प्रधानार्थाविनाकृतैः ।
निबद्धो धर्मिधर्मार्थैर्द्विविधः परिकीर्तितः ॥
इत्थं समासतो ज्ञेयं शब्दश्लेषस्य लक्षणम् ।
अपरस्तु प्रसिद्धत्वादिहास्माभिर्न लक्षितः ॥
उभयत्राप्यभिव्यक्त्यै वाच्यं किंचिन्निबन्धनम् ।
अन्यथा व्यर्थ एव स्यात् श्लेषबन्धोद्यमः कवेः ॥—**व्यक्तिविवेक**, २।८१–८४

२. गुणः सुश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते ।—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, १।६६ ।

३. अथैतानेव वाक्यार्थगुणत्वेन प्रचक्ष्महे ।
तेषां श्लेष इति प्रोक्तः संविधाने सुसूत्रता ॥—**वही**, १।७८ ।

४. एकरूपेण वाक्येन द्वयोर्भणनमर्थयोः ।
तन्त्रेण यत्स शब्दज्ञैः श्लेष इत्यभिशब्दितः ॥—**वही**, २।६८ ।

५. प्रकृतिप्रत्ययोत्थौ द्वौ विभक्तिवचनाश्रयौ ।
पदभाषोद्भवौ चेति शब्दश्लेषा भवन्ति षट् ॥—**वही**, २।६९ ।

६. श्लेषोऽनेकार्थकथनं पदेनैकेन कथ्यते ।
पदक्रियाकारकैः स्याद्भिन्नाभिन्नैः स षड्विधः ॥—**वही**, ४।८५ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

में दो अर्थों की प्रधानता तथा उभयगत में अनेकार्थों की प्रधानता को व्यक्त किया गया है।

आचार्य मम्मट ने श्लेष अलंकार को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों प्रकरणों में स्थान दिया है। उनके समय तक श्लेषालंकार का क्षेत्र निश्चित हो गया था। आचार्य मम्मट ने किसी अलंकार को शब्दगत तथा अर्थगत मानने का आधार अन्वय-व्यतिरेकभाव को माना है। इस आधार पर उनका कथन है कि शब्दपरिवृत्त्यसहत्व की स्थिति में शब्दालंकार तथा शब्दपरिवृत्त्यसहत्व की स्थिति में अर्थालंकार होता है। उनके अनुसार अर्थभेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए श्लिष्ट (एक रूप) प्रतीत होते हैं, वह श्लेष अलंकार (शब्दश्लेषालंकार) होता है। वह श्लेष अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है।[1] अभिप्राय यह है कि अर्थ की भिन्नता से शब्द भी भिन्न-भिन्न होते हैं—इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ-भेद के कारण भिन्न-भिन्न होने वाले भी शब्द जब-काव्य के क्षेत्र में उदात्तादि स्वर का विचार नहीं किया जाता इस न्याय के अनुसार—एक उच्चारण के द्वारा श्लिष्ट हो जाते हैं, अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप को छिपा लेते हैं तथा एक रूप में भासित होते हैं, वहाँ (सभङ्ग) शब्द श्लेषालंकार होता है। वह वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति तथा वचन के भेद से आठ प्रकार का होता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति आदि भेदों के न होने पर भी नवम प्रकार का श्लेष भी होता है जिसे अभङ्ग श्लेष कहा जाता है।[2] इस भेद को अभङ्ग श्लेष इसलिये कहा जाता है क्योंकि इसके लिये पदों को विविध प्रकृति प्रत्यय आदि अंशों में तोड़ने की आवश्यकता नहीं होती। अभिप्राय यह है कि जहाँ प्रकृति आदि भेद-रहित शब्द का अनेक अर्थ में तात्पर्य होता है वहाँ श्लेष का नवम प्रकार (अभङ्ग श्लेष) होता है। इस प्रकार शब्दश्लेष के मुख्यत: दो भेद हैं—सभङ्ग श्लेष और अभङ्ग श्लेष। शब्दश्लेष के शब्दों का अर्थ करते समय जब पद भङ्ग करके दो अर्थ उपलब्ध किये जाते हैं वहाँ सभङ्ग श्लेष होता है तथा जहाँ बिना किसी प्रकार के विच्छेद के दोनों अर्थ प्राप्त किये जाते हैं वहाँ अभङ्ग श्लेष होता है।

---

१. (क) वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा॥
—**काव्यप्रकाश**, ९।८४।

(ख) अर्थभेदेन शब्दभेदः इति दर्शने 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यत् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति, भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते, स श्लेषः। स च वर्णपदलिङ्गभाषा प्रकृति-प्रत्ययविभक्तिवचनानां भेदादष्टधा।—**वही**, ९।८४ वृत्ति।

२. भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत्।—**काव्यप्रकाश**, ९।८५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य भामह ने श्लेष को अर्थालंकार माना था। उद्भट ने भी इसे अर्थालंकारों में अन्यतम परिगणित कर इसके दो भेद किये थे—अर्थश्लेष और शब्दश्लेष जो क्रमशः अभङ्ग श्लेष और सभङ्ग श्लेष के समान कहे जाते हैं। किन्तु आचार्य मम्मट ने श्लेष को शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों रूपों में स्वीकार किया है। सभङ्ग श्लेष और अभङ्ग श्लेष को शब्दश्लेष (शब्दालंकार) माना है और अर्थश्लेष (अर्थालंकार) का पृथक् दशमोल्लास में वर्णन किया है। मम्मट ने उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अभङ्गश्लेष की अर्थालंकारता का निराकरण कर उसे शब्दालंकार के रूप में प्रतिपादित किया है। मम्मट के इस मन्तव्य के सम्बन्ध में उद्भट के अनुयायियों द्वारा उठाई गई शंका को मम्मट ने इस प्रकार प्रकट किया है--स्वरित आदि स्वर रूप गुण का भेद होने पर भिन्न प्रयत्नों से उच्चारण योग्य तथा उस स्वरित आदि स्वर का भेद न होने पर एक ही प्रकार के प्रयत्नों से उच्चरित शब्दों की रचना में शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष दोनों ही अन्य उपमादि अलंकारों की प्रतिभा मात्र (आभास मात्र) के उत्पादक हैं, इसलिये (उद्भट आदि) आचार्यों ने दोनों को ही अर्थालंकारों के मध्य परिगणित किया है, फिर यह अभङ्ग श्लेष शब्दालंकार कैसे है।[1] पूर्वपक्षी का तात्पर्य यह है कि पदों में श्लेष द्विविध होता है सभङ्ग, तथा अभङ्ग। सभङ्ग श्लेष में भिन्न-भिन्न स्वर वाले पद होते हैं, अतः वे विजातीय होते हैं किन्तु उच्चारण की समानता के कारण उनमें एकरूपता की प्रतीति होती है। वहाँ जतुकाष्ठन्याय से भिन्न-भिन्न अर्थों के बोधक दो शब्द श्लिष्ट (चिपके) रहते हैं, अतः इसे शब्द श्लेष कहा जाता है। अभङ्ग श्लेष में शब्दों की भिन्नता नहीं होती, अर्थों की ही भिन्नता होती है। वहाँ एकवृन्तगतफलद्वय के समान दो अर्थ ही श्लिष्ट होते हैं, अतः स्पष्ट ही यह अर्थश्लेष है। दूसरी बात यह है कि इस उभयविधश्लेष में उपमादि कोई अन्य अलंकार अवश्य होता है, अतः यह अन्य अलंकारों का बाधक है। तीसरी बात यह है कि दोनों प्रकार का श्लेष अर्थापेक्ष है, अतः अर्थालंकार ही है। संक्षेप में पूर्वपक्ष के तीन पक्ष हैं--१. अभङ्ग श्लेष को अर्थालंकार मानना चाहिए। २. श्लेष उपमादि अलंकारों का बाधक है। ३. सभङ्ग तथा अभङ्ग श्लेष दोनों ही अर्थालंकार है।

उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए मम्मट ने कहा है कि दोष, गुण तथा अलंकारों का शब्दगत तथा अर्थगत रूप में जो विभाग होता है, उसकी व्यवस्था अन्वय-व्यतिरेक भाव से ही होती है। जैसे श्रुतिकटुत्व आदि दोष, गाढ-बन्धत्व आदि गुण एवं अनुप्रास आदि अलंकार शब्द के भाव और अभाव का अनुसरण करने के

---

१. ननु स्वरितादिगुणभेदाद् भिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां तदभावादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धेऽलंकारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालंकारमध्ये परिगणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दालंकारः।—वही, ९।८५ वृत्ति, पृ० ४५०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कारण शब्दगत हैं, इसी प्रकार व्यर्थत्व आदि दोष, ओज-प्रौढि आदि गुण और उपमादि अलंकार अर्थ के भाव और अभाव का अनुसरण करने के कारण अर्थगत हैं। इस प्रकार सभङ्ग तथा अभङ्ग श्लेष दोनों अन्वय-व्यतिरेक भाव से केवल शब्द के ही आश्रित है, इसलिये दोनों का शब्द श्लेष होना ही युक्ति-युक्त है, अभङ्ग श्लेष अर्थ श्लेष नहीं है। अभङ्ग तथा सभङ्ग पदश्लेष दोनों में ही शब्द परिवर्तन की क्षमता नहीं है। अर्थश्लेष का विषय तो वहाँ होता है जहाँ शब्द का परिवर्तन किये जाने पर भी श्लेषभङ्ग नहीं होता है। अतः शब्द परिवृत्त्यसहिष्णुत्व को शब्दालंकार और शब्द परिवृत्तिसहिष्णुत्व को अर्थालंकार मानने की व्यवस्था अन्वयव्यतिरेक सिद्धान्त से निश्चित होती है।[1]

श्लेष उपमादि अन्य अलंकारों का बाधक है, क्योंकि श्लेष निरवकाश है—इस शंका का समाधान करते हुए मम्मट ने कहा है कि श्लेष उपमा के आभास की प्रतीति का उत्पादक नहीं है, अपितु उपमा ही श्लेष की आभास-प्रतीति का उत्पादक है। क्योंकि जिस प्रकार कमल सदृश मनोहर यह मुख अत्यधिक दीप्त हो रहा है इत्यादि में मनोज्ञता गुणसाम्य, उद्दीप्त होना क्रिया साम्य अथवा दोनों की समता के कारण उपमा होती है, उसी प्रकार सकलकल (नगर पक्ष में कलकल शब्द सहित, चन्द्रपक्ष में समस्तकलाओं से पूर्ण) यह नगर इस समय चन्द्रमण्डल के समान हो गया है' इत्यादि में शब्द मात्र की समता होने पर उपमा होना उचित ही है।[2] जैसा कि रुद्रट ने कहा है कि उपमा और समुच्चय ये दोनों निश्चित रूप से अर्थालंकार हैं, किन्तु शब्दमात्र की समानता का आश्रय लेकर ये दोनों शब्दालंकारों में भी हो सकते हैं। जहाँ साधारण धर्म का प्रयोग नहीं किया जाता वे उपमा के विषय हैं यह कथन

---

१. (क) इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सः अन्वय-व्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। तथा हि—कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयः व्यर्थत्वादिप्रौढ्याद्युपमादयस्तद्भाव-तद्भावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते।

—**काव्यप्रकाश**, ९।८५ वृत्ति।

(ख) इति द्वावपि शब्दैकसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्द श्लेषत्वमुपपन्नम् न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम्। अर्थश्लेषस्य तु स विषयः यत्र शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना। —**वही**, ९।८५ **वृत्ति**, पृ० ४५२।

२. नाचयमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरूपमा। तथाहि—यथा 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितराम्' इत्यादौ गुण साम्ये क्रियासाम्ये उभयसाम्ये वा उपमा तथा—'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव।

—**वही**, ९।८५ **वृत्ति**, पृ० ४५३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

युक्ति संगत नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में पूर्णोपमा-जिसमें साधारण धर्म का प्रयोग आवश्यक होता है—का कहीं क्षेत्र (अवकाश) नहीं रहेगा। श्लेष का क्षेत्र उपमादि अलंकारों से सर्वत्र संकीर्ण नहीं हुआ करता। श्लेष का अपना भी क्षेत्र है जैसे **'देव त्वमेव पातालम्'** पद्य में विष्णु और राजविषयक दोनों अर्थों के एकार्थ नियामक प्रकरणादि के अभाव में वाच्यार्थ होने से वहाँ उपमा, तुल्ययोगिता अथवा अन्य किसी अलंकार की सम्भावना नहीं है। इसप्रकार श्लेष तथा उपमा में वाध्य वाधक भाव नहीं है, दोनों का योग होने पर ही संकर होता है। श्लेष अलंकार उपमा आदि का वाधक नहीं अपितु उपमा आदि ही श्लेष के बाधक हैं।

सभङ्ग श्लेष एवं अभङ्ग श्लेष रूप शब्द श्लेष को किसी भी प्रकार अर्थश्लेष एवं अर्थालंकार नहीं कहा जा सकता। पूर्वपक्षी के कथन का खण्डन करते हुए मम्मट ने कहा है कि यह कैसी विचित्र बात है कि शब्दश्लेष को नामतः शब्दश्लेष कहा जाए और उसकी गणना अर्थालंकारों के मध्य की जाए। वस्तुतः विचित्रता ही अलंकार है, इसलिये जो शब्द या अर्थ कवि की प्रतिभा तथा प्रयत्न का विषय है, उसमें ही विचित्रता आती है, वही अलंकार का क्षेत्र है। अतः जहाँ श्लेष में कवि की प्रतिभा का विषय शब्द का अनूठापन होता है, वहाँ श्लेष को शब्दालंकार कहना ही युक्ति संगत है। यदि केवल अर्थ की अपेक्षा होने से सभङ्गश्लेष आदि अर्थालंकार हो जाते हैं, तब तो शब्द और अर्थ के दोष, गुण तथा अलंकारों की कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी क्योंकि जो शब्द-दोष आदि माने जाते हैं, वे भी किसी अंश में अर्थ की अपेक्षा रखते हैं और जो अर्थ-दोष हैं, वे भी शब्द की अपेक्षा रखते हैं।[१] अतः श्लेष को यथायोग्य शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों मानना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि आचार्य मम्मट ने किसी अलंकार को शब्दगत या अर्थगत मानने का आधार अन्वय-व्यतिरेकवाद को स्वीकार किया है।[२] इस आधार पर श्लेष के सम्बन्ध में उनका कथन है कि यदि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के पर्याय-परिवर्तन से

१. इति द्वावपि शब्दैकसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपपन्नम् न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम्। अर्थश्लेषस्य तु स विषयः यत्र शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना। —**काव्यप्रकाश** ९।८५ वृत्ति।

२. शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालंकारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयं नयः। किं च वैचित्र्यमलंकार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता, इति सैवाऽलंकारभूमिः। अर्थमुखप्रेक्षित्वमतेषां शब्दानामिति चेत्, अनुप्रासादीनामपि तथैवेति तेऽप्यर्थालंकाराः किं नोच्यन्ते।.........शब्दगुणदोषाणामप्यर्थापेक्षयैव गुणदोषताः अर्थगुणदोषालंकाराणां शब्दापेक्षयैव व्यवस्थितिरिति तेऽपि शब्दगतत्वेनोच्यन्ताम्। विधौ वक्रे मूर्ध्नि इत्यादौ च वर्णादिश्लेषे एकप्रयत्नोच्चार्यत्वेऽर्थश्लेषत्वं शब्दभेदेऽपि प्रसज्यतामित्यवमादि स्वयं विचार्यम्। —**काव्यप्रकाश**, ९।८५ वृत्ति।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकारत्व की हानि हो, तो वहाँ श्लेष शब्दालंकार होगा और यदि पर्याय-परिवर्तन होने की स्थिति में भी अलंकारत्व बना रहे, तो वहाँ श्लेष अर्थालंकार होगा। सभङ्ग तथा अभङ्ग श्लेष दोनों ही अन्वय-व्यतिरेक से केवल शब्द के ही आश्रित हैं, इसलिये दोनों का शब्द-श्लेष होना ही युक्तियुक्त है, ऐसा नहीं कि अभङ्ग अर्थ श्लेष हो। अर्थ श्लेष का क्षेत्र तो वहाँ है जहाँ शब्द का परिवर्तन किये जाने पर भी श्लेष, बना रहता है।

आचार्य रुय्यक के अनुसार विशेष्य का भी साम्य होने पर अथवा दोनों का उपादान होने पर श्लेष होता है।[1] दो प्रस्तुत, दो अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का श्लिष्ट पद से निबन्धन होने पर श्लेष होता है। इनमें से प्रथम दो भेद विशेषण और विशेष्य दोनों का साम्य होने पर ही होते हैं, परन्तु तीसरा भेद विशेषणसाम्य में ही होता है।[2] आश्रयाश्रयिभाववादी आचार्य रुय्यक ने आश्रय के आधार पर श्लेष को न केवल शब्दगत तथा अर्थगत माना है, अपितु उभयगत भी स्वीकार किया है। इस प्रकार रुय्यक के अनुसार श्लेष शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत हो सकता है। इनमें से उदात्तादि स्वरों के भेद से अथवा प्रयत्नभेद से शब्द के भिन्न हो जाने पर शब्द-श्लेष होता है। इसमें प्रायः पद का भङ्ग होता है, जिससे भिन्न अर्थ निकलते हैं। अर्थश्लेष में स्वरादि का भेद नहीं होता है, इसीलिये इसमें पद में भङ्गता नहीं रहती है। इस प्रकार रुय्यक ने श्लेष के दो भेदों—सभंग पदश्लेष तथा अभंग पदश्लेष में से सभंग पदश्लेष को शब्दालंकार एवं अभंग पदश्लेष को अर्थालंकार माना है। सभंग श्लेष में एक पद में दूसरा शब्द उस तरह से चिपका रहता है जिस प्रकार लाख लकड़ी से भिन्न होते हुए भी उस पर चिपकी रहती है। अभंगश्लेष में पद एक वृन्त के समान होता है जिस में दो अर्थ दो फलों की तरह लगे रहते हैं। शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष के मिलने पर उभयश्लेष होता है।[3] रुय्यक ने अपने मत के स्थापन

---

१. विशेपस्यापि साम्य द्वयोर्वोपादाने श्लेषः।

—अलंकारसर्वस्व सूत्र ३३।

२. तत्र द्वयोः प्राकरणिकयोरप्राकरणियाः प्राकरणिका प्राकरणिकयोर्वा-श्लिष्ट पदोपनिबन्धे श्लेपः। तत्राद्यं प्रकारद्वय विशेषणविशेष्यसाम्य एव भवति। तृतीयस्तु प्रकारो विशेषणसाम्य एव भवति।

—वही, सूत्र ३३ वृत्ति।

३. (क) एप च शब्दार्थोभयगतत्वेन वर्तमानत्वात्त्रिविधः। तत्रोदात्तदिस्वर-भेदात्प्रयत्नभेदाच्च शब्दान्यत्वे शब्दश्लेपः। यत्र प्रायेण पद भङ्गो भवति। अर्थश्लेपस्तु यत्र स्वरादिभेदो नास्ति। अतएव न तत्र सभङ्गपदत्वम्। संकलनया तूभयश्लेपः।

—वही, सूत्र ३३ वृत्ति।

(ख) अपरत्र ज़तुकाष्ठन्यायन स्वयमेव श्लिष्टत्वम्।

—वही सूत्र ३३ वृत्ति।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

में स्पष्ट कहा है कि आश्रय और आश्रयी के सम्बन्ध से अलंकार्य और अलंकार भाव की लोक के समान व्यवस्था दी गई है। श्लेषालंकार सभी अलंकारों का अपवाद है।[1]

इस प्रकार मम्मट तथा रुय्यक दोनों आचार्यों के शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष की धारणा भिन्न-भिन्न है। मम्मट ने समङ्ग तथा अभङ्ग दोनों भेद शब्द-श्लेष के स्वीकार किये हैं किन्तु रुय्यक ने केवल समङ्ग श्लेष को ही शब्दश्लेष कहा है और अभङ्ग श्लेष को अर्थश्लेष माना है।

जयदेव ने श्लेपालंकार का सामान्य लक्षण न देकर शब्दश्लेष के रूप में उसके आठ भेदों में से पदश्लेप के दो रूपों-खण्ड-श्लेष और भङ्गश्लेष का तथा अर्थ-श्लेष का वर्णन किया है। उनके अनुसार जहाँ सामासिक पद के किसी एक पद खण्ड के अनेक अर्थ किये जायें, वहाँ खण्डश्लेष होता है।[2] जहाँ पद समूह के अनेक अर्थ हों, वहाँ भङ्गश्लेष होता है।[3] जहाँ केवल अर्थ का ही अनेक पदार्थों के साथ सम्बन्ध बतलाया जाये, वहाँ अर्थश्लेष होता है।[4] स्मरणीय है कि जयदेव ने श्लेषालंकार को शब्दालंकार प्रकरण में स्थान नहीं दिया है।

आचार्य हेमचन्द्र तथा शोभाकर मित्र ने श्लेष को शब्दालंकार माना है और **काव्यप्रकाश** में चर्चित विषय को ही संक्षेप में प्रस्तुत किया है।

विश्वनाथ ने मम्मटाचार्य की श्लेष विषयक मान्यता का अनुमोदन किया है। उनके अनुसार श्लिष्ट पदों से अनेक अर्थों का अभिधान होने पर श्लेषालंकार होता है। वर्ण, प्रत्यय, लिङ्ग, प्रकृति, पद, विभक्ति, वचन और भाषा-इनके श्लिष्ट होने के कारण यह अलंकार आठ प्रकार का होता है।[5] पुनः इस श्लेष के तीन भेद

पूर्व पृष्ठ की पाद टिप्पणी--

(ग) अतश्च पूर्वत्रैकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दश्लिष्टत्वम्।
—वही, सूत्र ३३ वृत्ति।

१. तेनालंकारान्तरविविक्तो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वालंकारापवादोऽयमिति स्थितम्। —वही सूत्र ३३ वृत्ति।

२. खण्डश्लेषः पदानां चेदेकैकं पृथर्गता।
उच्छलद्भूरिकीलालः शुशुभे वाहिनीपतिः॥ —चन्द्रालोक ५।६३।

३. भङ्गश्लेषः पदस्तोमस्यैव चेत्पृथगर्थता।
अजरामरता कस्य नायोध्येव पुरी प्रिया॥ —वही, ५।६४।

४. अर्थश्लेषोऽर्थमात्रस्य यद्यनेकार्थसंश्रयः
कुटिलाः श्यामलाः दीर्घाः कटाक्षाः कुन्तलाश्च ते॥ —वही ५।६५।

५. श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि॥ —साहित्यदर्पण १०।११।
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः। —वही, १०।१२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

होते हैं।[१] १. सभङ्गश्लेष २. अभङ्गश्लेष और ३. उभयात्मक (सभङ्गाभङ्गश्लेष)।

अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ वर्ण्य, अवर्ण्य या वर्ण्यावर्ण्य अनेक अर्थों से सम्बद्ध नानार्थक शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ श्लेष अलंकार होता है।[२] इस प्रकार उन्होंने वर्ण्य, अवर्ण्य तथा वर्ण्यावर्ण्य की अनेकता के आधार पर तीन भेद स्वीकार किये हैं—१. वर्ण्यानेकविषय २. अवर्ण्यानेकविषय और ३. वर्ण्यावर्ण्यानेकविषय।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार एक ही प्रकार की श्रुति (श्रवण) से अनेक अर्थों का बोध होना ही श्लेष कहा जाता है।[३] सर्वप्रथम इसके दो भेद होते हैं—१. अनेक धर्म के पुरस्कार से अर्थात् जहाँ एक से अधिक धर्मों को लेते हुए अनेक अर्थों का प्रतिपादन हो और २. एक धर्म के पुरस्कार से अर्थात् जहाँ एक ही धर्म को पुरस्कृत कर अनेक अर्थों का प्रतिपादन हो। इन्हीं को क्रमशः सभङ्ग और अभङ्ग श्लेष कहते हैं। इनमें से प्रथम भेद (अनेक धर्मों के पुरस्कार से प्रतिपादन वाला) भी दो प्रकार का होता है—१. अनेक शब्दों के प्रतिभान द्वारा और २. एक शब्द के प्रतिभान द्वारा। एक धर्म के पुरस्कार वाला शुद्ध श्लेष (अर्थश्लेष) कहा जाता है। इस प्रकार यह त्रिविध श्लेष पुनः त्रिविध होता है—१. केवल प्रकृत अर्थ के आश्रित २. केवल अप्रकृत अर्थ के आश्रित और ३. उभयाश्रित (प्रकृत-अप्रकृत आश्रित) इस प्रकार श्लेष के कुल नौ प्रकार हो जाते हैं।[४]

इस प्रकार **रसगंगाधर** में श्लेष अलंकार के लक्षण तथा भेद-प्रभेद के सम्बन्ध में कोई विशेष मत-वैभिन्नय दृष्टिगत नहीं होता है। श्लेष अलंकार शब्दालंकार है या अर्थालंकार तथा श्लेष के साथ यदि कोई दूसरा भी अलंकार हो, तो वहाँ दोनों का संकर होगा अथवा श्लेष होगा अथवा कोई अन्य अलंकार होगा, इस विषय में पण्डितराज ने उद्भट, मम्मट और रुय्यक जैसे आलंकारिकों के मत दिये हैं,[५] परन्तु उनके अपने मत का कुछ ज्ञान नहीं हो पाता।

---

१. पुनस्त्रिधा सभंगोऽथाभंगस्तदुभयात्मकः ॥ —**वही**, १०।१२।

२. नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रितः। —**कुवलयानन्द**—६४।

३. श्रुत्यैकयानेकार्थप्रतिपादनं श्लेषः।

—**रसगंगाधर** द्वितीयानन, पृ० २६४।

४. तच्च द्वेधा अनेक धर्मपुरस्कारेणैक धर्मपुरस्कारेण च। आद्यं द्वेधा, अनेकशब्द प्रतिभान द्वारा एकशब्दप्रतिभानद्वारा चेति त्रिविधः श्लेषः। तत्राद्यः सभङ्गो द्वितीयो ह्यभङ्ग इति वदन्ति। तृतीयस्तु शुद्धः। एवं त्रिविधोऽप्ययं प्रकृत-मात्राप्रकृतमात्रप्रकृताप्रकृतोभयाश्रितत्वेन पुनस्त्रिविधः।

—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० २६४।

५. (क) सोऽयं श्लेषः सभंगोऽभंगश्चार्थालंकार एवेत्यौद्भटाः।

—**वही**, पृ० ३२५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

काव्य में श्लेषालंकार का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। आचार्य दण्डी ने श्लेषालंकार को समस्त वक्रोक्तियों का शोभाधायक कहा है।[1] श्लेष के लक्षण-विकास का विवेचन करने से स्पष्ट हो जाता है कि इसका आरम्भ सर्वप्रथम गुण के रूप में हुआ। रुद्रट ने इसकी शब्दालंकारता को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार करते हुए इसके आठ भेदों को विकसित किया। अन्वय-व्यतिरेकवादी आचार्य मम्मट ने श्लेष को शब्दालंकार सिद्ध करने के लिये अनेक तर्क दिये और समकालीन रुय्यक की आलोचना की। आचार्य हेमचन्द्र, शोभाकरमित्र विश्वनाथ आदि ने मम्मट के मत का ही अनुसरण किया है। यह श्लेष सभङ्ग, अभङ्ग और सभङ्गाभङ्ग रूप से अनेक रूपों में विकसित हुआ है। कथन में भावसंकोच और मनन-चिन्तन में भाव-विस्तार इस अलंकार में निहित होता है, अतः इसके प्रयोग से कवि के कौशल का परिचय मिलता है। श्लेषालंकार को आचार्यों ने बहुत महत्त्वपूर्ण अलंकार स्वीकार किया है।

चित्रालंकार—चित्रालंकार में वर्ण-कौतुक से चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। इसमें वर्णों के विशेष प्रकार के विन्यास की अपेक्षा रहती है। अतः इसकी कल्पना का वीज शब्दालंकार यमक की वर्णवृत्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं में माना जा सकता है। स्पष्टतः शब्दों अथवा वर्णों की क्रीड़ा की प्रवृत्ति से ही चित्र-धारणा का स्वतंत्र अलंकार के रूप में विकास हुआ है। चित्र शब्द की व्युत्पत्ति है—चित्तं राति। इस आधार पर 'चित्र को आकृष्ट करने वाली वस्तु को चित्र कहा जा सकता है।

भरतमुनि ने यमक के प्रभेदों में ही चित्रात्मकता प्रदर्शित की है, चित्र अलकार का पृथक् निर्देश नहीं किया है। आचार्य भामह ने चित्र का निरूपण नहीं किया है। यमक-निरूपण-प्रसंग में आचार्य दण्डी ने दुष्कर-गोमूत्रिकादि चित्रमार्ग का उल्लेख अवश्य किया है किन्तु इसका कोई स्वतंत्र लक्षण नहीं दिया है।[2] उन्होंने

पूर्व पृष्ठ की पाद टिप्पणी—

(ख) उभावप्येतौ शब्दालंकारौ, शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदाश्रितत्वावधारणात्। तृतीयस्त्वर्थालंकार, अर्थमात्राश्रितत्वात् इति मम्मटभट्टाः। —**वही**, द्वितीयानन पृ० ३२५।

(ग) अन्वयव्यतिरेकाभ्या हि हेतुत्वादगमो घटं प्रति दण्डादेरिवास्तु, न त्वाश्रयत्वावगमः। स तु पुनस्तद्वृत्तित्वज्ञानाधीनः। इह हि सभङ्ग श्लेषस्य शब्दद्वयवृत्तित्वं जतुकाष्ठन्यायेन, अभङ्गस्य चार्थद्वयवृत्तित्व-मेकवृन्तगतफलद्वयवच्च स्फुटमेवेत्यकस्य शब्दालंकारत्वमपरस्यार्था-लंकारत्वम्। इत्यलंकार सर्वस्वकारादयः।

—**वही**, द्वितीयानन पृ० ३२५।

१. **द्रष्टव्य काव्यादर्श**—२।३६३।

२. शब्दार्थालंक्रियाश्चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः।
गुणा दोषाश्च काव्यानामिह संक्षिप्य दर्शिताः॥ —**काव्यादर्श**, ३।१८६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

दुष्कर चित्र-बन्धों में स्वरों वर्ण के उच्चारण स्थानों तथा व्यञ्जनों के प्रयोग के जो सूक्ष्म नियम बताये हैं और एकाक्षर चित्र, द्विवर्ण चित्र, त्रिव्यञ्जन चित्र आदि में जो चित्रों का विभाग किया है,।[१] गोमूत्रिका अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र आदि चित्रभेदों के उदाहरण और लक्षण दिये हैं उनसे दण्डी की चित्र धारणा स्पष्ट हो जाती है।[२]

अग्निपुराणकार ने चित्र के सात भेद स्वीकार किये हैं—प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्ताक्षर, च्युताक्षर' दत्ताक्षर, च्युतदत्ताक्षर तथा समस्या।[३] इन सभी रूपों में वर्ण-कौतुक की प्रधानता रहती है, अतः सभी चित्रभेद माने गये हैं। उनके अनुसार गोष्ठी में पठनमात्र से कोतूहल उत्पन्न करने वाला कवि का वाग्बन्ध-वर्ण-गुम्फन चित्र कहलाता है।[४]

आचार्य उद्भट और वामन ने इस चित्रालंकार-भेद के सम्बन्ध में उदासीन वृत्ति अपनायी है। चित्र को शब्दालंकारों में स्वतंत्र स्थान देकर उसका व्यवस्थित विवेचन करने वाले प्रथम आचार्य रुद्रट हैं। उनके अनुसार काव्य में विविध भङ्गी-विशेष के आधार पर क्रम और अक्षरों की विन्यास-विचित्रता के द्वारा साङ्क और आश्चर्यकारी वस्तुओं के रूपों की रचना की जाए, उसे चित्रालंकार कहते हैं।[५]

आचार्य रुद्रट ने चक्र, पद्म, खड्ग आदि वस्तुओं की आवृत्ति को प्रकट करने वाले वर्ण-विन्यास रूप चित्रबन्धों तथा वर्णों के विशेष क्रम-विन्यास से अनुलोम-प्रतिलोप आदि के रूप में विच्छित्ति प्रकट करने वाले चित्र प्रकारों को स्वीकार किया है।[६]

ध्वनिकार आनन्दवर्धनचार्थ के अनुसार व्यङ्ग्य के प्रधान और गुणभाव से स्थित होने पर ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य काव्य होते हैं। उन दोनों से भिन्न रस-भावादि में तात्पर्य से रहित, व्यंग्यार्थ विशेष के प्रकाशन की शक्ति से रहित, केवल

---

१. यः स्वरस्थानवर्णानां नियमो दुष्करेष्वसौ।
इष्टश्चतुःप्रभृत्येष दश्यते सुकरः परः॥ —वही, ३।८३

२. द्रष्टव्य —वही ३।७८-८२।

३. प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तंच्युतंदत्तं तथोभयम्।
समस्या सप्त तद्भेथा नानार्थस्यानुयोगतः।—अग्निपुराण ३४३।२३

४. गोष्ठ्यां कुतूहलाध्यायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते—वही, ३४३।२२

५. भङ्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि।

६. तच्चक्रखड्गमुसलैर्बाणासनशक्तिशूलहलैः।
चतुरङ्गपीठविरचितरथतुरगगजादिपदपाठैः॥—काव्यलंकार (रुद्रट) २।५।
अनुलोमप्रतिलोमैरर्धभ्रममुरजसर्वतोभद्रैः।
इत्यादिभिरन्यैरपि वस्तु विशेषाकृतिप्रभवैः॥ —वही, ५।३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

वाच्य-(अर्थ) वाचक (शब्द) के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित जो काव्य आलेख्य (चित्र) के समान प्रतीत होता है, उसे चित्रकाव्य कहते हैं। उसके शब्दचित्र और अर्थचित्र रूप से दो भेद होते है। उन्होंने रसभावादि की विवक्षा के अभाव में अलंकार मात्र का निबन्धन ही चित्र का विषय माना है।[1]

सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज के मतानुसार वर्ण, स्थान, स्वर, अकार, गति और बन्ध के प्रति जो नियमन है, उसे चित्र कहते हैं।[2] इसके अतिरिक्त भोज ने वर्णादि का क्रमशः अर्थ भी निश्चित किया है यथा—वर्ण-व्यञ्जन, स्थान-कण्ठादि, स्वर-आकारादि, आकार-पद्मादि आकृतियों का विकास, गति-पठन का प्रकार विशेष और बन्ध-विविडित चक्रादि।[3]

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ वर्णों (अक्षरों) की रचना खड्गादि की आवृति की हेतु रूप होती है, उसे चित्र नामक अलंकार कहते हैं।[4] अभिप्राय यह है कि जहाँ रचना-विशेष में विन्यस्त वर्ण खड्ग, मुरज तथा कमल आदि से आकार का निर्माण करते हैं। वह चित्रालंकारयुक्त चित्र काव्य है।

राजानक रुय्यक ने मम्मट के कथन को ही दोहराया है कि वर्णों से खड्ग आदि आकार बनने पर चित्र अलंकार कहलाता है।[5] रुय्यक ने पौनरुक्त्यमूलक शब्दालंकारों से चित्रालंकार को पृथक् रूप से निरूपित करने का कारण बताते हुए

---

१. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे तत्तोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्।—**ध्वन्यालोक** ३।४२-४३
रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥
—**ध्वन्यालोक**, तृतीय उद्योत पृ० ४२१।

२. वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान्प्रतीहयः।
नियमस्तद्बुधैः षोढ़ा चित्रमित्यभिधीयते॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण** २।१०६

३. वर्णा व्यञ्जनानि, स्थानं कण्ठादि, स्वराः अकारादयः आकारः।
पद्माद्याकृत्युन्मुद्रणम्। गति पठितिभङ्गिविशेषः बन्धो विविडितिप्रवृतिः।
—**वही, द्वितीय परिच्छेद** पृ० २६५

४. (क) तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता।
—**काव्यप्रकाश** ९।५८

(ख) सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः खड्गः मुरज पद्माद्योकार मुल्लासयन्ति तच्चित्रं काव्यम्।—**वहि**, नवम उल्लास, पृ० ४५६।

५. वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्। —**अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र**—१०

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कहा है कि दोनों में भेद है क्योंकि स्थान-विशेष में लिखे हुए श्लिस्ट वर्णों की जो पाठ-पुनरुक्ति होती है, उसे सैद्धान्तिक रूप से पुनरुक्ति नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से चित्रालंकार को शब्दालंकार कहना भी न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। किन्तु खड्ग आदि का सन्निवेश लिपि के अक्षरों में होता है, उन अक्षरों का लोक में श्रोताकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्दों के साथ अभिन्न रूप में ज्ञान होता है, अत: इसे शब्दालंकार कहा गया है।[१]

शोभाकरमित्र पद्मादि की लिपि के वर्णों के समान चित्रों को चित्रालंकार कहते हैं।[२] स्पष्टत: नियमित स्थान-निवेश की दृष्टि से किये गये लिप्यक्षरों के निमित्तभूत प्रतिलोम-अनुलोम-अपशब्दाभासादि जब आश्चर्य उत्पन्न करते हैं, तो उसे चित्र कहते हैं।[३]

जयदेव ने चित्रालंकार का स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया है—काव्य के मर्मज्ञों ने खड्गबन्ध, पद्मबन्ध आदि को चित्रालंकार कहा है।[४]

विश्वनाथ के अनुसार जिस पद्य के वर्ण कमल आदि के स्वरूप में परिणत हो जाये, उसे चित्र कहते हैं। आदि शब्द से खड्ग, मुरज, चक्र, गोमूत्रिका आदि चित्रों का ग्रहण किया जाना चाहिये।[५] उन्होंने चित्र को शब्दालंकार मानने के सम्बन्ध में युक्ति दी है कि यद्यपि लिखित अक्षरों को वास्तविक शब्द तो नहीं कह सकते तथापि शब्दों के ही संकेत होने के कारण लक्षणा द्वारा गौण रीति से वर्णादि शब्दों का प्रयोग करके चित्र को शब्दालंकार माना जाता है।[६]

---

१. पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थान विशेषश्लिष्ट-पौनरुक्त्यात्मकं चित्रवचनम्। यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादिसंनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाश-समवेतवर्णात्मकशब्दाभेदेन तेशां लोके प्रतीतेर्वाचक-शब्दालंकारोऽयम्।
वही, सूत्र–१०, वृत्ति पृ० ३७–३८।

२. पद्मादिलिपिवर्णवच्चित्रम्।—अलङ्काररत्नाकर,–६।

३. नियतस्थाननिर्देशित्वेन यत्र लिप्यक्षराणि निमित्तीभवन्ति। प्रतिलोमनुलोमापशब्दाभासादि यदाश्चर्यकारितया तच्चित्रम्।
——वही, वृत्ति।

४. काव्यवित्प्रवरैश्चित्रं खड्गबन्धादि लक्ष्यते।——चन्द्रालोक ५।६

५. (क) पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते।
—साहित्यदर्पण १०।१३

(ख) आदिशब्दात्खड्ग-मुरज-चक्र-गोमूत्रिकादय:।
——वही, वृत्ति पृ० ६८७।

६. अस्य च तथाविधलिपिसंनिवेशविशेपवशेन-चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसमवायविशेषवशेन चमत्कारविधायिभिर्वर्णैरभेदेनोप-चाराच्छब्दालंकारत्वम्।—वही, वृत्ति पृ० ६८७–६८८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अप्पयदीक्षित ने चित्रमीमांसा के ग्रन्थारम्भ-प्रकरण में कहा है कि व्यंग्यहीन होते हुए भी जो रमणीय हो, उसे चित्र कहते हैं।[1]

इस प्रकार संस्कृत-अलंकारशास्त्र के आचार्यों द्वारा वर्णित चित्रालंकार के सम्बन्ध में स्पष्टतः ज्ञात होता है कि वर्ण-विन्यास की विविध प्रक्रियाओं को किसी विशेष नियम के आधार पर प्रयोग में लाना ही चित्रालंकार का विषय है। इसमें वर्णों की क्रीडा से चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। विभिन्न आकृतियों में वर्ण-गुम्फ को चित्रालंकार मानने में दण्डी, रुद्रट, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि सभी में मतैक्य है किन्तु जहाँ दण्डी, रुद्रट आदि ने चित्र का व्यापक अर्थ लेकर सभी वैचित्र्य-जनक वर्णकौतुक को—चाहे वह वर्ण-गोपन आदि के द्वारा प्रहेलिका के रूप में हो अथवा पद्म, खडग, आदि वस्तु-स्वरूप में वर्ण-गुम्फ के रूप में हो—चित्र स्वीकार किया था, वहाँ मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने केवल वस्तु-बन्ध चित्र को ही चित्रालंकार माना है। रुद्रटाचार्य ने चित्रालंकार के प्रभेदों के सम्बन्ध में कहा है कि अनुलोम, प्रतिलोम, अर्धभ्रम, मुरज, सर्वतोभद्र आदि तथा अन्य भेदों के कारण चित्रालंकारों की गणना करने में मैं असमर्थ हूँ, अतः मेरे द्वारा केवल दिशानिर्देश ही किया जा रहा है।[2] रुद्रट ने यह भी स्पष्ट कहा है कि जिस वस्तु-विशेष का जो नाम हो, वही उस अलंकार का नाम होगा तथा जो उसकी आकृति होगी, वही उउका लक्षण जानना चाहिए।[3] इसी आशय को परवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार कर अन्यान्य शब्दों में अपना मन्तव्य प्रकट किया है।

प्रहेलिका—भरतमुनि ने प्रहेलिका की कोई चर्चा नहीं की है। सर्वप्रथम भामह के **काव्यालंकार** में प्रहेलिका की परिभाषा प्राप्त होती है। उनके अनुसार प्रहेलिका यमकव्यपदेशिनी है तथा नाना धात्वर्थों से गम्भीर रचना रूप है।[4] स्पष्टतः भामह ने प्रहेलिका में वर्णकौतुक—जिसके कारण उसे यमक-व्यपदेशिनी कहा गया है, के साथ अनेक गूढ अर्थ से युक्त धातु-प्रयोग भी वांछनीय माना है। अर्थ की दुरूहता के कारण इसे शास्त्रवत् व्याख्येय स्वीकार किया है।[5]

---

१. यदव्यङ्ग्यमपि चारु तच्चित्रम्। —**चित्रमीमांसा**।

२. (क) द्रष्टव्य—**काव्यालंकार** (रुद्रट) ५।२–४।
(ख) तस्मादेतस्य मया दिङ्मात्रमुदाहृतं कवयः। —**वही**, ५।४।

३. यन्नाम नाम यत्स्यान्तदाकृतिर्लक्षणं मतं तस्य।
तल्लक्ष्यमेव दृष्ट्वावधार्यमखिलं तदन्यदपि॥ —**वही**, ५।५।

४. नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे॥
—**काव्यालंकार**, (भामह) २।१९।

५. काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥ —**वही**, २।२०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य दण्डी ने पूर्वाचार्यों द्वारा वर्णित समाहित आदि प्रहेलिका के सोलह भेदों को निर्दुष्ट मानकर उनका विस्तृत विवेचन किया है[१] किन्तु इसे उन्होंने अलंकार के रूप में महत्ता प्रदान नहीं की है। उन्होंने इसे (प्रहेलिका को) दुष्कर चित्र-बन्ध से भी दुष्करतर माना है और क्रीडा-गोष्ठी में प्रमोद के साधन के रूप में, प्रहेलिकाओं को समझने वाले विदग्धजनों से संकुल समाज में भी अर्थानभिज्ञ बनाकर व्यामोहित करने के साधन के रूप में उपयोगी बताया है।[२]

अग्निपुराणकार ने चित्रालंकार के सात भेदों में दूसरा स्थान प्रहेलिका को दिया है। उन्होंने शाब्दी तथा आर्थी रूप से दो भेद किये हैं तथा छः उपभेदों का संकेत किया है। उनके अनुसार जहाँ द्वयर्थक गुह्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उसे प्रहेलिका कहते हैं।[३]

वामन ने प्रहेलिका की चर्चा नहीं की है। आचार्य रुद्रट ने दण्डी का अनुकरण करते हुए प्रहेलिका को अलंकार न मानकर केवल क्रीडा-मात्र में उपयोगी ही माना है।[४] स्पष्ट होने पर भी प्रश्न वाक्य में ही उत्तर के निगूढ रहने के कारण स्पष्ट प्रच्छन्नार्था प्रहेलिका तथा असाधारण विशेषण के द्वारा साक्षात् अनुक्तार्थ की उपलब्धि कराने वाली अव्याहृतार्था प्रहेलिका रूप से प्रहेलिका के दो भेद वर्णित किये हैं।[५]

---

१. द्रष्टव्य—**काव्यादर्श**—३।९८–१२४।

२. (क) क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः॥ —**वही**, ३।९७।

(ख) द्रष्टव्य—**वही**, ३।९६।

३. (क) गोष्ठयां कुतूहलाध्यायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते।
प्रश्नः प्रहेलिका........................॥
—**अग्निपुराण**, ३४३।२२–२३।

(ख) द्वयोरप्यर्थयोर्गुह्यमानशब्दा प्रहेलिका। सा द्विधाऽऽर्थी च शाब्दी च,
तत्रार्थी चावबोधतः। शब्दावबोधतः शाब्दीं, प्राहुः षोढा प्रहेलिकाम्।
—**अग्निपुराण**, ३४३।२५–२६।

४. मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत्क्रीडामात्रोपयोगमिदम्॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट) ५।२४।

५. मात्राबिन्दुच्यवनादन्यार्थत्वेन तच्च्युते नाम।
स्पष्टप्रच्छन्नार्था प्रहेलिकाव्याहृतार्था च॥
—**काव्यालंकार**, (रुद्रट) ५।२५।

प्रच्छन्नत्वाद्भवतस्तद्गूढे कारकक्रियान्तरयोः।
प्रश्नानां च बहूनामुत्तरमेकं भवेद्यत्र॥ —**वही**, ५।२६।
प्रश्नोत्तरं च तदेतद्व्यस्तसमस्तादिभिर्भवेद्बहुधा।
भेदैरनेकभाषं......................च भिद्यते॥ —**वही**, ५।२७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

भोजराज ने प्रहेलिका को सकृत्प्रश्न कहा है और इसके छः भेद बताये हैं।[1] इन्होंने दण्डी की प्रस्तुत कारिका (२।१३४) को भी उद्धृत किया है।[2]

आचार्य मम्मट, राजानक रुय्यक, जयदेव ने प्रहेलिका की चर्चा नहीं की है।

विश्वनाथ ने रस के अनुकूल न होने के कारण प्रहेलिका को अलंकार मानने का निषेध किया है। वह उक्ति की विचित्रता मात्र होती है। च्युताक्षरा, च्युत-दत्ताक्षरा आदि उसके भेद होते हैं।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन आलंकारिकों ने प्रहेलिका का वर्णन न्यूनाधिक रूप में किया है किन्तु उन्होंने भी इसको अलंकार के रूप में विशेष महत्त्व नहीं दिया था। रस सम्प्रदाय के आचार्यों ने प्रहेलिका को अलंकार के रूप में स्वीकार ही नहीं किया है। विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से रस-परिपन्थी कहकर इसे त्याज्य माना है।

—:०:—

---

१. प्रहेलिका सकृत्प्रश्नः सापि षोढा च्युताक्षरा।
दत्ताक्षरोभयं मुष्टिर्बिन्दुमत्यर्थवत्यपि॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, २।१३३।

२. क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका॥ —वही, २।१३४।

३. रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥
—साहित्यदर्पण, १०।१३–१४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

७

सादृश्यमूलक अलंकार

संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य भरत को साहित्यशास्त्र का प्रवर्तक माना जाता है, क्योंकि अलंकार आदि के विवेचन के क्षेत्र में हमें सर्वप्रथम आचार्य भरत का **नाट्यशास्त्र** ही उपलब्ध होता है। उसमें उपमा, रूपक, दीपक, और यमक केवल चार अलंकारों का विवेचन मिलता है।[1] इनमें से यमकालंकार शब्दालंकार है और शेष तीनों अलंकार सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में आते हैं। इन सादृश्यमूलक अलंकारों के इस विवेचन में यह बात स्मरण के योग्य है कि सादृश्यमूलक अलंकारों में केवल अर्थालंकार ही आते हैं, शब्दालंकार नहीं, क्योंकि सादृश्य के अर्थगत धर्म होने के कारण शब्दालंकारों को सादृश्यमूलक अलंकारों के वर्ग में नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार इस प्रकरण में आने वाले यत्र-तत्र गूढ़-सादृश्यमूलक अर्थालंकारों को सादृश्यमूलक अलंकारों में परिगणित नहीं किया गया है, क्योंकि इनके अन्दर गूढ़ रूप में सादृश्य की प्रतीति होने पर भी चारुत्व का अभाव होता है। कहने का आशय यह है कि गूढ़ सादृश्यमूलक अलंकारों में सादृश्य की सत्ता होने पर भी तद्गत चारुत्व के अप्रधान होने के कारण उन्हें सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में समाहित नहीं किया जा सकता। सामान्यतः आलंकारिकों ने अलंकारों का वर्गीकरण दो रूपों में किया है—१. शब्दालंकार और २. अर्थालंकार। सर्वप्रथम **अग्निपुराण** में शब्दगत और अर्थगत अलंकारों के अतिरिक्त उभयालंकार वर्ग भी उपलब्ध होता है।[2] शब्दगत अलंकार नौ, अर्थगत अलंकार आठ तथा शब्दार्थगत छः माने गये हैं। अर्थगत अलंकार वर्ग में से सादृश्य (उस पर आधृत-उपमा, रूपक, सहोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास), उत्प्रेक्षा, अतिशय सादृश्यमूलक अलंकार हैं। तदनन्तर भोजराज ने अलंकारों का वर्गीकरण—शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार रूप में किया है। उन्होंने शब्दार्थालंकारों में २४ अलंकारों का परिगणन किया हैं जिनमें से—उपमा, रूपक, संशयोक्ति, अपह्नुति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतस्तुति, तुल्ययोगिता, उल्लेख, सहोक्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, परिष्कृति, दीपक, पर्याय और अतिशय ये १६ अलंकार ही सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में आते हैं जिनका यथास्थान उल्लेख किया गया है। इनसे भिन्न शब्दार्था-

---

१. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ॥—**नाट्यशास्त्र** १७।४३।

२. अलङ्करिष्णवस्ते च शब्दमर्थमुभौ त्रिधा।
ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलंकर्तुमिहक्षयाः ॥—**अग्निपुराण** ३४७।१८½।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

लंकारों का उल्लेख सादृश्यमूलक अलंकारों में उपलब्ध नहीं होता है। भरत द्वारा वर्णित चार अलंकारों में से उपमा, रूपक एवं दीपक सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में आते हैं।

१. उपमा अलङ्कार—आचार्य भरत के अनुसार गुण और आकृति पर आश्रित सादृश्य से जहाँ (किसी वस्तु की) उपमा दी जाती है, वहाँ उपमालंकार होता है।[1]

२. रूपक अलङ्कार—जहाँ प्रस्तुत के तुल्यावयवों से युक्त सादृश्य सम्पन्न अन्य कल्पित अप्रस्तुत के रूप की योजना की जाती है, वहाँ रूपक अलङ्कार होता है।[2]

३. दीपक अलङ्कार—जहाँ अनेक अधिकरणों (विभक्तियों) में स्थित शब्दों का 'देहली दीपन्याय' से एक वाक्य संयोग किया जाता है, वहाँ दीपक अलंकार होता है।[3]

आचार्य भरत का मुख्यतः विवेच्य विषय नाट्य ही रहा है और नाट्यअङ्ग के रूप में ही उन्होंने काव्य का विवेचन किया है, इसलिए उनसे इससे अधिक विवेचन की अपेक्षा नहीं की जा सकती। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भरत कृत अलङ्कारों का वह अल्प विवेचन भी अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में प्रेरणा का स्रोत रहा है।

स्वतन्त्र विवेचन की दृष्टि से काव्यशास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम ग्रन्थ भामह का **'काव्यालंकार'** है। इसमें काव्य के अन्य अंगों की विवेचना के साथ-साथ अलङ्कारों की मुख्य रूप से विवेचना की गई है। भामह ने कुल ३८ अलङ्कारों का वर्णन किया है, जिनमें से २ शब्दालंकार तथा ३६ अर्थालंकार हैं। इन्होंने अपने **काव्यालंकार** के प्रथम अध्याय में काव्य के स्वरूप का परिचय देने के अनन्तर द्वितीय अध्याय में अनुप्रास और यमक इन दो शब्दालङ्कारों का तथा रूपक, दीपक, उपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, और उत्प्रेक्षा—इन ११ अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है, साथ ही कुछ लोगों द्वारा स्वीकृत स्वभावोक्ति अलङ्कार की भी चर्चा की है।[4] तृतीय अध्याय में

---

१. यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृति समाश्रया॥—**नाट्यशास्त्र** १७।४४।

२. स्वकल्पितेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
किञ्चित्सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत्॥—**वही**, १७।५८।

३. नानाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीपतः।
एकवाक्येन संयोगो यस्तद्दीपकमुच्यते॥—**वही**, १७।६०।

४. स्वभावोक्तिरलङ्कारः इति केचित् प्रचक्षते।
अर्थस्य तद्वस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो तथा॥
—**काव्यालङ्कार** (भामह) २।९३, पृ० ६६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उन्होंने निम्नलिखित अन्य २४ अर्थालङ्कारों का विस्तृत उल्लेख किया है—१. प्रेय २. रसवत् ३. ऊर्जस्वि ४. पर्यायोक्त ५. समाहित ६. उदात्त ७. श्लिष्ट ८. अपह्नुति ९. विशेषोक्ति १०. विरोध ११. तुल्ययोगिता १२. अप्रस्तुतप्रशंसा १३. व्याजस्तुति १४. निदर्शना १५. उपमा-रूपक १६. उपमेयोपमा १७. सहोक्ति १८. परिवृत्ति १९. ससन्देह २०. अनन्वय २१. उत्प्रेक्षावयव २२. संसृष्टि २३. भाविक और २४. आशीः।[1] आचार्य भामह ने अलंकार-विवेचन के सम्बन्ध में किसी विशेष क्रम का अनुसरण नहीं किया है, अतः उनमें किसी को मुख्य अथवा अमुख्य नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त अलङ्कारों में से रूपक, उपमा, व्यतिरेक, समासोक्ति और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों के लक्षणों में सादृश्य का शब्दतः कथन किया गया है। शेष अलङ्कारों में से दीपक, अतिशयोक्ति, आक्षेप और अर्थान्तरन्यास इन चार अलङ्कारों के लक्षणों में सादृश्य के शब्दतः कथित न होने पर भी उनमें सादृश्य देखा जा सकता है। इस प्रसंग में आचार्य भामह द्वारा दिये गये सादृश्यमूलक अलङ्कारों के लक्षणों पर दृष्टि-पात कर लेना समीचीन रहेगा।

१. **रूपक अलङ्कार**—गुणों की समता को देखकर उपमान के साथ उपमेय का जो तादात्म्य निरूपित किया जाता है, उसे रूपकालङ्कार कहते हैं।[2] रूपक अलङ्कार के इस लक्षण में उपमान और उपमेय का कथन तथा उनके तादात्म्य के लिए गुणों के सादृश्य (समता) का कथन शब्दतः किया गया है।

२. **उपमा अलङ्कार**—देश, काल, क्रिया आदि के आधार पर कुछ समानता लेकर उपमेय से भिन्न उपमान के साथ उपमेय का जो सादृश्य (साम्य) होता है, उसे उपमालङ्कार कहते हैं।[3] दूसरे शब्दों में उपमान और उपमेय में देश-भेद, काल-भेद अथवा क्रियाभेद से भिन्नता रहने पर भी किसी एक धर्मविशेष को आधार मानकर जहाँ उन्हें (उपमान और उपमेय को) सदृश कहा जाता है, वहाँ उपमा-लङ्कार होता है। सादृश्य की यह योजना ही उपमालङ्कार का मूल तत्त्व कही जा सकती है।

---

१. (क) **काव्यालङ्कार** (भामह) ३।१–४।
(ख) आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतयामता।
सौहार्दस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा ॥
—वही ३।५५, पृ० ८१।

२. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद् विदुः ॥—**वही** २।२१, पृ० ३८।

३. विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ॥
—**काव्यालङ्कार** (भामह) २।३०, पृ० ४१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

३. **व्यतिरेक अलङ्कार**—उपमान युक्त अर्थ का (अर्थात् उपमान की तुलना में उपमेय का) जो वैशिष्ट्य प्रदर्शन किया जाता है, उसे व्यतिरेक अलङ्कार कहा जाता है।[१] इस अलङ्कार में सर्वप्रथम उपमान और उपमेय की योजना आवश्यक होती है और उपमेय को उपमान की अपेक्षा उत्कृष्ट कहा जाता है। इस प्रकार लक्षण में उपमान और उपमेय का कथन होने से सादृश्य का अभिधान स्वतः हो जाता है।

४. **समासोक्ति अलङ्कार**—जहाँ किसी एक वस्तु के कहने पर उसके समान विशेषणों वाले दूसरे अर्थ की प्रतीति होती हो, वहाँ अर्थ की संक्षिप्तता के कारण उसे समासोक्ति अलङ्कार कहा जाता है।[२] समासोक्ति अलङ्कार में केवल प्रस्तुत का कथन किया जाता है, किन्तु उसके साथ जिन विशेषणों का प्रयोग किया जाता है उन विशेषणों के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ की भी प्रतीति होती है, क्योंकि वे विशेषण समान रूप से उस अप्रस्तुत (अर्थ) के भी हो सकते हैं। अप्रस्तुत के प्रयोग के विना ही उस (अप्रस्तुतार्थ) की प्रतीति का कारण विशेषणों के द्वारा प्रतीत होने वाली प्रस्तुत और अप्रस्तुत की समानता मानी जाती है। इस प्रकार समासोक्ति के लक्षण में प्रकारान्तर से सादृश्य का कथन हो जाता है।

५. **उत्प्रेक्षा अलङ्कार**—जहाँ सादृश्य की विवक्षा के अभाव में साम्यातिशय की सहायता से (उपमेय में) वस्तुतः अविद्यमान गुण या क्रिया का कथन किया जाता है, वहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार माना जाता है।[३] इस लक्षण में मुख्यतः तीन बातें दृष्टिगत होती है—१. उत्प्रेक्षालङ्कार में उपमान और उपमेय का शब्दतः कथन किया जाता है। २. इनमें परस्पर उपमानोपमेय भाव के रहने पर भी उसकी विवक्षा नहीं रहती। ३. इस उपमानोपमेय भाव की योजना अतिशय की प्रतीति के लिए की जाती है और उसके लिए उपमेय में अविद्यमान गुण और क्रिया के होने की सम्भावना की जाती है। इस प्रकार उत्प्रेक्षालङ्कार के उपर्युक्त लक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भामहाचार्य को इसमें सादृश्य की सत्ता अनिवार्य रूप से अभिप्रेत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त पाँचों अलंकारों का लक्षण करते हुए भामह ने उनमें सादृश्य का शब्दतः कथन किया है। इसके अतिरिक्त दीपक आदि अनेक

---

१. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा॥—वही २।७५, पृ० ५८।

२. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा॥—वही २।७९, पृ० ६०।

३. अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता॥
—काव्यालङ्कार (भामह) २।९१, पृ० ६५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अर्थालंकारों के (भामहकृत) लक्षणों में सादृश्य तत्त्व का शब्दतः निर्देश न होते हुए भी उनमें सादृश्य का दर्शन किया जा सकता है। तद्यथा—

(६) **दीपक अलंकार**—भामह के अनुसार दीपक अलंकार में आदि, मध्य या अन्त में प्रयुक्त की हुई क्रिया के साथ अनेक कारकों का या कारक के साथ अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध होता है।[1] शब्द-योजना की इस स्थिति में वाक्य में प्रयुक्त अनेक क्रियाओं अथवा कारकों में परस्पर निहित सादृश्य की अनुभूति सहृदय पाठक के हृदय में स्वयं होती है। सादृश्य-प्रतीति की अनिवार्य स्थिति के कारण ही रुय्यक आदि परवर्ती आलंकारिकों ने इसे सादृश्यमूलक अलंकारों के मध्य स्थान दिया है।

(७) **अतिशयोक्ति अलंकार**—भामह के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार में किसी निमित्त-विशेष से अलौकिक (लोकातिक्रांतगोचर) वचनों का प्रयोग किया है।[2] अलौकिक का अर्थ है असामान्य, लोक में उपलब्ध न होने वाला। अग्नि या सूर्य को शीतल, चन्द्रमा को उष्ण, कामिनी के मुख को चन्द्र या अधर को सुधा कहना अलौकिक है, काव्य में प्रयुक्त इस प्रकार के अलौकिक प्रयोगों से वक्ता और श्रोता को कोई उद्विग्नता नहीं होती, अपितु उसके स्थान पर विशिष्ट चमत्कार की अनुभूति होती है। इस विशिष्ट चमत्कृत अनुभूति का एकमात्र कारण है उनके बीच अन्तर्हित सादृश्य। उदाहरणार्थ कवि जब कामिनी के मुख को चन्द्र कहता है, तो कवि अथवा श्रोता का मानस कभी भी यह अनुभव नहीं करता है कि यह मुख भी नभोविहारी है, अमावस्या या पूर्णिमा को क्षीण अथवा पूर्ण होने वाला है। ऐसे प्रयोगों को सुनकर मानसपटल पर केवल इतना ही चित्र बनता है कि कामिनी का मुख उतना ही सुन्दर और आह्लादजनक है, जितना कि चन्द्रमा। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि अतिशयोक्ति के ऐसे प्रयोगों के मूल में भी सादृश्य तत्त्व विद्यमान रहता है। सम्भवतः इसीलिये रुय्यक आदि परवर्ती आलंकारिकों ने अलंकारों का वर्गीकरण करते हुए अतिशयोक्ति को सादृश्यमूलक अध्यवसित अभेदप्रधान के रूप में स्वीकार किया है।[3]

(८) **आक्षेप अलंकार**—जहाँ विशेष कथन की कामना से अभीष्ट का निषेध किया जाता है वहाँ आक्षेप अलंकार माना जाता है।[4]

---

१. आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा॥
—**काव्यालङ्कार** (भामह) २।२५, पृ० ३६।

२. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा॥ —**वही**, २।८१, पृ० ६१।

३. अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः। —**अलंकारसर्वस्व**, पृ० ८३।

४. प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यथा॥
—**काव्यालंकार** (भामह), २।६८, पृ० ५६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उदाहरणार्थ—

अहं त्वा यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका ततः ।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण तु ॥

—काव्यालंकार (भामह) २।६६ ।

अर्थात् यदि मैं क्षण भर भी तुम्हे न देख पाऊँ, तो उत्सुकता से (इतना ही-होगा कि)…………, अथवा इसे छोड़ दो, इससे अधिक दूसरा अप्रिय तुमसे कहने से क्या होगा ? वियोग सहन करने में असमर्थ कोई नायिका प्रवास के लिये प्रस्तुत अपने नायक से कह रही है—'तुम्हारे चले जाने पर जीवित नहीं रह सकूँगी', उसे यही कहना अभिमत है, किन्तु इसे न कहकर बीच में ही वात अपूर्ण छोड़ देती है, वचन की इस अपूर्णता से ही उसमें विशेषता आ जाती है। प्रवास का निषेध अधिक प्रभावपूर्ण शब्दों में हो जाता है, जो कहना है, उसे विना कहे ही छोड़ देने से यह वक्ष्यमाण विषय आक्षेप में अन्तर्हित हो जाता है। काव्य में ऐसे स्थलों पर पाठक यह नहीं सोचता है कि वक्ता कुछ कहना नहीं चाहता है। वह तो तत्काल ही कवि के उन भावों को समझ लेता है, जिन्हें वह वक्ता के माध्यम से श्रोता के प्रति कहलाना चाहता है कि मैं तुम्हारे वियोग में क्षणभर भी जीवित न रह सकूँगी। 'सहृदय ने या कविनिबद्ध श्रोता ने यह अर्थ कहाँ से प्राप्त किया ? ऐसे स्थलों पर अविवक्षित अर्थविशेष की प्रतीति निषेध के वल से ही होती है। (प्रिय के समक्ष अकथनीयता अथवा प्रिय द्वारा वचन विशेष को सुनने की इच्छा न होना रूप) निषेध के माध्यम से सहृदय प्रिय के मानस में कल्पना द्वारा उपस्थित अनिष्ट वचनों का वक्ता के अनुक्त कथनों से साम्य का अनुभव मानस में ही करता है। अन्तर्मानस में सादृश्य के प्रत्यक्षकीरण की प्रकिया इस प्रकार चलती है कि वक्ता के अभिप्राय को श्रोता क्षण में ही हृदयंगम कर लेता है। इस प्रकार यहाँ भी सादृश्य अन्तर्निहित माना जा सकता है।

(९) **अर्थान्तरन्यास अलंकार**—कथित अर्थ के अतिरिक्त पूर्व अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का उपन्यास अर्थान्तरन्यास अलंकार कहा जाता है।[1] इस लक्षण में पूर्वकथित अर्थ और द्वितीय सम्बद्ध अर्थ के बीच सम्बन्ध की अनिवार्यता को स्वीकार करके भी आचार्य भामह ने यह संकेत नहीं किया है कि वह सम्बन्ध किस प्रकार का हो। दोनों अर्थों में रहने वाला यह सम्बन्ध–सादृश्य, कार्यकारणभाव, विरोध, सामीप्य भेद से अनेक प्रकार का हो सकता है। इन सम्वन्धों में से कार्यकारणभाव सम्वन्ध द्वारा समथ्र्यसमर्थक भाव की स्थिति में काव्यलिंग[2] एवं सादृश्य सम्वन्ध

---

१. उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ॥
—**काव्यालंकार** (भामह), २।७१, पृ० ५७ ।

२. श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा ।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते ॥
—**काव्यालंकारसारसंग्रह** (उद्‌भट), ६।१६ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

समर्थ्यसमर्थक भाव होने पर अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अर्थान्तरन्यास अलंकार में सादृश्य अनिवार्य रूप से विवक्षित होता है, अतः इसे सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में रखा गया है।

तृतीय अध्याय में वर्णित प्रेय आदि २४. अर्थालिंकारों में से १. श्लेष २. अपह्नुति ३. तुल्योगिता ४. व्याजस्तुति ५. निदर्शना ६. उपमा-रूपक ७. उपमेयोपमा ८. ससंदेह ९. अनन्वय १०. उत्प्रेक्षावयव ११. पर्यायोक्त १२. अस्तुतप्रशंसा और १३. सहोक्ति—इन १३ अलंकारों में सादृश्य वाच्य अथवा गम्य रूप से विद्यमान रहता है। सम्प्रति इनका क्रमशः वर्णन किया जा रहा है—

१. **श्लेष अलंकार**—जहाँ गुण, क्रिया और नाम के द्वारा उपमान से उपमेय तत्त्व का साधन किया जाता है, वहाँ श्लेष अलंकार कहा जाता है।[1] उपमान द्वारा उपमेय में वैशिष्ट्य के अपादान का आधार गम्यमान सादृश्य होता है, इसलिये इसको गम्यमान सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा जाता है।

२. **अपह्नुति अलंकार**—(प्रस्तुत और अप्रस्तुत के अन्तर्गत) कुछ सादृश्य (उपमा) के आधार पर प्रस्तुत अर्थ का अपह्नव करना अपह्नुति अलंकार कहा जाता है।[2] यहाँ अपह्नव के द्वारा सादृश्य की विवक्षा हुआ करती है और तद्गत (सादृश्यगत) चारुत्व ही प्रधान होता है, इसलिये इसे वाच्य सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में समाविष्ट किया गया है।

३.**तुल्ययोगिता अलंकार**—गुण-साम्य की विवक्षा से तुल्य क्रिया अथवा कार्य के सम्बन्ध से न्यून का विशिष्ट के साथ कथन तुल्योगिता अलंकार कहलाता हैं।[3] इस अलंकार में न्यून के साथ विशेष का कथन गुण-साम्य के आधार पर किया जाता है, अतः गम्यमान सादृश्यमूलक इस चारुत्व को प्रधान मानकर इसे गम्य-सादृश्यमूलक अलंकार कोटि में स्थान दिया गया है।

४. **व्याजस्तुति अलंकार**—अधिक गुण अथवा स्तुति कथन के बहाने प्रस्तुत की अप्रस्तुत से तुलना का विधान व्याजस्तुति अलंकार कहा जाता है।[4] प्रस्तुत की

---

१ उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते ।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते ॥
—**काव्यालंकार**(भामह), ३।१४, पृ० ७२।

२. अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा ।
भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा ॥—**वही**, ३।२१, पृ० ७५।

३. न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया ।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥—**वही**, ३।२७, पृ० ७७।

४. दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम् ।
किञ्चिद्विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा ॥
—**वही**, ३।३१, पृ० ७८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अप्रस्तुत के साथ तुलना के कारण यहाँ गम्यमान सादृश्य का प्रधान्य होता है, अतः इस अलंकार को गम्यसादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा गया है।

५. **निदर्शना अलंकार**—जहाँ उपमा वाचक 'यथा' 'इव' आदि पदों के बिना क्रिया से ही (सादृश्य) विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।[1] प्रतीयमान सादृश्यगत चारुत्व के कारण यह अलंकार गम्यमान सादृश्य-मूलक अलंकारवर्ग में समाविष्ट किया जाता है।

६. **उपमारूपक अलंकार**—जहाँ उपमेय को उपमान के रूप में कहते हुए उपमा का कथन किया जाता है, वहाँ उपमारूपक अलंकार होता है।[2] उपमानोपमेय भाव की प्रधानता के साथ उपमा (सादृश्य) का कथन होने के कारण इसे वाच्य सादृश्यमूलक अलंकार कोटि में रखा गया है।

७. **उपमेयोपमा अलंकार**—पर्याय से उपमान को उपमेय के रूप में और उपमेय को उपमान के रूप में कहना उपमेयोपमा अलंकार कहा जाता है।[3] इस अलंकार में भी उपमा-रूपक की भाँति उपमानोपमेय भाव की प्रधानता होती है, किन्तु अन्तर केवल इतना है कि यहाँ उपमान और उपमेय का पर्याय से प्रयोग किया जाता है, जबकि उपमारूपक में उपमेय को उपमान के रूप में अभिहित करते हुए उपमा का कथन किया जाता है। अतः (उपमा-रूपक की भाँति) यह भी सादृश्य-मूलक अलंकार वर्ग के अन्तर्गत आ जाता है।

८ **ससंदेह अलंकार**—उपमेय को उपमान के रूप में तथा उससे भिन्न के रूप में कहते हुए सन्देहजनक कथन की योजना होने पर सन्देह अलंकार होता है।[4] इस सन्देह-योजना के मूल में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच उपमानोपमेय भाव का ही चारुत्व रहता है, इसलिये इसे सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में अन्तर्निहित किया जा सकता है।

९. **अनन्वय अलंकार**—जहाँ पर 'इस वस्तु के समान (उत्कृष्ट) अन्य वस्तु नहीं है', इस विवक्षा से उपमेय की उपमा उससे (उपमेय से) ही दी जाती है, वहाँ

---

१. क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात् ।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना ॥
—**काव्यालंकार** (भामह), ३।३३, पृ० ७९।

२. उपमानेन तद्भावमुपमेयस्य साधयन् ।
यां वदत्युपमामेतदुपमारूपकं यथा ॥—**वही**, ३।३५, पृ० ८०।

३. उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत् ।
उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदिताम् ॥—**वही**, ३।३७, पृ० ८०।

४. उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः ।
ससंदेहं वचः स्तुत्यै ससंदेहं विदुर्यथा ॥—**वही**, ३।४३, पृ० ८२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अनन्वय अलंकार माना जाता है।[1] इस अलंकार में वस्तु की स्वयं से उपमा देते हुए उपमेय का उत्कर्ष विक्षित होता है। इस उत्कर्ष-विवक्षा का मूल आधार उपमानोपमेय भाव होने के कारण यह अलंकार भी सादृश्यमूलक अलंकारों के वर्ग में समाविष्ट हो जाता है।

१०. उत्प्रेक्षावयव अलंकार—जहाँ उत्प्रेक्षा और रूपक के सम्पर्क के साथ श्लिष्ट शब्दों के द्वारा वस्तु का कथन किया जाता है, वहाँ उत्प्रेक्षावयव अलंकार होता हैं।[2] उत्प्रेक्षा और रूपक में रहने वाले चारुत्व को ही इस अलंकार का भी मूल स्वीकार करके उन उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों के समान इसे भी सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में समाविष्ट किया जा सकता है।

११. पर्यायोक्त अलंकार—प्रकारान्तर से किये गये कथन को पर्यायोक्त अलंकार कहा जाता है।[3] अर्थात् जहाँ वास्तविक अभिधेय को स्पष्ट शब्दों में न कहा गया हो, किन्तु उसके स्थान पर कहे गये शब्दों के द्वारा ही अभिधेयार्थ की प्रतीति हो जाए, वहाँ पर्यायोक्त अलंकार माना जाता है। उदाहरणार्थ—

गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्जमहे यदधीतिनः।
न भुञ्जते द्विजास्तच्च रसदाननिवृत्तये॥

—काव्यालंकार (भामह) ३।९।

(अतिथि सत्कार के प्रसंग में शिशुपाल कृष्ण के समक्ष कुछ भोजन उपस्थित करता है। कृष्ण उसे विष की आशंका से ग्रहण नहीं करना चाहते, किन्तु इसके लिये वे स्पष्ट शब्दों में निषेध न करके इस प्रकार कहते हैं)—

"हम घर में या बाहर कहीं वह अन्न नहीं खाते, जिसे ब्राह्मणों ने न खाया हो।"

उपर्युक्त पद्य में अभिधेय—भोजन का निषेध है, किन्तु उसका अभिधान शब्दतः न करके, 'ब्राह्मणों के खाये बिना हम भोजन नहीं करते', यह कहते हुए किया गया है। ऐसे स्थलों पर अभिधान बिना ही अभिधेय अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रतीति का कारण अभिहित और अनभिहित वाक्यार्थों के बीच गम्यमान सादृश्य का होना है। अतः इस अलंकार को भी सादृश्यमूलक अलंकार कहा जा सकता है।

---

१. यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षास्तमित्याहुरनन्वयम्॥
—काव्यालंकार (भामह), ३।४५, पृ० ८३।

२. श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वितः।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा॥—**वही**, ३।४७, पृ० ८३।

३. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शाङ्गर्धनुर्यथा॥—**वही**, ३।८, पृ० ७०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

१२. **अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार**—प्रकरण से अपेत (भिन्न) अर्थात् अप्रस्तुत अन्य वस्तु की स्तुति को अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार कहा जाता है।[1] सादृश्य की प्रतीयमान स्थिति के कारण इस अलंकार को गम्यमान सादृश्यमूलक अलंकारों में समाविष्ट किया गया है।

१३. **सहोक्ति अलंकार**—जहाँ दो वस्तुओं का समाश्रयण करके तुल्यकाल में एक पद से ही दोनों की क्रियाओं का कथन किया जाता है, वहाँ सहोक्ति अलंकार माना जाता है।[2] सहोक्ति में दो वस्तुओं में विद्यमान क्रियाओं का सादृश्य देखकर ही उन क्रियाओं का एक पद से कथन किया जाता है। इस प्रकार दोनों वस्तुओं में विद्यमान सादृश्य से उत्पन्न चारुत्व के कारण यह अलंकार सादृश्यमूलक अलंकार की कोटि में रखा जाता है।

उपर्युक्त २२ सादृश्यमूलक अर्थालंकारों के अतिरिक्त शेष अर्थालंकारों—(विशेषोक्ति, विरोध, परिवृत्ति, भाविक, आशीः आदि) को सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में रखा गया है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर भामह द्वारा स्वीकृत सादृश्यमूलक अर्थालंकारों में से—रूपक, उपमा, व्यतिरेक, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, दीपक, अतिशयोक्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, श्लेष, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, ससंदेह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा और सहोक्ति अलंकार वाच्य तथा गम्य सादृश्याश्रित माने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त यथासंख्य, स्वभावोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति, विरोध और परिवृत्ति अलंकारों में सादृश्य की सत्ता तो अवश्य रहा करती है, किन्तु उसका प्राधान्य नहीं रहता, इसलिये ये अलंकार सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में समाविष्ट नहीं किये जा सकते। संसृष्टि अलंकार दो या दो से अधिक अलंकारों का मिश्रित रूप होता है।[3] सादृश्यमूलक अलंकारों का मिश्रण होने पर उन अलंकारों में विद्यमान सादृश्य के कारण यद्यपि इसमें भी सादृश्य की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु चारुत्व की प्रधानता के कारण सादृश्य की सत्ता होते हुए भी इसको सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में समाहित नहीं किया जा सकता।

---

१. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा॥
—**काव्यालंकार (भामह)**, ३।२९, पृ० ७८।

२. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये।
पदेनेकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा॥—**वही**, ३।३९, पृ० ८१।

३. वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा॥
—**काव्यालंकार (भामह)**, ३।४९, पृ० ८४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लिखित विभिन्न अलंकारों में विद्यमान सादृश्य का विवेचन करते हुए यह कहा जा सकता है कि अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिक काल में अलंकारों के प्रयोग और उनकी समीक्षा का आविर्भाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सादृश्य को ही मानकर हुआ है। अलंकारों का विकास आरम्भ होने पर उपमा, रूपक आदि कुछ अर्थालंकारों में तो प्रत्यक्ष सादृश्य को ही मूल आधार मान लिया गया और अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति आदि कुछ अलंकारों में सादृश्य के गम्य रूप से विद्यमान होने के कारण प्रतीयमान (गम्यमान) सादृश्य को उनका आधार स्वीकार किया गया।

आचार्य दण्डी ने भामह द्वारा स्वीकार किये गये अलंकारों में से अनन्वय, संदेह, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव और उपमेयोपमा अलंकारों को स्वतंत्र रूप से स्वीकार नहीं किया है, तथा सन्देह एवं अनन्वय को क्रमशः उपमा के भेद संशयोपमा[1] एवं अनन्योपमा[2] के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य दण्डी ने भामह द्वारा स्वीकार किये गये अर्थालंकारों में से अनन्वय, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव, सन्देह और उपमेयोपमा—इन पाँच अलंकारों को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने भामह द्वारा स्वीकृत अलंकारों से भिन्न तीन-लव (लेश) सूक्ष्म और हेतु अलंकारों को मान्यता प्रदान की है,[3] किन्तु ये अलंकार गूढ़सादृश्यमूलक होने के कारण सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में नहीं आते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने दीपक-स्थानीय आवृत्ति नामक एक स्वतन्त्र अलंकार की उद्भावना भी की है,[4] जो सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में समाहित किया जाता है। इस प्रकार आचार्य दण्डी द्वारा स्वीकृत कुल अर्थालंकारों की संख्या ३५ है। जिनमें से रूपक, उपमा, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, निदर्शना, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, तुल्ययोगिता, श्लेष, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति और सहोक्ति ये १८ अलंकार वाच्य अथवा गम्यसादृश्य-प्रधान

---

१. किं पद्मन्तर्भ्रान्तालि किं ते लोलेक्षणं मुखम्।
मम दोलायते चित्तमितीयं संशयोपमा ॥
—काव्यादर्श, २।२६, पृ० ८५।

२. तवाननमिवाम्भोजमाम्भोजमिव ते मुखम्।
इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी ॥—वही, २।१८, पृ० ८१।

३. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ॥
—काव्यादर्श २।२३५, पृ० १६४।

४. अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च।
दीपकस्थान एवेष्टमलंकार त्रयं यथा ॥
—वही २।११६, पृ० ११६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकार वर्ग में समाविष्ट किये जाते हैं। शेष क्रम (यथासंख्य), स्वभावोक्ति, विभावना, विशेष, विरोध, परिवृत्ति, लव, सूक्ष्म और हेतु अर्थालंकारों में सादृश्य की सत्ता का प्राधान्य नहीं होता, इसलिए ये गूढ़सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में आते हैं। भामह के संसृष्टि अलंकार को दण्डी ने संकीर्ण नाम से स्वीकार किया है। दो या दो से अधिक अलंकारों के मिश्रण के कारण इसमें विद्यमान चारुत्व का आधार मिश्रण होता है, अतः यथावसर सादृश्य की सत्ता होने पर भी संसृष्टि अथवा संकीर्ण अलंकार को सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

आचार्य दण्डी द्वारा उद्‌भावित आवृत्ति अलंकार का परिचय निम्नलिखित है :—

आवृत्ति अलंकार—आचार्य दण्डी द्वारा उद्‌भावित आवृत्ति अलंकार अर्थावृत्ति, पदावृत्ति और उभयावृत्ति भेद से तीन प्रकार का माना गया है।[1] दीपक अलंकार में अनेक कारकों से सम्बद्ध एक क्रिया का अथवा अनेक क्रियाओं से सम्बद्ध एक कारक का निर्देश हुआ करता है,[2] जबकि आवृत्ति अलंकार में (दीपक के समान) क्रिया अथवा कारक का एक वार प्रयोग न होकर विभिन्न कारकों के साथ एक क्रिया के वाचक विभिन्न क्रिया-पदों का अथवा आवृत्ति करते हुए उसी क्रिया-पद का पुनः प्रयोग किया जाता है। यथा—

विकसन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजद्रुमाः।
उन्मीलन्ति च कन्दल्यो दलन्ति ककुभानि च ॥

—**काव्यादर्श** २।११७, पृ० ११९।

कदम्ब विकसित हो रहे हैं, कुटज के फूल खिल रहे हैं, कन्दली फूल रही है और अर्जुन में फूल निकल रहे हैं।

उपर्युक्त पद्य में कदम्ब, कुटज, कन्दली और अर्जुन (ककुभ) कारक पदों के साथ 'फूल रहे हैं'—इस अर्थ (क्रियार्थ) को प्रकट करने के लिए 'विकसन्ति' 'स्फुटन्ति,' 'उन्मीलन्ति' और 'दलन्ति' पदों का प्रयोग किया गया है। इसप्रकार अनेक क्रिया-पदों द्वारा एक अर्थ (विकसित होना) की आवृत्ति होने से यहाँ अर्थावृत्ति अलंकार माना गया है।

इसी प्रकार—**उत्कण्ठयति मेघानां माला वृन्दं कलापिनाम्।**
यूनां चोत्कण्ठयत्येष मानसं मकरध्वजः ॥

—**काव्यादर्श** २।११८, पृ० १२०।

---

१. **काव्यादर्श** २।११६, पृ० ११९।
२. जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपचारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा ॥
—**काव्यादर्श**– २।९७, पृ० ११२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

मेघमाला मयूरों के समूह को उत्कण्ठित करती है, यह मकरध्वज युवक-जनों के मन को विलासोत्सुक (उत्कण्ठित) बना रहा है।

प्रस्तुत पद्य में मेघमाला और मकरध्वज कारकों के साथ **'उत्कण्ठयति'** पद की भिन्न-भिन्न तात्पर्य में आवृत्ति की गई है, अतः यहाँ पदावृत्ति अलंकार है।

जित्वा विश्वं भवानद्य विरहत्यवरोधजनैः ।
विहरत्यप्सरोभिस्ते रिपुवर्गो दिवं गतः ॥

—काव्यादर्श २।११६, पृ० १२०।

आप संसार को जीतकर अन्तःपुर की स्त्रियों में विहार कर रहे हैं और आपका रिपु-वर्ग स्वर्ग जाकर अप्सराओं के साथ विहार कर रहा है।

उपर्युक्त पद्य में 'खेल रहा है' इस अर्थ की आवृत्ति **'विहरति'** पद द्वारा की गई है। इस प्रकार अर्थ और पद दोनों की ही आवृत्ति होने से यहाँ उभयावृत्ति अलंकार है।

इस आवृत्ति अलंकार में अर्थ की आवृत्ति होने पर अर्थों में सादृश्य, पद की आवृत्ति होने पर पदों में सादृश्य तथा दोनों की आवृत्ति होने पर दोनों में ही गम्यमान सादृश्य की सत्ता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। अतः यहाँ गम्यमान सादृश्य की सत्ता स्वीकार करना अनुचित न होगा।

अलंकारशास्त्र के इतिहास में **अग्निपुराण** को दण्डी के अनन्तर स्वीकार किया जाता है। इसे संस्कृत साहित्य का विश्वकोष कहा जाये, तो अनुचित न होगा, क्योंकि इसमें विस्तृत विवेचन के स्थान पर उस काल तक उपलब्ध विविध विषयों की सामग्री का संकलन मात्र उपलब्ध होता है।

अग्निपुराण में तीन प्रकार के अलंकारों का उल्लेख मिलता है—१. शब्दालंकार २. अर्थालंकार और ३. शब्दार्थालंकार। इनमें से शब्दालंकार[1] ६, अर्थालंकार[2] ८ और शब्दार्थालंकार[3] ६ हैं। उनके द्वारा स्वीकृत अर्थालंकारों—१. स्वरूप २. सादृश्य ३. उत्प्रेक्षा ४. अतिशय ५. विभावना ६. विरोध ७. हेतु और ८. सम—में से सादृश्य, उत्प्रेक्षा एवं अतिशय ये तीन अर्थालंकार ही सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में समाहित होते हैं, शेष अलंकारों में सादृश्य के अत्यन्त गूढ़ होने से अथवा तद्गत चारुत्व के अभाव के कारण इन्हें सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि 'सादृश्य' अर्थालंकार पुराणकार का एक व्यापक अलंकार है, जिसमें उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थान्तरन्यास इन ४ अर्थालंकारों का अन्तर्भाव देखा जा सकता है।[4]

---

१. **अग्निपुराण** ३४२।१८-२० पृ० ६९७।
२. **अग्निपुराण** ३४४।२½ पृ० ७०२।
३. **वही** ३४५।२ पृ० ७०५।
४. **वही**—३४४।५ पृ० ७०३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य उद्भट ने भामह और दण्डी द्वारा स्वीकार किये गये उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षावयव तथा आवृत्ति नामक अर्थालंकारों को छोड़कर शेष सभी अर्थालंकारों को मान्यता प्रदान की है। इनके अतिरिक्त इन्होंने प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, काव्यलिंग और संकर नामक ४ नवीन अर्थालंकारों की उद्भावना की है, जिनमें से प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में तथा काव्यलिंग और संकर गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूलक अलंकारों की कोटि में समाहित किये जाते हैं।

आचार्य उद्भट द्वारा स्वीकार किये गये अर्थालंकारों में से रूपक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, पर्यायोक्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमेयोपमा, सहोक्ति, अनन्वय, ससन्देह और दृष्टान्त इन २२ अर्थालंकारों में सादृश्य के वाच्य और गम्य रूप में अवस्थित रहने के कारण इन्हें सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में समाविष्ट किया जाता है।

उद्भट द्वारा नवीन उद्भावित प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त नामक सादृश्य-मूलक अलंकारों का परिचय इस प्रकार है—

१. प्रतिवस्तूपमा अलंकार—

उपमानसंनिधाने च साम्यवाच्युच्यते बुधैर्यत्र।
उपमेयस्य च कविभिः सा प्रतिवस्तूपमा गदिता॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह १।२२, पृ० २९।

जहाँ कवियों के द्वारा उपमान और उपमेय के समीप साम्यवाची (इवादि) शब्द का अनेकशः कथन किया जाता है, वहाँ विद्वानों ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार माना है। इस लक्षण की व्यवस्था करते हुए **काव्यालंकारसारसंग्रह** के टीकाकार श्री इन्दुराज ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि यहाँ पर साम्यवाची पद का असकृत् ग्रहण किया जायेगा तो अनेकवाक्यता होगी, जबकि इवादिकों का प्रयोग अनेक वाक्यों में न होकर एक वाक्य में ही होता है। अतः इवादिकों का प्रयोग न होने पर उपमानोपमेय-भाव की प्रतीति कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर निम्न कारिका में दिया गया है—

प्राकरणिकेतरत्वस्थित्यैकश्वोपमेयतां लभते।
उपमानत्वं चापर इत्युपभावाचिशून्यत्वम्॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह १।२३, पृ० २९।

अर्थात् अनेक वाक्य होने के कारण इवादिकों का प्रयोग न होने पर भी प्राकरणिकत्व और अप्राकरणिकत्व की पर्यालोचना से अर्थ के सामर्थ्य से उपमानोपमेय भाव होगा। क्योंकि कहा भी है—

इवादेरप्रतीतापि शब्दसंस्कारतः क्वचित्।
उपमा लक्ष्यतेऽन्यत्र केवलार्थनिबन्धना॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० २९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कहने का आशय यह है कि यहाँ पर तीन प्रकार से उपमा की प्रतीति होती है—१. कहीं तो इवादि शब्द के सामर्थ्य से उपमा वाच्य होती है—यथा—**'चन्द्र इव मुखमस्याः'** इत्यादि।

२. कहीं उस उस विशिष्ट संस्कार के सहायक शब्द से अपने अर्थ का कथन करने के द्वारा लक्षित उपमा की प्रतीति होती है, यथा—**'शस्त्रीश्यामा'** ('पा० २. १. ५५ पर भाष्य)

३. कहीं उपमानोपमेय निवन्धन शब्द के संस्कार का अभाव होने पर भी केवल अर्थ के सामर्थ्य से उपमा की प्रतीति होती है। यथा—रूपक, दीपक और प्रतिवस्तूपमा आदि में।

इसलिये प्रतिवस्तूपमा में केवल अर्थ सामर्थ्य से ही उपमानोपमेय भाव की प्रतीति होती है। तद्यथा—

विरलास्तादृशो लोके शीलसौन्दर्यसंपदः।
निशाः कियत्यो वर्षेऽपि यास्विन्दुः पूर्णमण्डलः॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह १।३१, पृ० ३०।

शील और सौन्दर्य से सम्पन्न उस प्रकार के मनुष्य संसार में विरले ही है, वर्ष में कितनी रातें हैं, जिनमें चन्द्रमा पूर्णमण्डल वाला होता है।

प्रस्तुत पद्य में प्रस्तुत अर्थ—'शीलसौंदर्य-सम्पत्ति से सम्पन्न लोग विरले ही होते हैं' एवं अप्रस्तुत अर्थ—'पूर्ण मण्डल वाले चन्द्रमा से युक्त रातें भी थोड़ी हैं'—के बीच उपमावाचक 'इव' आदि पदों के न होते हुए भी सादृश्य की प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। ऐसे स्थलों पर सादृश्य के कारण ही चमत्कार की अनुभूति होती है, इसलिए इस अलंकार को सादृश्यमूलक अलंकार कहा गया है।

२. दृष्टान्त (काव्य-दृष्टान्त) अलंकार—

इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनिदर्शनम्।
यथेवादिपदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते॥

—काव्यालङ्कारसारसंग्रह ६।८, **पृ०** ८४।

यथा "इव" आदि उपमा वाचक पदों के बिना जहाँ प्राकरणिक रूप से प्रतिपादित करने के लिए अभीष्ट अर्थ के सदृश वस्तु का निदर्शन किया जाता है, वहाँ मनीषियों के द्वारा दृष्टान्त अलंकार कहा जाता है। यथा—

किंचात्र बहुनोक्तेन व्रज भर्तारमाप्नुहि।
उदन्वन्तमनासाद्य महानद्यः किमासते॥

—काव्यालङ्कारसारसंग्रह ६।९, **पृ०** ८५।

(हे भगवती!) इस प्रसंग में अधिक कहने से क्या, जाओ पति को प्राप्त करो, महासमुद्र को प्राप्त किये बिना महानदियाँ कहाँ रुकती हैं?

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

प्रस्तुत पद्य में प्रस्तुत अर्थ 'अधिक कहने से क्या, जाओ पति को प्राप्त करो'--के साथ विम्बप्रतिबिम्ब भाव से युक्त अप्रस्तुत अर्थ—'महानदियाँ महासमुद्र को प्राप्त किये बिना कहीं रुकती हैं—का निबन्धन होने से यहाँ दृष्टान्त (काव्य-दृष्टान्त) अलंकार है। इस अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थ के बीच उपमानोपमेय-भावमूलक चमत्कार होने के कारण इसे गम्यसादृश्यमूलक अलंकार माना जाता है।

आचार्य बामन द्वारा स्वीकृत अर्थालंकार ३० हैं। उन्होंने भामह द्वारा स्वीकृत पर्यायोक्त, भाविक, आशीः, स्वभावोक्ति अर्थालंकारों को, दण्डी द्वारा उद्भावित लय, सूक्ष्म, हेतु तथा आवृत्ति अलंकारों को एवं उद्भट द्वारा प्रतिष्ठापित दृष्टान्त तथा काव्यलिंग अलंकारों को स्वीकार नहीं किया है। इसके अतिरिक्त भामह आदि द्वारा स्वीकृत रसवदादि अलंकारों में से केवल 'समाहित' को ही स्वीकार किया है तथा उपमारूपक एवं उत्प्रेक्षावयव अलंकारों को स्वतंत्र अलंकारों के रूप में मान्यता न देकर उन्हें संसृष्टि के दो भेदों के रूप में स्वीकार किया है।

वामन द्वारा स्वीकार किये गये ३० अर्थालंकारों में से उपमा, प्रतिवस्तूपमा, रूपक, उपमेयोपमा, अनन्वय, संदेह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, आक्षेप तथा उपमारूपक एवं उत्प्रेक्षावयव (संसृष्टि के दो भेद) इन २१ अर्थालंकारों में सादृश्य वाच्य अथवा गम्य रूप से अवस्थित रहता है, अतः ये अलंकार सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में परिगणित किये जाते हैं।

उपर्युक्त सादृश्यमूलक अर्थालंकारों में से वक्रोक्ति और व्याजोक्ति ये दो सादृश्यमूलक अलंकार वामन द्वारा उद्भावित हैं, जिनका परिचय अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. वक्रोक्ति अलङ्कार—

सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।—काव्यालङ्कारसारसंग्रह ४।३।८, पृ० ५०।

'सादृश्यनिबन्धना लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार कहते हैं।' यथा—

उन्मिमीलकमलं सरसीनां कैरवं न निमिमील मुहूर्त्तात्।

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ० ५०।

क्षण भर में ही सरोवरों के कमल उन्मीलित एवं कुमुद निमीलित हो गये। उन्मीलन और निमीलन नेत्र के धर्म हैं, किन्तु यहाँ कमल और कुमुदगत विकास और संकोचन की प्रतीति सादृश्याश्रित लक्षणा के द्वारा हो रही है, अतः यहाँ वक्रोक्ति अलंकार है। वामन के उपर्युक्त लक्षण के कारण इस वक्रोक्ति अलंकार में आधार के रूप में सादृश्य के प्रतिष्ठित रहने से इसे सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा गया है।

२. व्याजोक्ति अलङ्कार—

व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः।

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४।३।२५, पृ० ५७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

व्याज के सत्य के सदृश होने पर व्याजोक्ति अलंकार होता है। यथा—

शरच्चन्द्रांशुगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम्॥

—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, पृ० ५७।

वासवदत्ता के विरह में आँसू बहाता हुआ राजा उदयन अकस्मात् पद्‌मावती के आ जाने पर अश्रुपात के सम्बन्ध में अन्य बहाना (व्याज) बनाता हुआ कहता है कि—'हे भामिनि! शरत्कालीन चन्द्रमा के समान शुभ्र वर्ण वाले काशपुष्प (के आँख में आ जाने) के कारण मेरा मुख आँसुओं से युक्त हो गया है।'

इस पद्य में अश्रुपात के व्याजपूर्ण कारण के सत्य के समान विश्वसनीय होने के कारण व्याजोक्ति अलंकार माना गया है। इसमें व्याज और सत्य में पूर्वसाम्य की सत्ता के आधार रूप से विद्यमान रहने के कारण इसे गम्यसादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा गया है।

रुय्यक आदि परवर्ती आलंकारिकों के अनुसार—'उद्‌भिन्न वस्तु का निगूहन अर्थात् प्रकट वस्तु को छिपाना व्याजोक्ति अलंकार कहा जाता है।'[1] इनके द्वारा स्वीकृत व्याजोक्ति में सादृश्य नहीं रहता, इसलिये इन्होंने इसे सादृश्यमूलक अलंकारों में स्थान नहीं दिया है।

आचार्य रुद्रट ने अलंकारों के वर्गीकरण के ४ मूल आधार स्वीकार किये हैं—१. वास्तव २. औपम्य ३. अतिशय और ४. श्लेष। इस वर्गीकरण के आधार पर अलंकारों का परिगणन करने पर ज्ञात होता है कि रुद्रट द्वारा स्वीकृत वास्तव-मूलक अलङ्कार २३, औपम्याश्रित अलङ्कार २१, अतिशयाश्रित अलङ्कार १२ तथा श्लेषाश्रित अलङ्कार १० हैं।

१. **वास्तवमूलक अलङ्कार**—वास्तवमूलक २३ अर्थालङ्कारों में से सहोक्ति, दीपक, परिकर और व्यतिरेक अर्थालङ्कार ही सादृश्य के गम्य रूप से अवस्थित रहने के कारण सादृश्यमूलक अलङ्कारों की कोटि में आते हैं।

२. **औपम्याश्रित अलङ्कार**—इस वर्ग के २१ अर्थालङ्कारों में से उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, दृष्टान्त, सहोक्ति और स्मरण—ये १४ अर्थालङ्कार वाच्य अथवा गम्यसादृश्य के कारण सादृश्यमूलक अलङ्कारों के वर्ग में समाहित किये जाते हैं।

३. **अतिशयाश्रित अलंकार**—इस वर्ग के १२ अलङ्कारों में से केवल उत्प्रेक्षा-लङ्कार ही सादृश्यमूलक अलङ्कारों के वर्ग में आता है।

४. **श्लेषाश्रित अलङ्कार**—इस वर्ग के १० अलंकारों में से व्याजश्लेष, उक्तिश्लेष

---

१. उद्‌भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः।

—अलङ्कारसर्वस्व सूत्र–७७, पृ० ३१९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

एवं असम्भवश्लेष इन ३ अलंकारों में विशेषणविशेष्य वैचित्र्यगम्यसादृश्य अवस्थित रहता है, अतः इन्हें सादृश्यमूलक अलंकारों के वर्ग में रखा जा सकता है।

उपर्युक्त सादृश्यमूलक अलंकारों में से रुद्रट द्वारा नवीन उद्भावित अलंकार निम्नलिखित हैं—

१. परिकर अलङ्कार—जहाँ वस्तु सप्रयोजन विशेषणों से विशिष्ट होती है, वहाँ परिकर अलंकार होता है। यह द्रव्य, गुण, क्रिया और ज़ाति भेद से चार प्रकार का होता है।[1] यथा—

उचितपरिणामरम्यं स्वादुसुगन्धि स्वयं करे पतितम्।
फलमुत्सृज्य तदानीं ताम्यसि मुग्धे मुधेदानीम्॥

—काव्यालङ्कार (रुद्रट) ७।७३, पृ० २२३।

'समुचित परिपाक के कारण रमणीय, स्वादिष्ट, सुगन्धित और स्वयं ही हाथ में प्राप्त हुए फल को उस समय त्याग कर, हे मुग्धे, अब व्यर्थ खिन्न हो रही हो।'

इस पद्य में एक सखी दूसरी से कहती है—हे मुग्धे! इस प्रकार के फल को उस समय त्याग कर अब व्यर्थ खिन्न क्यों हो रही हो? अभिप्राय यह है कि समुचित परिपाक के कारण सुन्दरता (अतएव) रसनिर्भरता, सुगन्धि और स्वयं हाथ में पड़ना फलवस्तु का यह एक-एक गुण भी अपरित्याग का कारण है, फिर तुमने इन समस्त गुणों से युक्त फल को त्यागकर स्वयं जान-बूझकर महान् कष्ट स्वीकार कर लिया है, अब इस समय खेद करने से क्या लाभ।

इस प्रकार फल के साभिप्राय विशेषणों से यह प्रतीयमान अर्थ निकाला जा सकता है कि पहले तो (मुग्धा ने) स्वयं हाथ में आए हुए परिपक्व फल के समान सुन्दर युवावस्था से युक्त नायक का परित्याग कर दिया, अब पश्चाताप से क्या? इस प्रतीयमान अर्थ के कारण इस अलङ्कार में सादृश्य की सत्ता को भुलाया नहीं जा सकता और इसीलिए इसे गम्यसादृश्यमूलक अलङ्कार वर्ग में रखा गया है। स्मरणीय है कि द्रव्य परिकर के समान ही गुण, क्रिया और जाति रूप परिकर अलङ्कार भी होते हैं।

२. उभयन्यास अलङ्कार—उपमा के स्वरूप से भिन्न, जहाँ दो सामान्य अर्थ निर्दिष्ट हों, वहाँ उभयन्यास अलंकार जानना चाहिए।[2] कहने का आशय यह है

---

१. साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद्विशिष्येते।
द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः स इति॥
—काव्यालङ्कार (रुद्रट) ७।७२, पृ० २२२।

२. सामान्यावप्यर्थौ स्फुटमुपमायाः स्वरूपतोऽपेतौ।
निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः सः विज्ञेयः॥
—काव्यालङ्कार (रुद्रट) ८।८५, पृ० २९०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कि जहाँ साधारण धर्मों के स्पष्टतः विद्यमान होने पर भी दो अर्थ समकक्षीय बनाकर भी उपमा के स्वरूप से पृथक् निर्दिष्ट किये जाते हैं, वहाँ उभयन्यास अलङ्कार होता है। उपमा में साधारण धर्म और उसके वाचक इवादि पदों का प्रयोग होता है, उभयन्यास में नहीं। इस प्रकार इस अलङ्कार में सादृश्य गम्यरूप में अवस्थित रहता है। यथा—

सकलजगत्साधारणविभवा भुवि साधवोऽधुना विरलाः।
सन्ति कियन्तस्तरवः सुस्वादुसुगन्धि चारुफलाः॥

—काव्यालङ्कार (रुद्रट) ८।८६, पृ० २९१।

सम्पूर्ण संसार में प्रख्यात वैभव वाले सज्जन इस समय पृथ्वी पर विरले हैं। मधुर स्वाद और मधुर सुगन्धि से युक्त मधुर फल वाले वृक्ष कितने हैं ?

प्रस्तुत उदाहरण में साधु उपमेय है और वृक्ष उपमान हैं। साधारण धर्मों के स्पष्टतः विद्यमान होने पर भी दोनों अर्थ समकक्षीय बनाकर उपमान और उपमेय के समान निर्दिष्ट किये गये हैं, किन्तु उनमें उपमानोपमेयभाव का शब्दतः कथन नहीं किया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उभयन्यास में सादृश्य अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है, यद्यपि वह गम्य रूप में होता है, इसीलिए इसे गम्य सादृश्यमूलक अलङ्कार वर्ग में समाविष्ट किया गया है।

३. **भ्रान्तिमान् अलङ्कार**—जहाँ अर्थ विशेष (वस्तु न विशेष) को देखकर ज्ञाता को उसके सदृश अन्यवस्तु की सन्देहरहित प्रतीति होती है, वहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है।[1] जहाँ उपमेय रूप विशेष अर्थ को देखकर बोद्धा उसके सदृश अन्य उपमान की संशयरहित बुद्धि कर ले, वहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है। इस अलङ्कार में ऐसी योजना की जाती है कि उपमेय और उपमान के मध्य विद्यमान सादृश्य के कारण उपमेय भ्रान्तिवश उपमान के रूप में प्रतीत होता है। यथा—

पालयति त्वयि वसुधां विविधाध्वरधूममालिनीः ककुभः।
पश्यन्तो दूयन्ते घनसमयाशंकया हंसाः॥

—काव्यालङ्कार (रुद्रट) ८।८८, पृ० २९२।

पृथ्वी पर तुम्हारे शासन करते रहने पर विविध यज्ञों की धूमराशि को धारण करने वाली दिशाओं को देखकर वर्षा ऋतु के आगमन के भय से हंस दुःखी हो रहे हैं।

प्रस्तुत पद्य में यज्ञ का धुआँ धारण करने वाली दिशायें उपमेय हैं, वर्षाकाल उपमान–प्रतिपत्ता को इस प्रकार की बुद्धि सादृश्य के कारण ही हो रही है। इस प्रकार भ्रान्तिमान् अलङ्कार में सादृश्य के कारण भ्रान्ति की उत्पत्ति होने से इस अलङ्कार को सादृश्यमूलक अलङ्कार वर्ग में रखा गया है।

---

१. अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम्।
निःसन्देहं यस्मिन्प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति॥
—काव्यालङ्कार (रुद्रट) ८।८७, पृ० २९१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

४. स्मरण अलङ्कार—जहाँ किसी वस्तुविशेष को देखकर बोद्धा उसके सदृश कालान्तर में अनुभूत किसी अन्य वस्तु का स्मरण करता है, वहाँ स्मरण अलङ्कार होता है।[1] यथा—

तव भवने पश्यन्तः स्थूलस्थूलेन्द्रनीलमणिमालाः।
भूभृन्नाथ मयूराः स्मरन्त्यमी कृष्णसर्पाणाम् ॥

—काव्यालङ्कार (रुद्रट) ८।११०, पृ० ३०१।

'हे राजराज ! तुम्हारे घर में मोटी-मोटी इन्द्रनीलमणियों की मालाओं को देखकर इन मयूरों को कृष्ण सर्पों का स्मरण हो आता है।'

यहाँ पर मयूर इन्द्रनीलमणियों की माला को देखकर उसके सदृश कृष्ण सर्पो का स्मरण करने लगते हैं। इस प्रकार इस अलङ्कार में प्रस्तुत को देखकर होने वाली अप्रस्तुत की प्रतीति सादृश्य के कारण ही होती है, अतः इसे सादृश्यमूलक अलङ्कार वर्ग में रखा गया है।

५. अन्योक्ति अलङ्कार—जहाँ उक्त उपमान से विशेषणों के असमान होने पर भी समान इतिवृत्त वाला उपमेय गम्य होता है, वहाँ अन्योक्ति अलङ्कार होता है।[2] अर्थात् जहाँ विशेषणों के असमान होने पर भी उपमेय उक्त उपमान से केवल गम्य होता है, वहाँ अन्योक्ति अलङ्कार कहा जाता है। यथा—

मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्ज्वलं सरः सरसम्।
बकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि सखे न हंसोऽसि ॥

—काव्यालङ्कार (रुद्रट) ८।७५, पृ० २८६।

'विलासी हंसों वाले, खिले हुए कमलों से उज्ज्वल सरस सरोवरों को छोड़कर, हे मित्र ! बगुले से गन्दे किये गये जल वाले गड्ढे को चाहते हो, (तुम) हंस नहीं हो।

यहाँ उपमान हंस से उपमेय सज्जन की प्रतीति हो रही है, यद्यपि उपमान हंस का आश्रय–विलासी हंसों से युक्त सरोवर–उपमेय का अधिकरण नहीं हो सकता, अतः उपमान और उपमेय में विशेषण की समानता नहीं है, तथापि उपमेय सज्जन का व्यवहार उपमान हंस के समान है। अतः यहाँ उपमान वाक्यार्थ द्वारा उपमेय वाक्यार्थ की प्रतीति हो रही है कि सज्जन पुरुषों से सेवित मनोरम स्थान को

---

१. वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम्।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम् ॥
—काव्यालङ्कार (रुद्रट) ८।१०९, पृ० ३०१।

२. असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः ॥
—काव्यालङ्कार (रुद्रट) ८।७४, पृ० २८५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

छोड़कर दुर्जन पुरुषों से युक्त अनुपयुक्त स्थान की कामना करने वाला पुरुष सज्जन (भद्र पुरुष) नहीं हो सकता।

प्रस्तुत अलङ्कार में उपमान द्वारा समान इतिवृत्त वाले उपमेय की प्रतीति होती है, तथा उस प्रतीति का हेतु उपमेय का उपमान के सदृश होना ही है, अतः इसे गम्यसादृश्यमूलक अलङ्कार वर्ग में समाहित किया गया है।

६. **व्याजश्लेष अलङ्कार**—जिस वाक्य में विवक्षित स्तुति से प्रासंगिक प्रतीति होती है, उसमें व्याजश्लेष अलङ्कार होता है। इस अलङ्कार में विवक्षित स्तुति से तत्सदृश प्रासंगिक निन्दा की अथवा विवक्षित निन्दा से तत्सदृश प्रासंगिक स्तुति की प्रतीति होती है। इस प्रतीति का कारण विवक्षित एवं प्रासंगिक के मध्य विद्यमान सादृश्य ही हुआ करता है।[1] यथा—

त्वया मदर्थे समुपेत्य दत्तमिदं यथा भोगवते शरीरम्।
तथास्य ते दूति कृतस्य शक्या प्रतिक्रियानेन न जन्मना मे॥

—काव्यालङ्कार (रुद्रट) १०।१२, पृ० ३३३।

'हे दूति! जिस प्रकार तुमने मेरे लिये स्वयं उसके पास जाकर उस भोगी (सर्प तथा भोग के इच्छुक नायक) को अपना शरीर अर्पित कर दिया है, इस प्रकार के तुम्हारे इस कार्य का मैं जन्म भर प्रतिकार नहीं कर सकती।'

इस पद्य में श्लिष्ट पद **'भोगवते'** के द्वारा सर्प और कामी पुरुष की प्रतीति हो रही है। इस प्रतीति के आधार पर ही—'हे दूति! जिस प्रकार मेरे लिये तुमने साँपों द्वारा दशन आदि कष्ट सहकर मेरे साथ उपकार किया है, उससे मैं कभी उऋण नहीं हो सकती'—इस स्तुतिवाक्यार्थ द्वारा—'तुमने मेरी दूती के रूप में उस कामुक नायक के पास जाकर उसे अपना शरीर अर्पित कर मेरे साथ जो अपकार किया है, मैं जीवन भर उसका बदला न ले सकूंगी'—इस निन्दा अर्थ की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार स्तुतिवाक्यार्थ से निन्दा वाक्यार्थ की प्रतीति श्लेष की सहायता से हो रही है, अतः समान पद (एक पद) वाच्यता रूपी सादृश्य के मूल में विद्यमान होने के कारण इसे गम्यसादृश्यप्रधान अलङ्कार वर्ग में समाहित किया गया है।

नो भीतं परलोकतो न गणितः सर्वः स्वकीयो जनो।
मर्यादापि च लंघिता न च तथा मुक्ता न गोत्रस्थितिः।
भुक्ता साहसिकेन येन सहसा राज्ञां पुरः पश्यतां।
सा मेदिन्यपरैः परं परिहृता सर्वैरगम्येति या॥

—काव्यालंकार (रुद्रट) १०।१३, पृ० ३३४।

---

१. यस्मिन्निन्दा स्तुतितो निन्दाया वा स्तुतिः प्रतीयेत।
अन्याविवक्षिताया व्याजश्लेषः स विज्ञेयः॥

—काव्यालङ्कार (रुद्रट) १०।११, पृ० ३३३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

'अन्य सब लोगों के द्वारा जो अगम्या मानकर छोड़ दी गई थी, उस मेदिनी (शिल्पी की स्त्री, पृथ्वी) का जिस साहसी ने सहसा राजाओं के समक्ष भोग किया, (वह) न तो परलोक से डरा, न अपने सभी स्वजनों की परवाह की, मर्यादा का भी उल्लंघन कर दिया और कुल की मर्यादा का भी त्याग कर दिया।'

अन्य सभी लोगों द्वारा अगम्या मानकर छोड़ दी गई मेदिनी (शिल्पी की स्त्री) का जिस साहसिक (डाकू) ने सभी राजाओं के सामने भोग किया है, उसने न तो परलोक (अन्य जन्म) का भय किया, न अपने जनों की परवाह की और मर्यादा का उल्लंघन कर अपने कुल के सम्मान का भी निस्सन्देह त्याग कर दिया है—इस निन्दार्थ के द्वारा 'समस्त राजाओं द्वारा भी अप्राप्य मेदिनी (वसुन्धरा) का साहस-प्रिय वीर व्यक्ति ने भोग किया है, निस्सन्देह उसने न तो परलोक (शत्रुओं) से भय किया और न अपने लोगों की परवाह कर युद्ध से भय किया, अपितु उसने मर्यादा अर्थात् अपने राज्य की सीमा का उल्लंघन कर शत्रु-देश में प्रवेश किया और अपने गोत्र (पर्वत) का अर्थात् पर्वतीय दुर्ग का आश्रय भी निस्सन्देह छोड़ा'—इस स्तुति अर्थ की प्रतीति होती है। निन्दार्थ से इस स्तुति अर्थ की प्रतीति में मेदिनी, परलोक, मर्यादा तथा गोत्र पदों में विद्यमान श्लेष ही मूल हेतु है, अतः यहाँ एक पद (समान पद) वाच्यता रूपी सादृश्य के चमत्कारजनक होने के कारण उसे गम्यसादृश्य-मूलक अलंकारों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

७. **उक्ति-श्लेष**—जहाँ विवक्षित अर्थ को पुष्ट करती हुई किसी उक्ति से अन्य लोकप्रसिद्ध बात गम्य हो, वहाँ उक्तिश्लेष अलंकार होता है।[1] इस अलंकार में श्लेष के कारण प्रतीत होती हुई लोकोक्ति सादृश्य के द्वारा विवक्षित अर्थ का पोषण (समर्थन) करती है। यथा—

कलावतः संभृतमण्डलस्य यया हसन्त्यैव हृताशु लक्ष्मीः।
नृणामपांगेन कृतश्च कामस्तस्याः करस्था ननु नालिकश्रीः॥

—**काव्यालंकार** (रुद्रट) १०।१५, पृ० ३३५।

'चन्द्रमा के पूर्ण मण्डल की शोभा को जिसने हँसते-हँसते चुरा लिया और जिसने नेत्रों के प्रान्त भाग से पुरुषों में काम भाव उत्पन्न कर दिया, कमल की शोभा तो उसके हाथ में ही है।'

प्रस्तुत पद्य में—'जिसने हँसते हुए ही सम्पूर्ण मण्डल वाले (पूर्णिमा के) चन्द्रमा की शोभा को मुख से जीत लिया एवं कटाक्षमात्र से लोगों में काम उत्पन्न

१. यत्र विवक्षितमर्थं पुष्यन्ती लौकिकी प्रसिद्धोक्तिः।
गम्येतान्या तस्मादुक्तिश्लेषः स विज्ञेयः॥

—**काव्यालंकार** (रुद्रट) १०।१४, पृ० ३३५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कर दिया है, उसके हाथ कमल की शोभा को धारण कर रहे हैं'—इस विवक्षित अर्थ के द्वारा—'जिस नर्तकी ने कलाप्रेमी विदग्ध जनों और उसके सहायकों से हँसते-हँसते ही धन छीन लिया है तथा कटाक्ष मात्र से दर्शक जनों में काम को उत्पन्न कर दिया है, मूर्खों की सम्पत्ति तो उसके हाथ में ही है—'इस लौकिक अर्थ की प्रतीति हो रही है तथा उक्त लौकिक अर्थ की प्रतीति श्लिष्ट पदों—कलावान् (चन्द्र एवं कलाप्रेमी विदग्ध जन), संभृतमण्डल (सम्पूर्ण एवं सहायक साथियों सहित), लक्ष्मी (शोभा और धन), नालिकश्री (पद्म शोभा एवं मूर्ख जनों का धन) द्वारा हो रही है। इस प्रकार यहाँ समान पद वाच्यता रूप सादृश्य के द्वारा चमत्कार की अनुभूति होने के कारण इस अलंकार को गम्यसादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा गया है।

८. **असम्भव-श्लेष**—जहाँ वाक्य से विवक्षित अर्थ से भिन्न प्रस्तुतार्थ के विशेषणों से असम्बद्ध सुप्रसिद्ध अर्थ गम्य होता है, वहाँ असम्भव श्लेष अलंकार होता है।[1] इस अलंकार में श्लेष की सहायता से प्रसिद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति होती है तथा प्रतीत होने वाले प्रसिद्ध अर्थ में वाक्यगत विशेषण असम्भव प्रतीत होते हैं। अतः इसे असम्भव अलंकार कहा जाता है। यथा—

परिहृतभुजंगसंगः समनयनो न कुरुषे वृषं चाधः।
नन्वन्य एव दृष्टस्त्वमत्र परमेश्वरो जगति ॥

—काव्यालंकार (रुद्रट) १०।१७, पृ० ३३६।

'दुष्टों की संगति छोड़कर धर्म का उद्धार कराने वाले समदर्शी (आप) इस संसार में कोई और ही परमेश्वर हैं।'

प्रस्तुत पद्य में भुजंगों (विटों) का त्याग किये हुए समनयन (समदृष्टि), वृष (धर्म) का पालन करने वाला राजा ही परमेश्वर है, इस अर्थ में संगत श्लिष्ट विशेषण पदों के द्वारा प्रकट होने वाले सर्पों (भुजंगों) से रहित तीन नेत्रों के स्थान पर दो नेत्रों से युक्त एवं वृष (बैल) को छोड़े हुए—ये विशेषणार्थ परमेश्वर (शिव) के साथ असम्भव प्रतीत होते हैं, अतः यहाँ असम्भव श्लेष अलंकार है।

इस अलंकार में प्रस्तुत अर्थ में सम्भव विशेषणों के अप्रस्तुत अर्थ के साथ असम्भव होने से तथा अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत अर्थ के बीच उपमानोपमेय भाव होने से अप्रस्तुत उपमान की अपेक्षा प्रस्तुत उपमेय में उत्कर्ष की प्रतीति होती है, यही इस अलंकार का चारुत्व है। इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थ के मध्य

---

१. गम्येत प्रक्रान्तादसंभवत्तद्विशेषणोऽन्योऽर्थः।
वाक्येन सुप्रसिद्धः स ज्ञेयोऽसंभवश्लेषः ॥

—काव्यालंकार (रुद्रट) १०।१६, पृ० ३३६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

गम्यसादृश्य के विद्यमान रहने के कारण इसे गम्यसादृश्यमूलक अलंकार कहा गया है।

अन्य पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने यहाँ व्यतिरेक अलंकार स्वीकार किया है।[1]

आचार्य कुन्तक ने वाक्यवक्रता के अन्तर्गत[2] जिन अलंकारों को स्वीकार किया है, वे इस प्रकार हैं—१. अतिशयोक्ति २. निदर्शना ३. अपह्नुति ४. अप्रस्तुतप्रशंसा ५. अर्थान्तरन्यास ६. आक्षेप ७. उत्प्रेक्षा ८. उपमा ९. संसृष्टि १०. दृष्टान्त ११. दीपक १२. पर्यायोक्त १३. रसवत् १४. रूपक १५. समासोक्ति १६. विभावना १७. व्यतिरेक १८. श्लेष १९. सन्देह और २०. सहोक्ति।

उपर्युक्त अर्थालंकारों में से—अतिशयोक्ति, निदर्शना, अपह्नुति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, उत्प्रेक्षा, उपमा, दृष्टान्त, दीपक, पर्यायोक्त, रूपक, समासोक्ति, व्यतिरेक, श्लेष, सन्देह और सहोक्ति—इन १७ अर्थालंकारों में सादृश्य वाच्य अथवा गम्य रूप से अवस्थित रहता है। अतः इन्हें सादृश्यमूलक अलंकारों के वर्ग में रखा गया है। रसवत् अलंकार रसभावाश्रित अलंकार माना जाता है, इसलिये यह वाच्य अथवा गम्य सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में परिगणित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार विभावना अलंकार गूढ़सादृश्यमूलक होने के कारण सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में समाविष्ट नहीं किया जाता है।

सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता भोजराज ने अलंकारों का वर्गीकरण शब्दालंकार अर्थालंकार एवं शब्दार्थालंकार नामक तीन वर्गों में किया है और प्रत्येक वर्ग में २४–२४ अलंकारों को रखा है।

भोजराज द्वारा अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार वर्गों में परिगणित अलंकारों में से उपमा, रूपक, संशयोक्ति, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशय, भ्रान्ति और स्मृति अलंकारों में सादृश्य वाच्य रूप से विद्यमान रहता है तथा समासोक्ति, अप्रस्तुतस्तुति, तुल्ययोगिता, सहोक्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, परिष्कृति (परिकर), दीपक, पर्याय, श्लेष और निदर्शन नामक अलंकारों में सादृश्य गम्य रूप में रहता है। अतः इन अलंकारों को सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में रखा जा सकता है।

आचार्य मम्मट ने ६ शब्दालंकार, पुनरुक्तवदाभास नामक एक शब्दार्थालंकार (उभयालंकार) तथा ६१ अर्थालंकार स्वीकार किये हैं। सादृश्य के अर्थगत धर्म होने

---

१. अस्य चालंकारस्यान्यैर्व्यतिरेक इति नाम कृतम्॥

—**काव्यालंकार** (रुद्रट) वृत्ति १०।१७, पृ० ३३७।

२. वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति॥

—**वक्रोक्तिजीवित** १।२०, पृ० ८७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

के कारण शब्दालंकारों को सादृश्यमूलक अलंकारों के वर्ग में नहीं रखा जाता। पुनरुक्तवदाभासगत चारुत्व भी मुख्यतः शब्दाश्रित ही होता है, अर्थाश्रित नहीं, अतः शब्दालंकारों की भाँति इसमें भी सादृश्यमूलक चारुत्व का अभाव ही माना जा सकता है।

अर्थालंकारों में से उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, ससंदेह, रूपक, अतिशयोक्ति, स्मृति और भ्रान्तिमान् अलंकारों में सादृश्य वाच्य रूप में तथा श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, पर्यायोक्त और परिकर अलंकारों में सादृश्यगम्य रूप में रहता है। अतः ये अलंकार वाच्य तथा गम्यसादृश्यमूलक अलंकारों के वर्ग में समाहित किये गये हैं।

उपर्युक्त सादृश्यमूलक अलंकारों में मम्मट द्वारा स्वीकृत नवीन अलंकार विनोक्ति है। अतः उसका विवरण अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

विनोक्ति अलंकार—जहाँ दूसरे के बिना अन्य (दूसरा) अर्थ सुन्दर न हो, अथवा असुन्दर (नेतरः) न हो (किन्तु शोभन हो), वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है।[1] यह कहीं अशोभन और कहीं शोभन (सुन्दर) रूप से दो प्रकार का होता है। यथा—

अरुचिर्निशया विना शशी, शशिना सापि विना महत्तमः।
उभयेन विना मनोभवस्फुरितं नैव चकास्ति कामिनोः॥

—**काव्यप्रकाश** १०।४६७, पृ० ५०८।

'रात्रि के बिना (दिन में) चन्द्रमा कान्तिहीन हो जाता है और चन्द्रमा के बिना वह (रात्रि) भी अन्धकारमयी रहती है। (उन निशा तथा शशि) दोनों के बिना कामियों के मनोभव (काम) का विलास सुशोभित नहीं होता।'

यहाँ रात्रि के बिना चन्द्रमा और चन्द्रमा के बिना रात्रि की अशोभनीयता का वर्णन किया गया है। यह प्रथम प्रकार की विनोक्ति का उदाहरण है। इस प्रकार के पद्यों में समानकालावस्थायी रूप गम्य सादृश्य के कारण एक के अभाव में अन्य की शोभा का अभाव कहा जाता है। तथा इस (समानकालावस्थायित्व रूपी)

---

१. विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः।

—**काव्यप्रकाश** १०।११२ (पूर्वार्द्ध), पृ० ५०७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

सादृश्य की प्रतीति के समय निशा-और शशि आदि में भेद की प्रतीति बनी रहती है, अतः इस अलङ्कार को भेद प्रधान गम्यसादृश्यमूलक अलङ्कार कहा जाता है।

इसी प्रकार—(दूसरे प्रकार की विनोक्ति)

मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रगल्भः ।
अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः ॥

—काव्यप्रकाश १०।४९७, पृ० ५४५ ।

यह राजपुत्र मृगलोचना के न होने पर नाना प्रकार के व्यवहार की प्रगल्भता से युक्त हो जाता है। (इसी प्रकार किसी दुष्ट मित्र के साथ महादुष्ट बन जाता है परन्तु) उस (दुष्ट) मित्र के न होने पर चन्द्रमा के समय शुद्ध हृदय (सुन्दराशय) हो जाता है।

इस पद्य में मृगलोचना तथा दुष्ट मित्र न होने पर नरेन्द्रसूनु की शोभनता का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह दूसरे प्रकार की विनोक्ति है। यहाँ पर 'मृगनयनी आदि के होने पर यह राजकुमार भी तत्सदृश हो जाता है'—इस अर्थ की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार सादृश्य के गम्य रूप से अवस्थित होने के कारण इसे गम्यसादृश्यमूलक अलङ्कार वर्ग में रखा गया है।

वर्गीकरण एवं उसके आधार की दृष्टि से आचार्य रुय्यक का अलङ्कार विवेचन सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं मौलिक कहा जा सकता है। उनका अलङ्कारों के विवेचन का क्रम भी वर्गीकरण पर आश्रित है।

आचार्य रुय्यक ने अलङ्कारों को मुख्यतः चार वर्गों में रखा है—

१. वाच्यसादृश्यमूलक अलङ्कार
२. गम्यसादृश्यमूलक अलङ्कार
३. गूढसादृश्यमूलक अलङ्कार
४. गूढार्थप्रतीतिमूलक अलङ्कार

इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ अलङ्कारों को रसादिप्रतीतिमूलक, स्वभावप्रतीतिमूलक तथा मिश्रित भी कहा है। उनके अनुसार वाच्यसादृश्यमूलक अलङ्कारों में उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण में भेदाभेदातुल्यप्रधान वाच्यसादृश्यमूलक चारुत्व रहता है। रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति अलंकारों में आरोपमूलक अभेदप्रधान तथा उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति में अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान वाच्यसादृश्य रहता है। तुल्ययोगिता और दीपक में सादृश्य वाच्य न होकर गम्यमान रूप में पदार्थगत रहता है। प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना में वही गम्यमान सादृश्य पदार्थगत न होकर वाक्यगत रहता है। व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति में भेद प्रधान गम्यमान सादृश्य रहता है। समासोक्ति और परिकर में सादृश्य की प्रतीति विशेषण-वैचित्र्य के द्वारा होती है। अतः इनमें विशेषण-वैचित्र्यमूलक गम्यमान सादृश्य रहता है। श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास,

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप में सादृश्य की प्रतीति विशेषण-विशेष्य-वैचित्र्याश्रितगम्यमान सादृश्यमूलक कहा जा सकता है। इस प्रकार रुय्यक द्वारा स्वीकृत उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप अलङ्कार वाच्य तथा गम्य सादृश्यमूलक अलङ्कार कहे जा सकते हैं।

रुय्यक ने गूढ़सादृश्यमूलक अलङ्कारों में पाँच उपवर्ग किये हैं—४. विरोधमूलक २. शृंखलाबन्धमूलक ३. तर्कन्यायमूलक ४. वाक्यन्यायमूलक और ५. लोकन्यायमूलक। विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, बिचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, (कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्यय पर आश्रित) अतिशयोक्ति, असंगति और विषम अलङ्कारों में विरोधमूलकगूढ़सादृश्य की सत्ता रहती है। कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार में शृंखलाबन्धमूलक गूढ़ सादृश्य रहता है, काव्यलिंग और अनुमान में तर्कन्यायमूलक गूढ़ सादृश्य रहा करता है, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि में वाक्यन्यायमूलक गूढ़सादृश्य तथा प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर में लोकन्यायमूलक गूढ़ सादृश्य रहता है। चतुर्थवर्ग गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलङ्कारों का है। इसमें सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति अलङ्कार आते हैं। इन अलङ्कारों में अभीष्ट अर्थ अत्यन्त गूढ़ रहा करता है।

सादृश्यमूलक अलङ्कारों के वर्गीकरण के प्रसंग में वाच्यसादृश्यमूलक उपमा आदि अलङ्कारों को तथा गम्यमानसादृश्यमूलक तुल्ययोगिता आदि अलङ्कारों को सादृश्यमूलक वर्ग में रखना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि सादृश्याश्रित चारुत्व की अनुभूति सादृश्य के वाच्य अथवा प्रतीयमान होने की स्थिति में ही हो सकती है। सादृश्य के गूढ़ रहने पर तद्गुण चारुत्व की अनुभूति सम्भव नहीं होती है, अतः गूढ़सादृश्यमूलक विरोध, विभावना आदि तथा सादृश्य-रहित गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति अलङ्कार सादृश्यमूलक अलङ्कार वर्ग में अन्तर्निहित नहीं किये जा सकते।

उपमा रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों में सादृश्य कहीं वाच्य रूप में रहता है और कहीं गम्यरूप में। वाच्य सादृश्य भी कभी भेद-प्रधान रहता है और कभी अभेद-प्रधान। अभेद-प्रधान सादृश्य आरोपमूलक और अध्यवसाय भेद से दो प्रकार का माना जाता है। पुनः अध्यवसाय सादृश्य में कभी अध्यवसाय-व्यापार की प्रधानता होती है और कभी अध्यवसित व्यापार की। इसके अतिरिक्त सादृश्य पदार्थगत और वाक्यार्थगत भेद से भी दो प्रकार का हो जाता है। इस प्रकार स दृश्य कई प्रकार का है।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

सादृश्य का मूल तत्व साधारण धर्म हैं। साधारण धर्म का निर्देश तीन रूपों में किया जा सकता है—अनुगामी रूप में, वस्तुप्रतिवस्तुभाव रूप में तथा विम्बप्रतिविम्व भाव रूप में। जब साधारण धर्म, उपमेय तथा उपमान में एक रूप से रहता है, तो उसे अनुगामी कहते हैं। जब वह एक होने पर भी विभिन्न वाक्यों में विभिन्न शब्दों द्वारा निर्दिष्ट होता है, तब उसे वस्तुप्रतिवस्तुभाव के रूप में निर्दिष्ट माना जाता है। जिस समय उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य में धर्म भिन्न-भिन्न होते हैं और उन धर्मों में ही सादृश्य का कथन होता है, तो उसे बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव कहा जाता है। इस प्रकार सादृश्य और साधारण धर्म के भेदों के आधार पर ही सादृश्यमूलक अलंकार अनेक प्रकार के हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण में उपमेय और उपमान में भेद या अभेद प्रधान सादृश्य का कथन नहीं होता है, अपितु भेदाभेदतुल्यप्रधान सादृश्य रहा करता है।

रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति इन आठ अलंकारों में अभेदप्रधान सादृश्य की प्रधानता रहा करती है। पुनः इनमें से रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख तथा अपह्नुति इन छः अलंकारों में उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाता है, अतः इनमें आरोपमूलक सादृश्य की सत्ता रहती है और उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति में उपमेय पर उपमान का अध्यवसाय किया जाता है, अतः इनमें अध्यवसायमूलक सादृश्य का प्राधान्य रहता है।

तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप अर्थालंकारों में उपमेय और उपमानगत सादृश्य शब्दतः कथित नहीं होता, अपितु गम्यमान (प्रतीयमान) रूप में रहता है। इन अलंकारों में से तुल्ययोगिता और दीपक अलंकारों में स्थित उपमेय और उपमान (दोनों) में विद्यमान सादृश्य का कथन एकवाक्य में किया जाता है एवं वह सादृश्य वाक्य में विद्यमान (अथवा वाक्यगत) अनेक पदों में रहता है। अतः ये (अलंकार) पदार्थ-गत गम्यसादृश्यमूलक वर्ग में समाहित किये जाते हैं। इसके विपरीत प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्त और निदर्शना अर्थालंकारों में दो वाक्यों की योजना की जाती है तथा सादृश्यवाक्य के अर्थ में निहित रहता है। परिणामतः इन (अलंकारों) में वाक्यार्थ-गतगम्यसादृश्य माना जाता है। प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा निदर्शना इन तीनों अलंकारों में भी वस्तुप्रतिवस्तुभाव रूप से साधारण धर्म का निर्देश होने पर प्रति-वस्तूपमा तथा बिम्बप्रतिबिम्ब भाव रूप से निर्देश होने पर दृष्टान्त तथा निदर्शना अलंकार होते हैं।

व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति अलंकारगत उपमेय और उपमान में

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

भेदप्रधानगम्यसादृश्य रहता है। समासोक्ति तथा परिकर अलंकारों में भी सादृश्य गम्यमान रूप में रहता है, किन्तु उनमें उसकी प्रतीति विशेषण के वैचित्र्य के कारण होती है। इसी प्रकार श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप अलंकारों में गम्यमान सादृश्य की प्रतीति में विशेषण और विशेष्यगत वैचित्र्य रहा करता है।

आचार्य रुय्यक ने सादृश्यमूलक अलंकारों को निम्न प्रकार से विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया है—

१. (क) **वाच्यसादृश्यप्रधान**—**भेदाभेदतुल्यप्रधान**—१. उपमा २. उपमेयोपमा ३. अनन्वय और ४. स्मरण।

अभेदप्रधान—(अ) १. **आरोपमूलक**—१. रूपक २. परिणाम ३. सन्देह ४. भ्रान्तिमान् ५. उल्लेख और ६. अपह्नुति।

(ब) **अध्यवसायमूलक**—१. उत्प्रेक्षा २. अतिशयोक्ति।

२. (ख) **गम्यसादृश्यप्रधान**—(१) **पदार्थगतगम्यसादृश्यमूलक**—१. तुल्ययोगिता और २. दीपक।

(२) **वाक्यार्थगतगम्यसादृश्यमूलक**—१. प्रतिवस्तूपमा २. दृष्टान्त और ३. निदर्शना।

(३) **भेदप्रधानगम्यसादृश्यमूलक**—१. व्यतिरेक २. सहोक्ति और ३. विनोक्ति।

(४) **विशेषण-वैचित्र्यगम्य सादृश्यमूलक**— १. समासोक्ति और २. परिकर।

(५) **विशेषणविशेष्यवैचित्र्य गम्यसादृश्यमूलक**— १. श्लेष २. अप्रस्तुत-प्रशंसा ३- अर्थान्तर-न्यास ४. पर्यायोक्ति ५. व्याजस्तुति और ६. आक्षेप।

आचार्य रुय्यक ने अलंकारों का विशिष्ट वर्गीकरण करते हुए सादृश्यमूलक अलंकारों में परिणाम और उल्लेख नामक दो नवीन अलंकार भी स्वीकार किये हैं जिनका वर्णन अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत है—

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

१. परिणाम अलंकार—

आरोप्यमाण के प्रकृतोपयोगी होने पर परिणाम अलंकार होता है।[1] रूपक अलंकार में अप्रकृत (आरोप्यमाण) प्रकृत का उपयोगी नहीं होता है, अतः केवल प्रकृत के उपरञ्जक रूप में ही उसका सम्बन्ध होता है, किन्तु परिणाम में अप्रकृत (आरोप्यमाण) का प्रकृत रूप में प्रयोग होता है। अतः प्रकृत अप्रकृत के रूप में परिणत हो जाता है। यह परिणाम अलंकार समानाधिकरण और व्यधिकरण के रूप में प्रयोग होने से दो प्रकार का होता है। यथा—

समानाधिकरण परिणाम अलंकार—

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनासौतृतीय-
स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतवानातरं नाविकाय।
व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं
कृच्छ्रदन्वयीमानस्त्वंवरितमथ गिरिं चित्रकूटं प्रतस्थे॥

—**अलंकारसर्वस्व**, उदा० सं० ३२ पृ०६१-६३।

शिव की मोलि-माला गंगा को सीता और लक्ष्मण सहित राम ने पार कर उस नाविक (निषाद) को लक्ष्मण की मित्रता उतराई के रूप में दी। इसके बाद विशाल स्तनों वाली शबर-युवतियी के द्वारा कौतुक से भरे नयनों से कष्टपूर्वक (किसी प्रकार) अनुगत राम शीघ्र ही चित्रकूट पर्वत की और चल पड़े।'

प्रस्तुत उदाहरण में प्रकृत है लक्ष्मण की मित्रता। वह अप्रकृत और समान विभक्ति 'उतराई' (आतर) के रूप से परिणत हो गई है 'उतराई' का मैत्री रूप में प्रकृत में उपयोग हो रहा है, अतः यहाँ परिणाम अलकार है। साथ ही अप्रकृत (आरोप्यमाण) 'आतरम्' और प्रकृत (आरोप विषय) 'सौमित्रिमैत्री' दोनों पद समान विभक्ति में प्रयुक्त हुए हैं। अतः यहाँ समानाधिकरण परिणाम अलंकार है।

(व्यधिकरण) परिणाम अलंकार—

अथ पक्त्रिमतामुपेयिवद्भिः सरसैर्वक्त्रपथाश्रितैर्वचोभिः।
क्षितिभर्तुरुपायनं चकार प्रथमं तत्परतस्तुरंगमाद्यैः॥

अलंकारसर्वस्व उदा० सं० ३३ पृ० ६४।

'इसके अनन्तर पहले मुखमार्ग पर आश्रित गम्भीरतापूर्ण सरस वचनों से राजा को उपहार दिया और तदनन्तर घोड़े आदि का।'

प्रस्तुत पद्य में वचनों एवं तुरंग आदि पर उपायन (भेंट) का आरोप किया गया है। इस आरोप में केवल रूपसमारोप न होकर प्रकृत में उपयोगी व्यवहार-

---

१. आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः॥—**अलंकारसर्वस्वसूत्र**, १६, पृ०६०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

समारोप भी किया गया है। अतः यहाँ परिणाम अलंकार है। इस उदाहरण में आरोपविषय वचन एवं तुरंग आदि तृतीया बहुवचन विभक्ति में विद्यमान हैं, जबकि आरोप्यमाण 'उपायन' का प्रयोग द्वितीया विभक्ति एकवचन में हुआ है। आरोप्यमाण और आरोपविषयों के भिन्न विभक्ति में स्थित होने के कारण इसे व्यधिकरण परिणाम अलंकार का उदाहरण माना गया है।

परिणाम अलंकार में अप्रकृत का प्रकृत के रूप में उपयोग सादृश्य के आधार पर ही होता है, अतः इसे अभेदारोप-प्रधान वाच्य सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा गया है।

२. उल्लेख अलंकार—

एक को भी, किसी निमित-विशेष से अनेक्र प्रकार से ग्रहण करना ही उल्लेख अलङ्कार कहा जाता है।[1] यह उल्लेख निष्प्रयोजन और उल्लेखमात्र ही नहीं होता अपितु अनेक प्रकार के घर्मों से सम्वंधित होने के कारण इसका विधान होता है। यथा—

'यस्तपोवनमिति मुनिभिः, कामायतनमिति वेश्याभिः, संगीतशालेति लासकेः'—इत्यादि।—**अलङ्कारसर्बस्व**, पृ० ७१।

हर्षचरित में श्रीकण्ठ नामक जनपद का वर्णन करते हुए बाण ने कहा है कि—'जिसे मुनियों ने तपोवन, वेश्याओं ने काम-मन्दिर, नृत्य-शिक्षकों ने संगीत शाला···(माना)।'

यहाँ श्रीकण्ठ नामक जनपद एक ही है, पर विभिन्न गुणों से युक्त होने के कारण उसका तपोवन, काम मन्दिर, संगीतशाला—अनेक रूपों में वर्णन किया गया है। जनपद का तपोवन, कामायतन एवं संगीतशाला के रूप में वर्णन जनपद और उनमें (तपोवन आदि में) विद्यमान सादृश्य के आधार पर किया गया है। अतः इसे अभेदारोप प्रधान वाच्यसादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा गया है।

वाग्भटालंकार के प्रणेता वाग्भट प्रथम ने जिन ३५ अर्थालंकारों को स्वीकार किया है, उनमें से उपमा, रूपक, भ्रांतिमान्, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, संशय, अपह्नुति अलङ्कार वाच्यसादृश्यमूलक अलङ्कार वर्ग में तथा दीपक, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति और आक्षेप अलङ्कार गम्यसादृश्यप्रधान वर्ग में समाविष्ट किये जा सकते हैं।

काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र ने ६ शब्दालङ्कार तथा ३० अर्थालङ्कार स्वीकार किये हैं। उनके द्वारा स्वीकार किये गये अर्थालङ्कारों में से उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक,

---

१. एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः।—**अलंकारसर्वस्व**–सूत्र, १९ पृ० ७०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अतिशयोक्ति, अपह्नुति, ससंदेह स्मृति और भ्रांति अलंकारों में सादृश्य वाच्य रूप में तथा अन्योक्ति, निदर्शना, दीपक, पर्यायोक्त, आक्षेप, सहोक्ति, समासोक्ति, व्याजस्तुति, श्लेष, व्यतिरेक और अर्थान्तरन्यास अलङ्कारों में सादृश्य गम्य रूप में रहा करता है। इसलिये उपर्युक्त १९ अलंकारों को वाच्य एवं गम्य सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में समाहित किया गया है।

आचार्य शोभाकरमित्र द्वारा स्वीकार किये गये एक सौ चार अर्थालंकारों में से सादृश्यमूलक अर्थालंकार निम्नलिखित हैं :—

उपमा, कल्पितोपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रति-वस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, स्मृति, व्यतिरेक, रूपक, परिणाम, अपह्नुति, संदेह, उत्प्रेक्षा, भ्रांतिमान्, उल्लेख, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, विनोक्ति, सहोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, परिकर, पर्यायोक्त, आक्षेप, संदेहाभास, अर्थान्तरन्यास असम और उदाहरण अलंकार वाच्य सादृश्यमूलक तथा गम्यसादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में समाविष्ट किये जा सकते हैं।

चन्द्रालोक-प्रणेता जयदेव ने लगभग सौ से अधिक अलंकारों का वर्णन किया है। उनमें से ४ शब्दालंकार[1] तथा शेष अर्थालंकार[2] हैं। उनके द्वारा स्वीकृत अर्था-लंकारों में से—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीपोपमा, ललितोपमा, स्तवकोपमा, सम्पूर्णोपमा, रूपक (सोपाधिरूपक, दृश्यरूपक, आभासरूपक और रूपितरूपक), परिणाम, उल्लेख, अपह्नुति (पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति और कैतवापह्नुति), उत्प्रेक्षा (गढ़ोत्प्रेक्षा), स्मृति, भ्रांति, संदेह, अतिशयोक्ति (भेदका-तिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति चपलातिशयोक्ति, सम्बन्धा-तिशयोक्ति और रूपकातिशयोक्ति) अलंकारों में सादृश्य वाच्य-रूप में रहता है। परिकर, परिकरांकुर, तुल्ययोगिता, आवृत्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, श्लेष (शब्दश्लेष, अर्थश्लेष) अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप अलंकारों में सादृश्य गम्य-रूप में विद्यमान रहता है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी अलंकार वाच्य तथा गम्यसादृश्यप्रधान अलंकार वर्ग में समाहित किये जा सकते हैं।

जयदेव द्वारा उद्भावित सादृश्यमूलक अलंकारों में से प्रतीपोपमा, ललितो-पमा, स्तवकोपमा, सम्पूर्णोपमा, परिकरांकुर और विकस्वर का परिचय क्रमशः निम्नलिखित है—

---

१. विस्तृत विवेचन **चन्द्रालोक**, मयूख ५, पर देखिये।
२. विस्तृत विवेचन **चन्द्रालोक**, मयूख ५, पर देखिये।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

१. प्रतीपोपमा अलङ्कार—

विख्यात उपमानको उपमेय बनाने पर प्रतीपोपमा अलंकार होता है।[१] यथा—

इन्दुर्मुखमिवेत्यादौ········। —**चन्द्रालोक,** ५।१४, उत्तरार्द्ध पृ० १०७।

'चन्द्रमा मुख के समान है' इस उदाहरण में प्रसिद्ध उपमान चन्द्रमा एवं प्रसिद्ध उपमेय मुख को बदलकर मुख को उपमान एवं चन्द्रमा को उपमेय के रूप में निबद्ध किया गया है, अतः इसे प्रतीपोपमा अलंकार माना गया है। इसमें सामान्य उपमा अलंकार के समान ही सादृश्य वाच्य रूप में विद्यमान रहता है, अतः इसे वाच्यसादृश्यमूलक अलंकारों की श्रेणी में रखा जाता है।

२. ललितोपमा अलंकार—

उपमान के साथ लीलादि पद के रहने पर ललितोपमा होती है।[२] यथा—

त्वन्नेत्रयुगलंधत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनोः ॥—न्द्रालोक ५।१५ (उत्तरार्द्ध) पृ० १०८।

'तुम्हारे नेत्रद्वन्द्व नीले कमम की लीला को धारण करते हैं।' यहाँ नीलकमल उपमान है और उसके साथ लीला पद का भी निबन्धन किया गया है। इससे नील-कमल की लीला (विलास) कामिनी के नेत्रों में भी प्रतीति होती है।

प्रस्तुत पंक्ति में जयदेव के अनुसार लालित्य की सत्ता का कथन करने वाले लीला आदि पदों के कारण इसे ललितोपमा अलंकार कहा गया है। उपमा के समान ही इस अलङ्कार में भी सादृश्य के वाच्य होने के कारण इसे वाच्यसादृश्य-मूलक अलंकारों की श्रेणी में रखा जाता है।

३. स्तवकोपमा अलङ्कार—

जहाँ अनेक उपमानोपमेयों का सादृश्य दिखाया गया हो, वहाँ स्तवकोपमा होती है[३]। यथा—'**श्रितोऽस्मि चरणौ विष्णोर्भृङ्गस्तामरसं यथा ॥–चन्द्रालोक** ५।१६, (उत्तरार्द्ध) पृ० १०८।

जैसे भ्रमर कमल का आश्रय करता है, वैसे ही में भगवान् विष्णु के चरणों का आश्रय करता हूँ। यहाँ मैं (अहम्) का उपमान भृंग है और चरण का तामरस है। इस प्रकार अनेक उपमानों एवं अनेक उपमेयों का एक साथ निबन्धन होने से यहाँ स्तवकोपमा अलंकार है। सामान्य उपमा के समान ही वाच्य सादृश्य की सत्ता होने से इसे वाच्यसादृश्यमूलक अलंकारों में रखा गया है।

---

१. विख्यातस्योपमानस्य यत्र स्यादुपमेयता।
··············स्मात्प्रतीपोपमा तदा ॥—**चन्द्रालोक** ५।१४, पृ० १०७।

२. उपमाने तु लीलादिपदाढ्ये ललितोपमा ॥—**चन्द्रालोक** ५।१५ (पूर्वार्द्ध) पृ० १०७।

३. अनेकस्यार्थयुग्मस्य सादृश्यं स्तवकोपमा ॥—**वही** ५।१६ (पूर्वार्द्ध)—पृ० १०८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

४. सम्पूर्णोपमा अलङ्कार—

जहाँ उपमान और उपमेय ये दोनों वर्णन के योग्य प्रस्तुत रहें, वहाँ सम्पूर्णोपमा होती है[1]। यथा—

पद्मानीव विनिद्राणि नेत्राण्यासन्नहर्मुखे ॥—चन्द्रालोक ५।१७ (उत्तार्द्ध) पृ० १०८।

'प्रातः काल में पद्मों के समान मनुष्यों के नेत्र भी निद्रारहित हो गये (अर्थात् खुल गये)।' प्रातः काल के वर्णन में कमलों का विकास और नेत्रों का खुलना इन दोनों का ही वर्णत प्रस्तुत रहता है, अतः यहाँ सम्पूर्णोपमा अलंकार है।

उपमा के चार अंगों—उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और उपमा वाचक—का निवन्धन होने से इसमें सर्वाधिक सादृश्य की प्रतीति होती है। इसीलिए इसे सम्पूर्णोपमा अलंकार नाम से अभिहित किया गया है। उपमालंकार के समान इसमें भी सादृश्य के वाच्य रूप से अवस्थित रहने के कारण इसे सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा गया है।

५. परिकरांकुर अलङ्कार—

जहाँ विशेष्य वाचक पद का प्रयोग किसी अभिप्राय से किया गया हो, वहाँ परिकरांकुर अलंकार होता है[2]। यथा—

चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः ॥—चन्द्रालोक ५।४० (उत्तरार्द्ध)— पृ० १२६।

भगवान् चतुर्भुज चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के देने वाले हैं। यहाँ चतुर्भुज 'पद विशेष्य है। इस पद के रखने में कवि का एक विशेष अभिप्राय यह है कि चारों हाथों से चारों पदार्थ एक ही समय में दिये जा सकते हैं। अतः विशेष्य के अभिप्राय-सहित होने के कारण यहाँ परिकारांकुर अलंकार है। यहाँ पर देय एवं दाता के उपकरण भुजाओं में चार संख्याओं के कारण ही विशेष्यगत विशेष अभिप्राय की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार समान संख्या द्वारा सादृश्य की प्रतीति होने के कारण इसे गम्यसादृश्यमूलक अलंकार की कोटि में अन्तर्हित किया गया है।

६. विकस्वर अलंकार—

जहाँ विशेष, सामान्य और विशेष अर्थ की उपस्थिति हो, वहाँ विकस्वर अलंकार होता है।[3] तात्पर्य यह है कि जहाँ किसी एक विशेष अर्थ के समर्थन के लिये

---

१. स्यात्संपूर्णोपमा यत्र द्वयोरपि विधेयता ॥—चन्द्रालोक ५।१७ (पूर्वार्द्ध) पृ० १०८।

२. साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकरांकुरः ॥—**वही**—५।४० (पूर्वार्द्ध) पृ० १२६।

३. यस्मिन्विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः ॥
—**चन्द्रालोक**—५।६९ (पूर्वार्द्ध) पृ० १५०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

सामान्य का और पुनः सामान्य के समर्थन के लिए विशेष अर्थ का निबन्धन किया जाये, वहाँ बिकस्वर अलंकार होता है। यथा—

स न जिग्ये महान्तो हि दुर्धर्षाः क्ष्माधरा इव ॥

—चन्द्रालोक, ५।५६९, उत्तरार्द्ध, पृ० १५०।

उस वीर को कोई नहीं जीत सका, सो ठीक है, क्योंकि प्रभावशाली व्यक्तियों का पराजय उसी प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार पर्वत का लाँघना कठिन होता है।

यहाँ—'उसे कोई भी न जीत सका'—इस विशेष अर्थ के समर्थन के लिये—'महान् लोग दुर्धर्ष होते हैं, इस सामान्य अर्थ का और समर्थक सामान्य अर्थ—के समर्थन के लिये पुनः पर्वतों के समान इस विशेष अर्थ का निबन्धन होने से विकस्वर अलंकार है। अर्थान्तरन्यास अलंकार के समान इस अलंकार में भी समर्थ्य समर्थक भाव सादृश्य के कारण माना जाता है, अतः इसे गम्यसादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा जाता है। किन्तु विकस्वर अलंकार में कहीं कहीं वाच्य सादृश्य द्वारा भी समर्थ्य समर्थक भाव की प्रतीति हुआ करती है, ऐसी स्थिति में इसे वाच्य-सादृश्यमूलक अलंकार भी माना जा सकता है।

यहाँ एक और बात ध्यान में रखने योग्य है कि अर्थान्तरन्यास अलंकार में सामान्य के द्वारा विशेष का अथवा विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन किया जाता है, किन्तु विकस्वर अलंकार में एक विशेष के समर्थन के लिए पहले सामान्य का और पुनः सामान्य अर्थ के समर्थन के लिए विशेष अर्थ का निबन्धन किया जाता है।

एकावलीकार विद्याधर ने ४ शब्दालंकारों,[1] ७१ अर्थालंकारों[2] तथा एक शब्दार्थालंकार[3] का वर्णन किया है। उनके द्वारा स्वीकार किये गये अर्थालंकारों में से–उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांतिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकारों में सादृश्य वाच्य रूप में रहता है, एवं तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति और आक्षेप अलंकारों में सादृश्य गम्य-रूप से विद्यमान रहता है। अतः उपर्युक्त सब अलंकार सादृश्यमूलक अलंकार-वर्ग में समाविष्ट किये जाते हैं।

प्रतापरुद्रयशोभूषणकार विद्यानाथ ने अलंकारों के वर्गीकरण के प्रसंग में सामान्यतः आचार्य रुय्यक का अनुगमन किया है। उनके द्वारा स्वीकार किये गये ६९ अर्थालंकारों में से—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, परिणाम,

---

१. विस्तृत विवेचन **एकावली**, उन्मेष ७, पृ० १८६-१८९ पर देखिये।
२. विस्तृत विवेचन **एकावली**, उन्मेष ८, पृ० १९५-३३४ पर देखिये।
३. विस्तृत विवेचन **एकावली**, उन्मेष ७, पृ० १८४ पर देखिये।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

संदेह, भ्रांतिमान्, अपह्नुति, उल्लेख और उत्प्रेक्षा अलंकारों में सादृश्य के वाच्य रूप से अवस्थित होने के कारण इनको वाच्यसादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा जा सकता है। तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, श्लेष, परिकर, आक्षेप, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, अर्थान्तरन्यास, सहोक्ति, विनोक्ति, और समासोक्ति अलंकारों में सादृश्य के गम्य-रूप में दृष्टिगत होने के कारण इन्हें गम्यसादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में समाहित किया गया है।

अतिशयोक्ति अलंकार के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि रुय्यक के अनुसार कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति में प्रौढ़ि की एवं अध्यवसानमूलक अतिशयोक्ति में वाच्यसादृश्य की प्रधानता होती है, किन्तु विद्यानाथ ने अतिशयोक्ति के किसी भी भेद में सादृश्यमूलक चारुत्व स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार अतिशयोक्तिगत चारुत्व प्रौढ़ोक्तिमूलक होता है।[1]

आचार्य विश्वनाथ द्वारा स्वीकार किये गये ७७ अर्थालंकारों में से उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांतिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार वाच्यसादृश्य के प्राधान्य के कारण वाच्यसादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में तथा सहोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, निश्चय, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, आक्षेप और व्याजस्तुति अलंकार गम्य सादृश्य के प्राधान्य के कारण गम्यासादृश्यप्रधान अलंकार वर्ग में समाविष्ट किये जा सकते हैं।

विश्वनाथ ने निश्चय नामक सादृश्यमूलक अलंकार की उद्भावना की है। उनके अनुसार उसका लक्षण इस प्रकार है—

अन्य का निषेध करके प्रकृति का स्थापन करना निश्चय अलंकार कहा जाता है।[2] यथा—

वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते।
इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर ! मुधा किं परिभ्रमसि ॥

—**साहित्यदर्पण** १०।३९ उदाहरण

यह वदन है, कमल नहीं, ये नेत्र हैं, इन्दीवर नहीं। हे भ्रमर ! इस मुग्धाक्षी के पास तुम व्यर्थ क्यों भटक रहे हो ?

---

१. सातिशयोक्तिः स्यात् कविप्रौढोक्तिजीविता। कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपात्वनध्यवसायमूलत्वाद्व्यतिरिक्तेव। किं तु प्रौढोक्तिमूलत्वादतिशयोक्तिरिति कथ्यते।

—**प्रतापरुद्रयशोभूषण**—पृ० ३९६, ३९७।

२. अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः ॥

—**साहित्यदर्पण** १०।३९, पृ० ७३८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

इस पद्य में प्रस्तुत कमल और इन्दीवर (नीलकमल) का निषेध करके क्रमशः नायिका के वदन एवं नेत्रों को वदन तथा नेत्र कहते हुए प्रकृत की स्थापना की गई है, अतः यहाँ निश्चय अलंकार है।

इस अलंकार में प्रस्तुत में अप्रस्तुत के निषेध का कथन दोनों में सादृश्य की अनुभूति कराता है, इसीलिए इसको अपह्नुति अलंकार के समान वाच्य-सादृश्य-प्रधान वर्ग में रखा गया है। यहाँ स्मरणीय है कि अपह्नुति अलंकार में प्रस्तुत का निषेध कर अप्रस्तुत की स्थापना की जाती है, इसके विपरीत निश्चय अलंकार में अप्रस्तुत का निषेध करके प्रस्तुत का स्थापन किया जाता है।

अलंकारमहोदधिकार नरेन्द्रप्रभसूरि ने जिन ७१ अर्थालंकारों को स्वीकार किया है, उनमें से अतिशयोक्ति, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, संशय, भ्रांतिमान्, उल्लेख, रूपक, अपह्नुति, परिणाम और उत्प्रेक्षा अलंकार वाच्यसादृश्यमूलक वर्ग में तथा सहोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विनोक्ति, परिकर, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, आक्षेप, व्याजस्तुति और श्लेष गम्यसादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में समाहित किये जाते हैं। आचार्य नरेन्द्रप्रभभूरि के सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि उन्होंने चारुत्वाधायक तत्वों में अतिशय को सर्वाधिक महत्व देते हुए उसे समस्त अलंकारों का बीज स्वीकार किया है। उनके अनुसार उपमागत चारुत्व में ही अतिशय मूल रूप में विद्यमान रहता है।[1] अतिशय की प्रधानता को स्वीकार करने के कारण ही इन्होंने समस्त अर्थालंकारों में अतिशयोक्ति अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन किया है।[2]

काव्यानुशासनकार वाग्भट द्वितीय के द्वारा स्वीकार किये गये ६३ अर्थालंकारों में से निम्नलिखित अलंकार सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में रखे जा सकते हैं—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, ससंदेह, अपह्नुति, स्मृति, भ्रांति और अनन्वय अलंकारों में सादृश्य वाच्य रूप से तथा दीपक, अन्योक्ति, समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, सहोक्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, व्याजस्तुति, व्यतिरेक, निदर्शना, परिकर, श्लेष, पर्याय और व्याजोक्ति अलंकारों में सादृश्य गम्य रूप से रहता है।

---

१. (क) ······अतिशयोक्तिं तां सर्वालंकारजीवितम्।

—**अलंकारमहोदधि**—८।४, पृ० २२८।

(ख) अलंकाराः हि सर्वेऽप्यनयेव (अतिशयोक्त्यैव) स्फुरद्रूपाः क्रियन्ते। एतां विना तु प्रमीतकल्पा एव।

—**वही**—पृ० २३१।

२. अथातिशयोक्तिसौरभतरंगितामेव सकलालंकारबीजभूतामुपमां लक्षयति ॥

—**वही**—पृ० २३४।

(अवतरणिका, उपमालंकार)

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकारशेखरकार केशवमिश्र ने ८ शब्दालंकार[1] और १४ अर्थालंकार[2] स्वीकार किये हैं, उनके द्वारा स्वीकार किये गये अर्थालंकारों में से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, दीपक और सहोक्ति ये सात अलंकार ही सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में समाहित किये जा सकते हैं।

कुवलयानन्द और **चित्रमीमांसा** के रचयिता अप्पयदीक्षित ने जिन लगभग ११८ अर्थालंकारों का वर्णन किया है, उनमें से उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रांति, संदेह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकारों में सादृश्य वाच्य रूप से तथा तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्ति प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा,[3] अर्थान्तरन्यास और आक्षेप अलंकारों में सादृश्य-गम्य-रूप में अवस्थित रहता है। अतः उपर्युक्त सभी अलंकार वाच्य तथा गम्यसादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में अन्तर्निहित किये जा सकते हैं।

अप्पयदीक्षित द्वारा उद्भावित दो अर्थालंकार हैं—१. कारक दीपक और २. प्रस्तुतांकुर। इनका परिचय अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. कारकदीपक अलंकार—

एक कारक के साथ अनेक क्रियाओं का गुम्फन होने पर कारक दीपक अलंकार होता है।[4] यथा—

गच्छत्यागच्छति पुनः पान्थः पश्यति प्रच्छति ॥

—कुवलयानन्द ११७ (उत्तरार्द्ध) पृ० १८६।

'पथिक जाता है, पुनः लौटता है, देखता है और पूछता है।'

इस पंक्ति में एक कारक पथिक के लिए गच्छति, आगच्छति, पश्यति, प्रच्छति-इन चार क्रियाओं का गुम्फन होने से यहाँ कारकदीपक अलंकार है। दीपक-सामान्य के समान एक कारक के साथ गुम्फित अनेक क्रियाओं में गम्य उपमानोपमेय-भाव होने से इसे गम्यसादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा गया है।

२. प्रस्तुतांकुर अलंकार—

जिस स्थल पर प्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना हो रही हो, वहाँ प्रस्तुतांकुर

---

१. **अलंकारशेखर**, १०।१, पृ० २७।

२. —**वही**, ११।१–२, पृ० २९।

३. अप्पयदीक्षित द्वारा स्वीकृत व्याजनिन्दा अलंकार आचार्य रुद्रट द्वारा उद्भावित श्लेषाश्रितवर्ग के व्याजश्लेष अलंकार का एक प्रकार भेद है।

४. क्रमिकेकगतानां तु गम्फः कारकदीपकम्।

—कुवलयानन्द ११७ (पुर्वार्द्ध)—पृ० १८६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकार होता है।[1] ऐसे स्थलों पर प्रस्तुत अर्थ दो होते हैं—एक वाच्य और दूसरा गम्य। वाच्य प्रस्तुत अर्थ द्वारा गम्यप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति सादृश्य के आधार पर हुआ करती है। यथा—

किं भृंग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्वया ॥

—**कुवलयानन्द** ६७, (उत्तरार्द्ध) पृ० ११५।

'हे भौंरे। मालती के रहने पर कंटीली केतकी में क्या रखा है ?

इस पंक्ति में प्रियतम के साथ विहार करती हुई मुग्धा नायिका अकस्मात् वहाँ आये हुए भौंरे को मुग्धतावश सम्बोधित करके मालती के रहने पर केतकी की निरर्थकता का कथन करती है। मुग्धता प्रसूत प्रस्तुत अर्थ के द्वारा—'नायिका द्वारा प्रतिनायिकाओं के निराकरण के लिए नायक से आग्रह की भी प्रतीति हो रही है तथा यह अर्थ नायक-नायिका के एकान्त वार्तालाप में स्वतः प्रस्तुत है। इस प्रकार प्रस्तुत से ही प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने के कारण यहाँ प्रस्तुतांकुर अलंकार है। एक प्रस्तुत अर्थ से अन्य प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति का कारण सादृश्य ही होता है, इसीलिये इस अलंकार को गम्यसादृश्यमूलक अलंकारों की श्रेणी में रखा गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा स्वीकार किये गये अर्थालंकारों में से उपमा, उपमेयोपमा, उदाहरण, अनन्वय, असम, स्मरण, रूपक, परिणाम, ससंदेह, भ्रांतिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा अलंकार वाच्यसादृश्यप्रधान तथा तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप और अर्थान्तरन्यास अलंकार गम्यसादृश्यप्रधान अलंकारों के वर्ग में समाहित किये जा सकते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा स्वीकृत सादृश्यमूलक अर्थालंकारों में से निम्नलिखित ३ पुनः प्रतिष्ठापित अलंकार हैं। तद्यथा—

१. असम अलंकार—

किसी उपमेय के लिये उपमान का सर्वथा ही निषेध होने पर असम अलंकार होता है।[2] उपमान का निषेध उपमेय के अत्यन्त उत्कर्ष की प्रतीति के लिये किया जाता है और यह निषेध अनन्वय अलंकार में भी विद्यमान रहता है, फिर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। अनन्वय अलंकार में उपमान का निषेध वाच्य न हो कर गम्य रहा करता है, जबकि असम अलंकार में यह निषेध वाच्य होता है। यथा—

---

१. प्रस्तुतेन प्रस्तुस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः ॥

—**कुवलयानन्द** ६७, पूर्वार्द्ध, पृ० ११५।

२. सर्वथैवोपमाननिषेधोऽसमाख्योऽलंकारः।

—**रसगंगाधर**, पृ० ४००।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

भूमिनाथ शहाबुदीन भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-
रेतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे ।
धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भावये-
न्न स्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः ॥

—रसगंगाधर, पृ० ४०१ ।

'हे महाराज शहाबुद्दीन साहब, आपके समान गुणनिधि-इस समस्त भौतिक सृष्टि में नहीं है । अधिक क्या कहें ? ब्रह्मा यदि नवीन कारणों से पुनः सृष्टि की रचना करना चाहे, तब भी आपकी समानता के लेश (अंश) को धारण करने वाला नहीं हो सकता है ।'

उपर्युक्त पद्य में उपमेय शहाबुद्दीन के सदृश अन्य उपमान का (ब्रह्मा का) निषेध होने से यहाँ असम अलंकार माना गया है । इस प्रकार निषेधात्मक सादृश्य की प्रधानता के कारण इस अलंकार को सादृश्यमूलक अलंकारों के वर्ग में समाहित किया गया है ।

२. उदाहरण अलंकार—

सामान्य रूप से निरूपित अर्थविशेष की सहज प्रतीति के लिए उसके एकदेश का वर्णन करके सामान्यपदार्थ और उसके एकदेश के अवयव-अवयवीभाव का कथन उदाहरण अलंकार कहलाता है ।[1] यथा—

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति ।
निखिलरसायन राजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ॥

—रसगंगाधर, पृ० ४१० ।

अपरिमित गुण वाला पदार्थ भी एक दोष के कारण निन्दित हो जाता है, जैसे लशुन (लहसुन) समस्त रसायन द्रव्यों में श्रेष्ठ होकर भी उग्र गन्ध रूपी एक दोष के कारण निन्दित होता है ।

इस पद्य में—अपरिमित गुणों के होते हुए भी एक दोष के कारण निन्दा प्राप्त होती है—इस सामान्य अर्थ का कथन करने के अनन्तर पदार्थ सामान्य के एक अंश-लहसुन में रसायनराज होना आदि अपरिमित गुणों की सत्ता के रहते हुए भी उग्र गन्ध रूप एक दोष के कारण होने वाली निन्दा का कथन करते हुए उसके द्वारा सामान्य का समर्थन किया गया है । इस प्रकार यहाँ उदाहरण अलंकार है ।

सामान्य रूप से सामान्य द्वारा विशेष का कथन अथवा विशेष द्वारा सामान्य का समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार कहा जाता है । इसी प्रकार उदाहरण अलंकार

---

१. सामान्येननिरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्चमान उदाहरणम् ।

—रसगंगाधर, पृ० ४०९ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

में भी सामान्य का विशेष द्वारा समर्थन किया जाता है। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि उदाहरण अलंकार में समर्थ्य समर्थकभाव के अध्याहार की अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि 'इव' पद द्वारा उसका शब्दतः कथन हो जाता है, जबकि अर्थान्तरन्यास अलंकार में समर्थ्य समर्थक भाव बोधक किसी पद का प्रयोग न होने के कारण उसका अध्याहार करना पड़ता है। उदाहरण अलंकार में उपमावाचक इवादि पदों का प्रयोग होते हुए भी इसे उपमालंकार में अन्तर्हित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उपमालंकार में समर्थ्य-समर्थक भाव नहीं होता है, जबकि उदाहरण अलंकार का यह एक अनिवार्य तत्त्व है। इस अलंकार में समर्थ्य का समर्थन सादृश्य के आधार पर ही होता है तथा सादृश्य के कथन के लिये इवादि पदों का प्रयोग भी किया जाता है, अतः इसे वाक्य सादृश्यमूलक अलंकारों की श्रेणी में रखा गया है।

३. **तिरस्कार**—पण्डित जगन्नाथ के अनुसार दोष विशेष के सम्बन्ध से गुणत्वेन प्रसिद्ध किसी वस्तु से भी द्वेष करना तिरस्कार अलङ्कार कहलाता है।[१] यथा—

श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
मदभ्राम्यभृंगावलिमधुरसंगीतसुभगाः ।
निमग्नानां यासु द्रविणरसपर्याकुलहृदां-
सपर्या-सौकर्यं हरिचरणयोस्तमयते ।।[२]

मदमत्त गजसमूह के मद के लिये घूमती हुई भ्रमर पंक्ति के मधुर संगीत से सुन्दर वे सम्पत्तियाँ मुझे न प्राप्त हों, जिनमें डूबे हुए तथा धन-रस से व्याकुल मन वाले लोगों के लिये भगवान के चरणों की सेवा का सौविध्य समाप्त हो जाता है।

प्रस्तुत पद्य में भगवच्चरण की सेवा छूटने के भय से राज्य सुख का द्वेष वर्णित है अतः यहाँ तिरस्कार अलङ्कार है।

कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने उपर्युक्त पद्य को अनुज्ञा अलङ्कार के उद्धरण में उद्धृत किया है। इस सम्बन्ध में पण्डितराज का कथन हे कि वास्तव में यह तिरस्कार का उदाहरण है, किन्तु अप्पयदीक्षित ने तिरस्कार का कोई लक्षण नहीं दिया। अनुज्ञा और तिरस्कार परस्पर विरुद्ध अलङ्कार है तथा इनमें क्रमशः दोष और गुण रहते हुए भी प्रवृत्ति और निवृत्ति रहती है। सामान्यतः यह बात अनुचित प्रतीत होती है कि दोष में इच्छा और गुण में दोष हो किन्तु सूक्ष्मतया देखने पर यह विरोध समाप्त हो जाता है। संसार की सभी वस्तुएँ दोष तथा गुण से मिश्रित

१. दोषविशेषानुबन्धाद् गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषतिरस्कारः।
—रसगंगाधर द्वितीयानन पृ० ७४८।

२. द्रष्टव्य—वही, द्वितीयानन, पृ० ७४६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

होती है। अतः जिस वस्तु में गुण अधिक हों, उसमें दोष के रहते हुए भी गुण के कारण इच्छा होती है और जिसमें दोष अधिक होता है, उसमें गुण के रहते हुए भी दोष के कारण द्वेष होता है। अतः दोष और गुण के रहते हुए इच्छा और द्वेष के होने में कोई विरोध नहीं होता है। वस्तुतः वहाँ इच्छा और द्वेष का कारण गुणाधिक्य और दोषाधिक्य होता है।[1] तिरस्कार एक विरोधमूलक अलङ्कार है।

इस प्रकार भामह से लेकर जगन्नाथ पर्यन्त विभिन्न आलङ्कारिकों के द्वारा वर्णित अर्थालङ्कारों में से निम्नलिखित अलंकार सादृश्यमूलक कहे जा सकते हैं— १. उपमा २. उपमेयोपमा ३. उदाहरण ४. अनन्वय ५. असम ६. तिरस्कार ७. स्मरण ८. रूपक ९. परिणाम १०. सन्देह ११. भ्रान्तिमान् १२. उल्लेख १३. अपह्नुति १४. उत्प्रेक्षा १५. अतिशयोक्ति १६. तुल्ययोगिता १७. दीपक १८. आवृत्ति १९. कारक दीपक २०. प्रतिवस्तूपमा २१. दृष्टान्त २२. निदर्शना २३. व्यतिरेक २४. सहोक्ति २५. विनोक्ति २६. वक्रोक्ति २७. समासोक्ति २८. परिकर २९. परिकरांकुर ३०. विकस्वर ३१. श्लेष ३२. अप्रस्तुतप्रशंसा ३३ अर्थान्तरन्यास ३४. पर्यायोक्त ३५. व्याजस्तुति ३६. आक्षेप ३७. उपमारूपक ३८. उत्प्रेक्षावयव ३९. उभयन्यास ४०. निश्चय ४१. प्रस्तुतांकुर और ४२. अन्योक्ति। सम्प्रति इनका ऐतिहासिक परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

(क) वाच्यसादृश्यप्रधान अलङ्कार—

१. उपमालङ्कार—सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा सर्वप्रमुख है, इसे भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, अपितु व्याकरणशास्त्र के सर्वप्रमुख आचार्य पाणिनि ने उपमा अलंकार का अनेक प्रसंगों में उल्लेख किया है।[2] वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनों में भी उपमालंकार की यथास्थान चर्चा मिलती है।[3] निघण्टु के व्याख्याकार यास्क ने न केवल अपने ग्रन्थ में उपमालंकार का लक्षण किया है, अपितु पूर्ववर्ती गार्ग्य आदि द्वारा उसकी

---

१. एवं चेष्टानिष्टोभयसाधने दोषे गुणे च गुणेन दोषेण च मिश्रिते सहृदयानामिच्छाद्वेषयोरुचितैवोत्पत्तिः। —**रसगंगाधर**, द्वितीयानन पृ० ७५५। (संस्करण चौखम्बा)

२. (क) उपमानानि सामान्यवचनैः—**अष्टाध्यायी** २।१।५५।
(ख) तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्तरस्याम्।—वही २।३।७२।

३. (क) अतएव चोपमा सूर्य्यकादिवत्—**वेदान्तसूत्र** ३।२।१८, २।१।१३, २।१।२५, २।२।२६, २।२।४०, २।३।५, २।३।७, ३।२।१६, ३।२।३३, ३।२।३४, ३।३।७, ३।३।३०, ३।३।३६, ३।३।३७, ३।३।५७, ३।४।४७।
(ख) सांख्यदर्शन में सम्पूर्ण चतुर्थ अध्यायगत आख्यायिकाओं में प्रयुक्त उपमालंकार —४।१, ४।१५, ४।१६, ४।३१, ५।३, ५।४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

स्वीकृति का भी उल्लेख किया है।[1] इसका प्रयोग ऋग्वेद से आरम्भ होकर अब तक लगातार किया जा रहा है। कालिदास का तो यह सर्वप्रिय अलंकार रहा है।

२. **उपमेयोपमा अलङ्कार**—सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमेयोपमा भी अन्यतम अलंकार है। भामह, उद्भट, वामन, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने इसे स्वतन्त्र रूप से तथा दण्डी, रुद्रट ओर भोज ने उपमा के अवान्तर भेद के रूप में स्वीकार किया है।

३. **उदाहरण अलङ्कार**—इस अलकार को सर्वप्रथम शोभाकर मित्र ने तदनन्तर केवल पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वीकार किया है। इस अलंकार में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा उपमा वाचक शब्द—इन चार तत्वों के विद्यमान रहते हुए भी इसे उपमा अलंकार में समाहित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उपमा में समर्थ्य समर्थक भाव नहीं होता जबकि उदाहरण में सामान्य का विशेष द्वारा समर्थन अनिवार्य रूप से रहता है।

४. **अनन्वय अलङ्कार**—इस अलंकार को भामह, उद्भट, वामन, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है तथा दण्डी ने उपमा के उपभेद (अन्योन्योपमा) के रूप में मान्यता दी है।

५. **असम अलङ्कार**—असम अलंकार को सर्वप्रथम शोभाकर मित्र ने उद्भावित किया तदनन्तर केवल पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वीकार किया है। जगन्नाथ के अनुसार जिस प्रकार रूपक और दीपक अलंकार के उदाहरणों में उपमा के गम्य रूप से रहने पर भी उन स्थलों पर उपमालंकार का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता, उसी प्रकार अनन्वय अलंकार के उदाहरणों में गम्य रूप से उपमेय की समानता का अभाव रहने पर भी वहाँ असम अलंकार नहीं माना जाता, किन्तु अन्य स्थलों पर जहाँ समान का अभाव वाच्य होता है, वहाँ असम अलंकार स्वीकार किया जाता है।[2] समान के अभाव का कथन सादृश्य की मानसिक अनुभूति के बिना सम्भव नहीं होता, अतः समान का निषेध होते हुए भी इस अलंकार को सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा गया है।

---

१. (क) अथात उपमा। 'यदतत्तत्सदृशम्' इति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वोपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्।—**निघण्टु** ३।१३।

(ख) लुप्तोपमानानि अर्थोपमानानि इत्याचक्षते।—**निरुक्त** ३।४।१।

२. अयं चानन्वये तच्चमत्कारानुगुणतया रूपकदीपकादावुपमेव न पृथगलंकारव्यपदेशं भजते। वाच्यतायां तु स्वातन्त्र्येण चमत्कारितया पृथक्व्यपदेशभाक्।।—**रसगंगाधर**, पृ० ४००।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

६. स्मरण अलङ्कार—स्मरण अलंकार को सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने स्वीकार किया है। मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ ने 'स्मरण' नाम से तथा भोजराज, हेमचन्द्र, शोभाकरमित्र, जयदेव और अप्पयदीक्षित ने स्मृति नामान्तर से इसे स्वीकार किया है।

७. रूपक अलङ्कार—उपमा की भाँति रूपक अलंकार सादृश्य मूलक अलंकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसे भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी अलंकारिकों ने स्वीकार किया है। इसका प्रयोग ऋग्वेद से प्रारम्भ होकर आज तक प्रायः सभी कवियों द्वारा किया गया है।

८. परिणाम अलंकार—आचार्य रुय्यक ने सर्वप्रथम परिणाम अलंकार को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में मान्यता दी है। रुय्यक के उत्तरवर्ती शोभाकर, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि आलकारिकों ने भी इसे स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है। इसके विपरीत रुय्यक के पूर्ववर्ती, भामह, दण्डी, मम्मट आदि किसी भी आलंकारिक ने स्वतन्त्र रूप से परिणाम अलंकार को स्वीकार नहीं किया है।

९. सन्देह अलङ्कार—इस अलंकार को भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ आदि प्रायः सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। भामह, उद्भट ने 'ससन्देह' नाम से, रुद्रट, वाग्भट ने 'संशय' नाम से, भोज ने संशयोक्ति नाम से तथा मम्मट और रुय्यक ने 'सन्देह' नाम से इसे स्वीकार किया है। आचार्य दण्डी ने सन्देह अलंकार को स्वतन्त्र रूप से न मानकर उपमा के एक भेद—संशयोपमा के रूप में स्वीकार किया है।

१०. भ्रान्तिमान् अलङ्कार—(भ्रान्ति अलङ्कार) इस अलंकार की सर्वप्रथम उद्भावना आचार्य रुद्रट ने की है। मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ आलंकारिकों ने भ्रान्तिमान् नाम से तथा भोज, हेमचन्द्र और जयदेव आदि ने भ्रान्ति नाम से उनका अनुगमन किया है। भामह, उद्भट और वामन के सन्देहालंकार में इसका अन्तर्भाव किया जा सकता है। दण्डी ने इसे मोहोपमा[1] नामक उपमा के भेद के रूप में स्वीकार किया है।

११. उल्लेख अलङ्कार—इस अलंकार की सर्वप्रथम उद्भावना आचार्य रुय्यक ने की है। उनके उत्तरवर्ती, शोभाकर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने भी इसे स्वीकार किया है।

---

१. शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वांगि त्वन्मुखं त्वन्मुखाशया।
इन्दुमध्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता॥—काव्यादर्श २।२५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

१२. अपह्नुति अलङ्कार—अपह्नुति अलंकार सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, रूपक आदि की भाँति प्राचीनतर है। इसे भरत के अतिरिक्त शेष सभी आलंकारिकों ने स्वीकृति प्रदान की है।

१३. उत्प्रेक्षालङ्कार—इस अलंकार को भरत के अतिरिक्त सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। बाण के अनुसार दाक्षिणात्य कवियों में तो यह अलंकार अत्यन्त प्रिय रहा है।[1] महाकवि विल्हण का तो यह सर्वाधिक प्रिय अलंकार है।

१४. अतिशयोक्ति अलङ्कार—भरत को छोड़कर शेष सभी आलंकारिकों ने इसे मान्यता प्रदान की है। आचार्य भामह ने इसे समस्त वक्रतापूर्ण कथन (अलंकार प्रपंच) का मूल माना है।[2] आचार्य रुद्रट ने भी इसे वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार मूल अलंकारों में अन्यतम स्वीकार किया है।[3]

(ख) गम्यसादृश्यप्रधान अलङ्कार—

१५. तुल्ययोगिता अलङ्कार—भरत और रुद्रट के अतिरिक्त शेष भामह, दण्डी आदि सभी आलंकारिकों ने इसे स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया है।

१६. दीपक अलङ्कार—यह उपमा आदि प्राचीनतम अलंकारों में से एक है। इसे भरत, भामह, दण्डी आदि सभी आलंकारिकों ने निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है।

१७. आवृत्ति अलङ्कार—दीपक स्थानी आवृत्ति अलंकार को केवल दण्डी एवं अप्पयदीक्षित ने स्वीकार किया है।

१८. कारक दीपक अलङ्कार—इसे केवल अप्पयदीक्षित ने स्वीकार किया है। इस अलंकार को अन्य आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत दीपक अलंकार में समाहित किया जा सकता है।

१९. प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार—इस अलंकार को स्वतन्त्र रूप से सर्वप्रथम आचार्य उद्भट ने स्वीकार किया है। वामन, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने उनका अनुगमन किया है। आचार्य भामह और दण्डी ने इसको उपमा के उपभेद के

---

१. उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु········।—**हर्षचरितम्** १।७

२. **काव्यालङ्कार** (भामह) २।८५।

३. अर्थस्यालंकारा वास्तवमोपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥
—**काव्यालङ्कार** (रुद्रट) ७।९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

रूप में स्वीकार किया है,[1] तथा भोजराज ने इसे साम्य अलंकार के भेदों में प्रतिवस्तूक्ति नाम से अन्तर्भूत किया है।[2]

२०. **दृष्टान्त अलङ्कार**—इस अलंकार की उद्भावना सर्वप्रथम उद्भट ने की है। रुद्रट, मम्मट आदि उत्तरकालीन आचार्यों ने भी इसे स्वीकार किया है। भोजराज ने स्वतन्त्र रूप से इसकी गणना न करते हुए भी साम्य अलंकार के भेद दृष्टान्तोक्ति के प्रसंग में स्वीकार किया है। उनका कहना है कि दृष्टान्त और दाष्टान्तिक (उपमानोपमेय) का भिन्न वाक्यों में निर्देश होने पर दृष्टान्तालंकार एवं एक वाक्य में निर्देश होने पर दृष्टान्तोक्ति अलंकार होता है। इसी प्रकार साध्य धर्म की सिद्धि में दृष्टान्तालंकार और साधर्म्य की सिद्धि में दृष्टान्तोक्ति एवं इव आदि के प्रयोग के अभाव में दृष्टान्तालंकार और इवादि शब्दों के प्रयोग होने पर दृष्टान्तोक्ति अलंकार होता है। इसके अतिरिक्त दृष्टान्त अर्थालंकार है जबकि दृष्टान्तोक्ति शब्दालंकार है।[3]

२१. **निदर्शना अलङ्कार**—भामह और उनके परवर्ती दण्डी, उद्भट, वामन, कुन्तक, भोज, मम्मट, रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ, वाग्भट, द्वितीय, शोभाकर मित्र, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित और जगन्नाथ सभी आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि दण्डी, उद्भट, भोज और हेमचन्द आदि ने तो निदर्शन नाम से तथा शेष भामह, वामन, कुन्तक, मम्मट, रुय्यक आदि सभी ने निदर्शना नाम से मान्यता प्रदान की है।

२२. **व्यतिरेक अलङ्कार**—इस अलंकार को भामह और उनके उत्तरवर्ती, दण्डी, उद्भट रुद्रट आदि सभी आलंकारिकों ने मान्यता प्रदान की है।

---

१. (क) **काव्यालङ्कार** (भामह) २।३४। (ख) **काव्यादर्श** २।४६।

२. द्वयोर्यत्रोक्तिचातुर्यादौपम्यार्थोऽवगम्यते।
उपमारूपकान्यत्वे साम्यमित्यामनन्ति तत्॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण** ४।३४।

तदानन्त्येन भेदानामसंख्यं तस्य तूक्तयः।
दृष्टान्तोक्तिः प्रपंचोक्तिः प्रतिवस्तूक्तिरेव च॥—वही ४।३५।
वस्तु किञ्चिदुपन्यस्य न्यसनात्तत्सधर्मणः।
साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूक्तिरुच्यते॥—**सरस्वतीकण्ठाभरण** ४।३७।

३. अथ दृष्टान्तोक्तेर्दृष्टान्तालंकारस्य च को विशेषः उच्यते······दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्भिन्नेवाक्येनिर्देशो दृष्टान्तालंकारः, एकवाक्येनिर्देशो दृष्टान्तोक्तिः। साध्यधर्मसिद्धये दृष्टान्तालंकारः, साधर्म्यसिद्धये दृष्टान्तोक्तिः। इवाद्यप्रयोगे दृष्टान्तालंकारः, इवादिप्रयोगे तु दृष्टान्तोक्तिः।
—वही, पृ० ४३२–३३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

२३. **सहोक्ति अलङ्कार**—यह अलंकार भी व्यतिरेक अलंकार के समान प्राचीनतर अलंकार है। भरत के अतिरिक्त, भामह, दण्डी, रुद्रट आदि सभी आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है।

२४. **विनोक्ति अलङ्कार**—इस अलंकार की उद्भावना सर्वप्रथम मम्मट ने की है। रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि उत्तरकालीन सभी आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है।

२५. **वक्रोक्ति अलङ्कार**—वक्रोक्ति को अलंकारशास्त्र में विविध रूपों में स्वीकार किया गया है। आचार्य वामन द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति (सादृश्यमूलालक्षणा) सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में आती है। आचार्य भामह और कुन्तक ने वक्रतापूर्ण कथन को वक्रोक्ति नाम दिया है। भामह के अनुसार यह समस्त अलंकारों का बीज कहा जा सकता है।[1] एवं कुन्तक के मत में यह वक्रता चारुत्वाधायक समस्त काव्यतत्वों का मूल है। इनकी 'वक्रोक्ति', अलंकार न होकर काव्यजीवित स्वरूप है। आचार्य रुद्रट ने इसे 'व्रक्र' और 'वक्रोक्ति' दो रूपों में माना है। उनके अनुसार वक्र श्लेष प्रधान अर्थालंकार है और वक्रोक्ति केवल शब्दालंकार है। आचार्य मम्मट, शौद्धोदनि, वाग्भट तथा हेमचन्द्र आदि ने इसे अर्थालंकार के रूप में स्वीकार किया है। शब्दालंकार की स्थिति में (सादृश्य के अर्थगत होने के कारण) यह सादृश्यमूलक अलंकारों के क्षेत्र में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार अर्थालंकार की स्थिति में भी सादृश्य के गूढ़ रहने के कारण इसे सादृश्यमूलक अलंकारों की कोटि में रखना सम्भव नहीं है।

२६. **समासोक्ति अलङ्कार**—यह अलंकार भी प्राचीनतर अलंकारों में से अन्यतम है। भरत के अतिरिक्त भामह, दण्डी आदि सभी आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है। अर्थान्तर के गम्यमान होने से यह अलंकार ध्वनिवादी आचार्यों और कवियों को भी अत्यन्त प्रिय रहा है।

२७. **परिकर अलङ्कार**—इस अलंकार को सर्वप्रथम रुद्रट ने स्वीकार किया है। मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, विश्वनाथ आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी इसे मान्यता प्रदान की है, किन्तु कुन्तक, भोज, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि केशवमिश्र आदि ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

२८. **परिकरांकुर अलङ्कार**—इस अलंकार की सर्वप्रथम उद्भावना जयदेव ने की, तदनन्तर विद्याधर और अप्पयदीक्षित ने भी इसे मान्यता प्रदान की है।

२९. **विकस्वर अलङ्कार**—इस अलंकार को जयदेव के अतिरिक्त अन्य किसी आलंकारिक ने स्वीकार नहीं किया है।

३०. **श्लेष अलङ्कार**—श्लेष अलंकार शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों

---

१. काव्यालङ्कार (भामह), २।८५, पृ० ६२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

रूपों में स्वीकार किया गया है। इसे भामह और उनके उत्तरवर्ती दण्डी, रुद्रट, मम्मट आदि सभी आलंकारिकों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। अग्निपुराणकार तथा दण्डी ने श्लेषालंकार को गुणों के एक भेद के रूप में मान्यता दी है।[1] दण्डी के अनुसार यह श्लेष समस्त उक्तिवैचित्र्य (अलंकारों) का मूल है, अर्थात् उनकी शोभा को बढ़ाने वाला है।[2]

३१. अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार—इस अलंकार को भामह और उनके उत्तरवर्ती दण्डी, उद्भट और वामन आदि सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। रुद्रट और हेमचन्द्र ने इसे 'अन्योक्ति' नाम से मान्यता प्रदान की है।[3]

३२. अर्थान्तरन्यास अलंकार—भामह और उनके उत्तरवर्ती दण्डी, वामन आदि सभी आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है। अर्थगौरव की दृष्टि से काव्य में इसका अत्यधिक महत्व है। महाकवि भारवि का तो यह सर्वाधिक प्रिय अलंकार है।

३३. पर्यायोक्त अलंकार—रुद्रट, वामन और भोजराज के अतिरिक्त भामह और उनके परवर्ती दण्डी, उद्भट, मम्मट आदि सभी आलंकारिकों ने इसे मान्यता प्रदान की है।

३४. व्याजस्तुति अलंकार—इस अलंकार को रुद्रट, कुन्तक, भोज, शौद्धोदनि, वाग्भट और केशवमिश्र के अतिरिक्त भामह और उनके परवर्ती दण्डी आदि सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया है। व्याजस्तुति अलंकार की भाँति व्याजोक्ति अलंकार को स्वतन्त्र रूप से वामन, रुय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ एवं वाग्भट द्वितीय ने ही स्वीकार किया है। किन्तु वामन के अतिरिक्त अन्य किसी भी आलंकारिक ने इसे सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में समाहित नहीं किया है।

३५. आक्षेप अलंकार—उद्भट एवं शौद्धोदनि के अतिरिक्त भामह और

---

१. (क) श्लेषोलालित्यगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता।
सत्येव यौगिकी चेत्ति गुणाः शब्दस्य सप्तधा ॥
—**अग्निपुराण** ३४७।५ ॥

(ख) **काव्यादर्श** १।४१–४२, पृ० ३७

२. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ॥ —**वही** ३।३६३।

३. (क) असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति सा अन्योक्तिः ॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट) ८।७४।

(ख) सामान्यविशेषैकार्येकारणेप्रस्तुते तदन्यस्य तुल्येतुल्यस्य चोक्तिरन्योक्तिः ॥ —**काव्यानुशासन** (हेमचन्द्र) पृ० २५६ ॥

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उनके परवर्ती दण्डी, वामन, रुद्रट आदि सभी आलंकारिकों ने इसे मान्यता प्रदान की है।

३६. **उपमारूपक अलंकार**—इसे केवल भामह और दण्डी ने स्वीकार किया है, सम्भवतः परवर्ती आलंकारिकों ने इसमें उपमा और रूपक अलंकार दोनों के मिश्रण (संसृष्टि) को देखकर स्वतन्त्र रूप से इसकी गणना नहीं की, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

३७. **उत्प्रेक्षावयव अलंकार**—इसे केवल भामह ने स्वीकार किया है। परवर्ती आलंकारिकों ने उपमारूपक अलंकार की भांति इसे भी स्वतन्त्र रूप से मान्यता नहीं दी है।

३८. **उभयन्यास अलंकार**—इस अलंकार को केवल आचार्य रुद्रट और वाग्भट द्वितीय ने स्वीकार किया है, अन्य आलंकारिकों ने इसकी चर्चा नहीं की है। आचार्य रुद्रट ने इसे औपम्यगर्भित अलंकारों में स्थान दिया है, अतः यह सादृश्य-मूलक अलंकारों की कोटि में रखा जा सकता है।[1]

३९. **निश्चय अलंकार**—इसे केवल कविराज विश्वनाथ ने ही स्वीकार किया है। उनके परवर्ती किसी भी आलंकारिक ने इसे मान्यता नहीं दी है।

४०. **प्रस्तुतांकुर अलंकार**—इस अलंकार को केवल अप्पयदीक्षित नें ही स्वीकार किया है।

४१. **अन्योक्ति अलंकार**—इस अलंकार का उल्लेख सर्वप्रथम रुद्रट के काव्यालंकार में प्राप्त होता है।[2] हेमचन्द्र और वाग्भट द्वितीय ने भी इसे स्वीकार किया हैं। इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि वाग्भट द्वितीय का अन्योक्ति अलंकार रुद्रट के अन्योक्ति अलंकार से भिन्न है। वाग्भट के मत में—'कथित उपमेय से अन्य (उपमान) की प्रतीति होने पर अन्योक्ति अलंकार होता है,[3] जबकि रुद्रट के अनुसार—'चाहे उपमान के द्वारा उपमेय की प्रतीति हो अथवा उपमेय से अन्य (उपमान) की प्रतीति हो।[4] उपर्युक्त दोनों ही स्थितियों में उपमान और उपमेय के वाच्य अथवा गम्य रूप से रहने के कारण यह अलंकार सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग में रखा गया है।

---

१. **काव्यालंकार** (रुद्रट) ८।८५, पृ० २९०।
२. **वही** ८।७४, पृ० २८५।
३. उपमेयस्यैवोक्तो अन्यप्रतीतिरन्योक्तिः ॥
—**काव्यानुशासन** (वाग्भट) पृ० ३५।
४. असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः ॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट) ८।७४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अलंकार-योजना के सन्दर्भ में सादृश्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, यह सादृश्य चाहे वर्णगत हो अथवा पदगत या वस्तुगत। वर्णगत सादृश्य की दृष्टि से अनुप्रास आदि अलंकार और पदगत सादृश्य की दृष्टि से यमक, श्लेष आदि अलंकार काव्य में शोभा की अभिवृद्धि करते हैं। वस्तुगत सादृश्य की सत्ता उपमा आदि अलंकारों में रहती है। यह सादृश्य कहीं (उपमा आदि में) स्फुट रूप से वाच्य रहता है और कहीं (रूपक, उत्प्रेक्षा आदि में) अपेक्षाकृत अस्फुट होकर वाच्य रहता है ओर किन्हीं (दीपक, तुल्ययोगिता आदि) अलंकारों में वह गम्य रूप में रहा करता हूँ। इन विभिन्न स्थितियों में सादृश्य के विशिष्ट्य के कारण तत्-तत् अलंकारों में चारुत्व विशेष की अनुभूति होती है। इसके अतिरिक्त कुछ (विरोध, विभावना, विशेषोक्ति) अलंकारों में सादृश्य के अत्यन्त गूढ़ होने के कारण सादृश्यमूलक चारुत्व का अभव रहता है अथवा कहीं-कहीं (स्वभावोक्ति, रसवदादि) अलंकारों में सादृश्य का सर्वथा अभाव रहता है। यही कारण है कि इनकी गणना सादृश्यमूलक अलंकारवर्ग में नहीं की जाती।

सादृश्येतर अलंकारों का विवेचन पृथक् रूप से अग्रिम परिच्छेद में प्रस्तुत किया गया है।

———

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

सादृश्येतर (गूढार्थ प्रतीति मूलक) अर्थालङ्कार-
विरोधमूलक अलङ्कार

विरोध अलंकार (विरोधाभास अलंकार)—संस्कृत-अलंकारशास्त्र में प्रस्तुत अलंकार के दो नाम उपलब्ध होते हैं—विरोध तथा विरोधाभास। आरम्भ में भामह, दण्डी आदि ने विरोध नाम से ही इस अलंकार का स्वरूप-निरूपण किया था, किन्तु बाद में इसके लिये विरोधाभास संज्ञा का प्रयोग होने लगा। आचार्य मम्मट ने यद्यपि विरोध संज्ञा का ही प्रयोग किया है, तथापि उन्होंने लक्षण में यह भी संकेत कर दिया है कि इसे ही विरोधाभास भी कहते हैं। विरोधाभास का अर्थ है विरोध की झलक। इसमें आपाततः विरोध की प्रतीति होती है, वास्तविक विरोध नहीं होता। इस अलंकार के माध्यम से कवि दो पदार्थों के बाह्य वैषम्य को प्रदर्शित करता हुआ पाठकों के मन में कौतूहल का भाव उत्पन्न करता है। प्रथमतः दो पदार्थों में विरोध यथार्थ प्रतीत होता है किन्तु विषय-बोध के अन्तर वह विरोध शान्त हो जाता है।

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ किसी विशेषाभिधान के लिये किसी गुण अथवा क्रिया आदि का विरुद्ध क्रिया से वर्णन किया जाता है, वहाँ विरोध नामक अलंकार होता है।[1]

आचार्य दण्डी ने विरोध का लक्षण इस प्रकार दिया है—जहाँ विशेष का प्रतिपादन करने के लिये परस्परविरोधी पदार्थों के सान्निध्य का वर्णन किया जाता है, वहाँ विरोध नामक अलंकार माना जाता है।[2] इस प्रकार दण्डी के अनुसार विरुद्ध पदार्थों का संसर्गवर्णन वर्ण्य के उत्कर्ष-प्रदर्शन के लिये किया जाता है। दण्डी ने इस अलंकार के लक्षण में गुण ओर क्रिया के स्थान पर **'पदार्थानाम्'** पद का प्रयोग कर लक्षण को अधिक व्यापक बना दिया है। यथा क्रिया का क्रिया से, गुण का गुण से विरोध प्रदर्शित करने के बाद विषमविरोध, असंगतिविरोध और श्लेषमूलक विरोध के उद्धरणों को प्रस्तुत किया है। वस्तुतः सब भेद गुण और क्रिया

---

१. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा।
या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधा॥
—**काव्यालंकार** (भामह) ३।२५।

२. विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतो यथा॥ —**काव्यादर्श**, २।३३३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

के विरोध से ही सम्बद्ध हैं। इस अलंकार के अन्त में दण्डी ने स्पष्ट लिखा है कि इस प्रकार अनेक विकल्पों वाला यह विरोधालंकार सुशोभित होता है।[१]

अग्निपुराणकार के अनुसार—जहाँ परस्पर विरोधी वस्तुओं का विरोधात्मक रूप दिखाकर फिर युक्तिपूर्वक उनका संगत रूप दिखाया जाए, वहाँ विरोधालंकार होता है।[२]

उद्भटाचार्य ने भामह के लक्षण का अनुवाद मात्र कर दिया है। केवल अभिधा के स्थान पर वचः तथा इसीलिये 'य' के स्थान पर 'यद्' का प्रयोग किया है। उनके अनुसार जहाँ विशेषता का अभिधान करने के लिये गुण या क्रिया के विरुद्ध अन्य क्रिया का वर्णन किया जाता है, वहाँ विरोध अलंकार होता है।[३]

वामन ने विरोधालंकार की परिभाषा देते हुए कहा है कि विरोध का आभास ही विरोधालंकार है।[४]

रुद्रट ने विरोध का लक्षण इस प्रकार दिया है—जहाँ सर्वथा परस्पर विरोधी द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति का सहावस्थान होता है, वहाँ विरोध अलंकार होता है।[५] रुद्रट ने सजातीय विरोध के चार भेद तथा विजातीय विरोध के पाँच भेद स्वीकार कर सर्वप्रथम नौ भेद किये हैं।[६] इसके अतिरिक्त जिन दो सजातीय विरोधियों में से एक की अवश्यंभाविता निश्चित हो किन्तु ऐसे स्थान पर दोनों का अभाव वर्णन करना भी द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति-भेद से चार प्रकार का हो सकता है। इस प्रकार अभाव मूलक विरोध के भी चार भेद हो जाते हैं। रुद्रट-कृत विरोध के भेदों की संख्या तेरह हो जाती है।[७] स्पष्ट है कि रुद्रट ने विरोध के लक्षण

---

१. इत्यनेकप्रकारोऽयमलंकारः प्रतायते। —वही, २।३४०।

२. संगतीकरणं युक्त्या यद्संगच्छमानयोः।
विरोधपूर्वकत्वेन तद्विरोध इति स्मृतम्॥ —अग्निपुराणः, ३४४।२८।

३. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रिया वचः।
यद्विशेषाभिधानाय विरोधं तं प्रचक्षते॥
—काव्यालङ्कारसारसंग्रह, ५।६।

४. विरुद्धाभासत्वं विरोधः। —काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति, ४।३।१२।

५. यस्मिन् द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम्।
एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः॥
—काव्यालङ्कार (रुद्रट), ९।३०।

६. अस्य सजातीयानां विधीयमानस्य सन्ति चत्वारः।
भेदस्तन्नामानः, पञ्च त्वन्ये तदन्येषाम्॥ —वही, ३।३१।

७. यत्रावश्यम्भावी ययोः सजातीययोर्भवेदेकः।
एकत्र विरोधवतोस्तयोरभावोऽयमन्यस्तु॥ —वही, ३।३३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

में वामन द्वारा प्रतिपादित आभास की धारणा का त्याग कर यह मान्यता प्रकट की है कि इसमें एक समय एक ही आधार में परस्पर विरुद्ध द्रव्य, गुण क्रिया और जाति का अवस्थान वर्णित होता है।

भोजराज ने पदार्थों की परस्पर असंगति को ही विरोध माना है और असंगति, प्रत्यनीक, अधिक तथा विषम अलंकारों को इसी में अन्तर्निहित किया है।[१] इन अलंकारों को मिलाकर उन्होंने विरोध अलंकार के शुद्ध, ग्रथित, असंगति, प्रत्यनीक, अधिक और विषम रूप से छः भेद किये हैं।

मम्मटाचार्य ने विरोध अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की है—जहाँ विरोध न होने पर भी दो वस्तुओं का विरुद्धों के समान वर्णन किया जाता है, वहाँ विरोध नामक अलंकार होता है।[२] उन्होंने इसके दस भेद किये हैं—जाति का जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य चारों से विरोध होना, गुण का गुण, क्रिया और द्रव्य के साथ विरोध होना, क्रिया का क्रिया और द्रव्य के साथ विरोध होना तथा द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध होना।[३] इस प्रकार मम्मट ने रुद्रट द्वारा स्वीकृत विरोध अलंकार के नौ भेदों के स्थान पर दस भेद करके भी उनके अभावमूलक विरोध के चार भेदों को अस्वीकार कर दिया है।

राजानक रुय्यक ने विरोध का लक्षण विरुद्धाभासत्व किया है।[४] काव्यप्रकाशोक्त दस भेदों को स्वीकार करके भी उन्होंने केवल दो के उदाहरण दिये हैं—१. क्रिया का क्रिया से विरोध का तथा २. द्रव्य का क्रिया से विरोध का।[५] उदाहरण

---

१. (क) विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसंगतिः।
असङ्गतिः प्रत्यनीकमधिकं विषमश्च सः॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३।२४।

(ख) तेषु विरोधः शुद्धो ग्रथितश्च।
—वही, तृतीय परिच्छेदः, पृ० ३४०।

२. (क) विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।
—काव्यप्रकाश, १०।११०।

(ख) वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधानं स विरोधः।
—वही, १०।११०, वृत्ति।

३. जातिश्चतुर्भिजात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश॥
—वही, १०।११०–१११।

४. विरुद्धाभासत्वं विरोधः। —अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र ४०।

५. तत्र जातिविरोधस्य जात्यादिभिः सह चत्वारो भेदाः। गुणस्य गुणादिभिः सह त्रयः। क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां सह द्वौ भेदौ। द्रव्यस्य द्रव्येण सहैकः। तदेवं दश विरोधभेदाः। —वही, सूत्र–४०, वृत्ति, पृ० २२६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

के सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत दे दिया है कि इनका दिङ्मात्रेण उदाहरण प्रस्तुत है।[1]

शोभाकरमित्र ने विरोधाभास को ही विरोध कहा है[2] और इसके इक्कीस भेदों की गणना कर इसके स्वरूप का विस्तार किया है।[3]

पीयूष वर्ष जयदेव ने विरोध और विरोधाभास ये दो पृथक् अलंकार माने हैं। उन्होंने गुण, द्रव्य, क्रिया, जाति के विरोध को विरोध अलंकार और श्लेषादि मूलक विरोध को विरोधाभास अलंकार माना है।[4] विद्याधर[5], प्रतापरुद्रयशोभूषण-कार विद्यानाथ[6] एवं साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार विरोध के आभास में विरोध अलंकार होता है, जिसे इन दश रूपों में देखा जा सकता है—जाति का जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य चारों से विरोध गुण का गुण, क्रिया और द्रव्य इन तीन के साथ विरोध क्रिया का क्रिया और द्रव्य इन दो के साथ विरोध और द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध होना।[7] विश्वनाथ ने **काव्यप्रकाश** में वर्णित उपर्युक्त दस भेदों के उद्धरण देकर विभावना और विशेषोक्ति से विरोध का पृथकत्व दिखाया है। इन्होंने किसी नवीन तथ्य का उल्लेख नहीं किया है। इन पर मम्मट एवं रुय्यक का प्रभाव है।

---

१. तत्र दिङ्मात्रेणोदाहरणम्। —**अलंकारसर्वस्व**, पृ० २२६।

२. विरुद्धाभासत्वं विरोधः। —**अलङ्कार रत्नाकर**–५२।

३. जातिगुणक्रियाधर्ममात्रद्रव्याभवानां सजातीयेन विजातीयेन वा विरुद्धेन सम्बन्धे यत्रामुखावभासमानतया परस्पर विरोध इव पर्यवसाने समाधाना-द्विरोधाभासः स विरोधालङ्कारः। अस्य जातिर्जात्यादिभिष्षड्भिरेवं गुणस्य पञ्चभिः क्रियायाश्चतुर्भिः धर्ममात्रस्य त्रिभिः द्रव्यस्य द्रव्या-भावाभ्यां द्वाभ्यामभावस्य चाभावेन सह विरोधादित्येकविंशतिभेदाः।
—वही, वृत्ति ५२।

४. (क) विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुणद्रव्यक्रियादिषु। —**चन्द्रालोक**, ५।७४।
(ख) श्लेषादिभूर्विरोधश्चेद्विरोधाभासता मता। —वही, ५।७५।

५. विलसति विरोधगर्भं ब्रूमोऽलङ्कारवर्गमधुना तु।
स्फुरति विरोधाभासे भवति विरोधाभिधो दशधा॥
—**एकावली**, ८।३३।

६. आभासत्वे विरोधस्य विरोधालंकृतिर्मता।
—**प्रतापरुद्रयशोभूषण**, पृ० ३००।

७. जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः।
—**साहित्यदर्पण**, १०।६७
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः।
विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः॥ —वही, १०।६८

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ दो उक्तियों में आपाततः विरोध दृष्टिगोचर हो, वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है।[1] उन्होंने श्लेषमूलक तथा उत्प्रेक्षा मूलक विरोधाभास के दो उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने विरोध अलंकार का लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है—एक ही अधिकरण से सम्बन्ध रखने वाले दो अर्थों का जब एक ही अधिकरण से असम्बन्धित होना प्रतीत हो, तो विरोध होता है। अथवा जहाँ एक स्थान से असम्बद्ध रूप से प्रसिद्ध दो पदार्थों का एक ही अधिकरण से सम्बद्ध रूप में प्रतिपादन किया जाये, तो भी विरोध होता है।[2]

विरोध दो प्रकार का होता है—प्ररूढ़ और अप्ररूढ़। जो विरोध बाध-ज्ञान से समाप्त नहीं होता, वह प्ररूढ़ कहलाता है और जो बाध-बुद्धि से समाप्त हो जाता है, वह अप्ररूढ़ विरोध होता है। प्ररूढ़ विरोध दोष का विषय होता है और अप्ररूढ़ विरोध अलंकार का स्थल होता है। जब विरोध की प्रतीति पार्यन्तिक न होकर प्रातिभासिक हो, तो विरोध का आभास मात्र होता है। यह विरोधाभास (आपाततः होने वाली विरोध की प्रतीति) अग्रिम क्षण में उत्पन्न होने वाली अविरोध-बुद्धि से समाप्त हो जाता है। क्योंकि किञ्चिद् भासित होना ही आभास है। चूँकि विरोध-बोध कालान्तर में समाप्त हो जाता है, इसलिये विरोध को विरोधाभास भी कहते हैं। यही विरोध यदि कार्यकारणभाव से युक्त होता है तो विभावना, विशेषोक्ति अलंकार का विषय बन जाता है, इसके विपरीत कार्यकारण-भाव से रहित विरोधाभास के रहने पर वह विरोधालंकार होगा।[3]

मम्मटोक्त विरोधालंकार के दस भेदों का प्रतिपादन करने के पश्चात् स्वमत का उल्लेख करते हुए जगन्नाथ ने कहा है कि वास्तव में जाति आदि के कारण होने

---

१. अभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते। —कुवलयानन्द–७६।

२. एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानंकाधिकरणासम्बद्धत्वम्, एकाधिकरणसंबद्धत्वभानं वा विरोधः। यद्वा एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रसिद्धयोरेकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादनं सः।

—रसगङ्गाधर, द्वितीयानन–पृ० ४११।

३. स च प्ररूढोऽप्ररुढश्च। प्ररोहश्च बाधवुद्ध्यनभिभूतत्वम्। तद्वैपरीत्यमप्ररोहः। तत्राद्यो दोषस्य विषयः, द्वितीयश्चालङ्कारस्य। अत एवेम विरोधाभासमाचक्षते। आ ईषद् भासते इत्याभासः। विरोधश्चासावाभासश्चेति। आमुख एव प्रतीयमानो झटिति जायमाना विरोध-बुद्धि-तिरस्कृत इति यावत्। तत्रापि कार्यकारणादिबुद्धयनालीढो विरोधाभासो विरोधालङ्कारः। तदालीढस्तु विभावनादिर्वक्ष्यमाणः।

—वही, द्वितीयानन, पृ० ४१२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

वाले भेदों में कोई चमत्कार नहीं है, अतः उन भेदों को मानना निरर्थक है। विरोधालंकार के दो ही भेद चमत्कारी होते हैं—१. एक शुद्ध (श्लेष रहित) और २. श्लेषमूलक ।[1]

पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का विश्लेषण करने के अनन्तर स्वमत का प्रतिपादन करते हुए जगन्नाथ ने स्पष्ट कहा है कि प्राचीनों के अनुसार अन्वय-बोध के पश्चात् विरोध-बोध पूर्णतया समाप्त हो जाता है और नवीनों के अनुसार न तो पूर्णतः समाप्त ही होता है और न अन्त तक दृढ़ ही बना रहता है ।[2]

भामह, दण्डी तथा उद्भट की विरोध अलंकार के लक्षणों में विरुद्ध गुण, क्रिया आदि की योजना का तो स्पष्ट शब्दों में उल्लेख हुआ है किन्तु यह स्पष्टतः उल्लिखित नहीं है कि विरोध तात्त्विक नहीं, प्रातिभासिक होता है। तथापि भामह दण्डी आदि की विरोध-परिभाषाओं में यह आभास का भाव निहित अवश्य था जो 'विशेषाभिधानाय' तथा विरोधदर्शनायैव' से व्यक्त होता है। वामन ने स्पष्ट शब्दों में इसका संकेत किया है किन्तु आचार्य रुद्रट ने विरोध के लक्षण में आभास की धारणा को अस्वीकार कर दिया है। मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों में वामन की विरोध-धारणा ही अधिक मान्य हुई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विरोध अलंकार के सम्बन्ध में दो विचारधारायें प्रचलित रही हैं—वामन द्वारा प्रतिपादित जिसमें विरोध के आभास को ही विरोध अलंकार माना गया है और दूसरी रुद्रट द्वारा प्रणीत जिसमें प्रातिभासिक विरोध की योजना की धारणा को अस्वीकार कर दिया गया है।

विभावना अलंकार—विभावना एक विरोधमूलक अलंकार है। कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का वर्णन इसकी विशेषता है। विभावना का अर्थ है—विशेष प्रकार की भावना (कल्पना)। इसमें कारणाभाव में कार्योत्पत्ति का वर्णन होने से विशेष प्रकार की कल्पना की जाती है। आचार्य भामह ने विभावना अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—जहाँ क्रिया का निषेध होने पर भी उस क्रिया के फल का प्रकट होना वर्णित किया जाता है, वहाँ विभावना अलंकार होता है।[3]

दण्डी के अनुसार जहाँ किसी कार्य के लोक प्रसिद्ध कारण का अभाव दिखा-

---

१. वस्तुतो जात्यादिभेदानामहृद्यत्वाच्छुद्धत्वश्लेषमूलत्वाभ्यां द्विविधो ज्ञेयः ।
—**रसगङ्गाधर**, द्वितीयानन, पृ० ४१८ ।

२. तस्माद्विरोधधियो नातीव शिथिलमूलत्वम्, नापि चात्यन्तिकी निवृत्तिः' इत्याहुः ।
—**वही**, द्वितीयानन, पृ० ४१९ ।

३. क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ॥
—**काव्यालङ्कार**, (भामह), २।७७ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कर उस कार्य के प्रति किसी अन्य कारण की कल्पना की जाए अथवा उस कार्य की स्वभावसिद्धता की कल्पना की जाये, वहाँ विभावना अलंकार होता है।[१] इस प्रकार दण्डी ने अपने लक्षण में विभावना के दो भेद संकेतित किये हैं—कारणान्तर विभावना और स्वाभाविक विभावना। पुनः स्वाभाविक विभावना के अर्थ प्राप्त और शाब्द रूप से दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार दण्डी ने चार उदाहरण दिये हैं।[२] दण्डी ने विभावना के तीन तत्त्वों का संकेत किया है—(१) प्रसिद्ध कारण का अभाव, (२) कारणान्तर की कल्पना और (३) अन्य कारण की स्वभावतः सिद्धि। अग्निपुराणकार ने दण्डीकृत लक्षण को ही उद्धृत कर दिया है।[३]

उद्भटाचार्य ने भामह-कृत विभावनालंकार के लक्षण को ही शब्दतः उद्धृत कर दिया है।[४]

वामन ने भामह-द्वारा कल्पित विभावना अलंकार की परिभाषा को सूत्रवद्ध करते हुए कहा है कि क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी उस क्रिया के प्रसिद्ध फल की उत्पत्ति का वर्णन विभावना है।[५] रुद्रट ने विभावना अलंकार को अतिशय वर्ग के अन्तर्गत समाहित किया है। उन्होंने इसके तीन भेद स्वीकार किये हैं—

१. जहाँ उपलभ्यमान अर्थ का उसके वास्तविक कारण के बिना होना कहा जाए, वहाँ प्रथम प्रकार की विभावना होती है।[६]

२. जहाँ जिस कारण से वस्तु में विकार हो, उस कारण के बिना ही विकार का होना कहा जाए, वहाँ अन्य प्रकार की विभावना होती है।[७]

---

१. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित् कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना॥
—काव्यादर्श, २।१९९।

२. द्रष्टव्य—वही, २।२००–२०४।

३. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित्कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना॥
—अग्निपुराण, ३४४।२८।

४. द्रष्टव्य—उद्भट—काव्यालङ्कारसारसंग्रह, २।१९।

५. क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना।
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ४।३।१३।

६. सेयं विभावनाख्या यस्यामुपलभ्यमानमभिधेयम्।
अभिधीयते यतः स्यात्तत्कारणमन्तरेणैव॥
—काव्यालङ्कार (रुद्रट), ९।१६।

७. यस्यां तथा विकारस्तत्कारणमन्तरेण सुव्यक्तः।
प्रभवति वस्तुविशेषे विभावना सेयमन्या तु॥ —वही, ९।१८

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

३. जहाँ वस्तु-विशेष का जो धर्म लोक-प्रसिद्ध है, उस धर्म को उस वस्तु से भिन्न वस्तु का भी धर्म बताया जाए, वहाँ विभावना का तीसरा भेद स्वीकार किया गया है।[1]

उपर्युक्त तीनों भेदों में से प्रथम तथा द्वितीय भेद का स्वरूप मिलता-जुलता ही है। प्रसिद्ध हेतु के बिना कार्योत्पत्ति तथा प्रसिद्ध विकार-हेतु के बिना विकारोत्पत्ति की पृथक्-पृथक् कल्पना आवश्यक नहीं प्रतीत होती है। हाँ, तृतीय भेद की कल्पना कुछ नवीन कही जा सकती है, तथापि इसमें भी मूलतः वास्तविक कारण का निषेध कर उस कारण के धर्म को अन्यत्र बताकर उस अन्य कारण से कार्योत्पत्ति पर बल दिया गया है। अतः इस भेद का भी समावेश कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति इस परिभाषा में ही किया जा सकता है।

कुन्तक ने विभावना के लक्षण के प्रसंग में भामह आदि आचार्यों की मान्यता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ किसी विशेषता के कारण सौन्दर्य की सिद्धि के लिये वर्णनीय कार्य रूप वस्तु का अपने कारण के बिना ही होना वर्णित हो, वहाँ विभावना अलङ्कार होता है।[2]

भोजराज ने आचार्य दण्डी के विभावनालङ्कार के लक्षण को ही उद्धृत कर दिया है।[3] उन्होंने प्रथमतः विभावना के दो भेद किये हैं—१. कारणान्तर विभावना और २. स्वाभाविक विभावना। फिर उन्होंने शुद्धा, चित्रा और विचित्रा रूप से प्रत्येक के तीन-तीन भेद और किये हैं। इस प्रकार उनके अनुसार विभावना के छः उपभेद हो जाते हैं।[4]

आचार्य मम्मट ने भामह के लक्षण को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ कारणभूत क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी फल के प्रकट होने का वर्णन किया

---

१. यस्य यथात्वं लोके प्रसिद्धमर्थस्य विद्यते तस्मात्।
अन्यस्यापि तथात्वं यस्यामुच्येत सान्येयम्॥
—काव्यालङ्कार (रुद्रट), ९।२०।

२. वर्णनीयस्य केनापि विशेषेण विभावना।
स्वकारणपरित्यागपूर्वकं कान्तिसिद्धये॥ —वक्रोक्तिजीवित, ३।४१।

३. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित्कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकं वापि विभाव्यं सा विभावना॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३।९।

४. शुद्धा चित्रा विचित्रा च विविधा सा निगद्यते।
शुद्धा यत्रैकमुद्दिश्य हेतुरेको निवर्तते॥
अनेको यत्र सा चित्रा विचित्रा यत्र तां प्रति।
तदान्यया वा गीर्भङ्ग्या विशेषः कश्चिदुच्यते॥ —वही, ३।१०–११

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

जाता है, वहाँ विभावनालङ्कार होता है।[१]

राजानक रुय्यक ने कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का वर्णन विभावना का लक्षण स्वीकार किया है।[२] उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है—चूंकि कारण का कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक नियत है, अत: कारण के बिना कार्य का होना सम्भव नहीं है। किन्तु यदि किसी भंगिमा से कार्योत्पत्ति बता दी जाती है, तो विभावना नामक अलङ्कार होता है। विशिष्ट रूप में कार्य का भावन होने से इस अलङ्कार को विभावना अलङ्कार कहा जाता है।[३] इस प्रकार रुय्यक के अनुसार प्रसिद्ध कारण का प्रतिषेध कर अन्य अप्रसिद्ध कारण आदि से कार्योत्पत्ति दिखाने पर विभावना अलङ्कार होता है। रुय्यक की विभावना धारणा दण्डी की धारणा से अभिन्न सी प्रतीत होती है। इन्होंने विभावना के उक्तनिमित्ता विभावना और अनुक्तनिमित्ता विभावना रूप से दो भेद किये हैं और उनके उद्धरण दिये हैं।[४]

शोभाकार मित्र के अनुसार हेतु के अभाव में फलोत्पत्ति होने पर विभावना अलङ्कार होता है।[५] उन्होंने प्रथमत: इसके दो भेद किये हैं—उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता फिर अनुक्तत के दो भेद किये हैं—चिन्त्य एवं अचिन्त्य निमित्ता। इस प्रकार कुल तीन भेद माने हैं। पीयूषवर्ष जयदेव के अनुसार यदि कारण के बिना भी कार्य का जन्म हो जाए, तो विभावना होती है।[६]

विद्याधर तथा विद्यानाथ-कृत विभावना अङ्कार के लक्षण पर रुय्यक का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है।[७]

विश्वनाथ के अनुसार हेतु (कारण) के बिना कार्योत्पत्ति का कथन करना

---

१. क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना। —काव्यप्रकाश, १०।१०७

२. कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना। —अलङ्कारसर्वस्व–सूत्र ४१।

३. इह कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानात्कार्यस्य कारणमन्तरेणासंभवः। अन्यथा विरोधो दुष्परिहरः स्यात्। यदा तु 'कयाचिद्भङ्ग्या तथाभाव उपनिबध्यते, तदा विभावनाख्योऽलङ्कारः। विशिष्टतया कार्यस्य भावनात्। सा च शङ्किविशिष्टकारणाभावोपनिबद्धा।
—वही, वृत्ति, सूत्र–४१।

४. इयं च······उक्तानुक्तनिमित्तभेदाद् द्विवैव।
—वही: वृत्ति, सूत्र ४१, पृ० २३२।

५. हेत्वभावे फलोत्पत्तिर्विभावना॥ —अलङ्काररत्नाकर–५३।

६. विभावना विनापि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत्। —चन्द्रालोक, ५।७७।

७. (क) असति प्रसिद्धहेतौ कार्योत्पत्तिर्विभावना भवति।
—एकावली, पृ० २८९।

(ख) कारणेन बिना कार्यस्योत्पत्तिर्निगद्यते सा विभावना।
—प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ३०५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विभावनालङ्कार कहा जाता है। यह उक्त-अनुक्त निमित्त रूप से दो प्रकार का होता है।[1]

अप्पयदीक्षित ने प्रथमतः जयदेव के ही लक्षण एवं उदाहरण को उद्धृत किया है। तदनन्तर पाँच भेद और किये हैं। उनके अनुसार बिना कारण के कार्योत्पत्ति दिखाना विभावना का प्रथम रूप,[2] अपूर्ण हेतु से कार्योत्पत्ति दिखाना उसका दूसरा रूप[3], प्रतिबन्धक के रहने पर कार्योत्पत्ति दिखाना उसका तीसरा रूप,[4] प्रसिद्ध कारण से भिन्न वस्तु—अकारण—से भी कार्योत्पत्ति दिखाना उसका चौथा रूप,[5] विरुद्ध कारण से कार्योत्पत्ति दिखाना उसका पाँचवा रूप[6] और कार्य से कारण का जन्म उसका छठा रूप है।[7] उपर्युक्त समस्त प्रकारों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि सबके मूल में प्रसिद्ध कारण का अभाव है। इस प्रकार कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति को विभावना का लक्षण मानकर उसके अन्य भेदों की कल्पना की जा सकती है।

रसगंगाधरकार जगन्नाथ के अनुसार जहाँ कारण के व्यतिरेक (अभाव) के होने पर भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाता है, वहाँ विभावना अलंकार होता है।[8] अपने लक्षण के समर्थन में मम्मटाचार्य कृत लक्षण को उद्धृत करते हुए पण्डितराज ने कहा है कि मम्मट ने भी क्रिया के निषेध रहने पर भी कार्योत्पत्ति को विभावना कहा है। इसमें क्रिया का अर्थ कारण है। विभावना में कारण के अभाव में भी जो कार्योत्पत्ति वर्णित होती है, उसमें यद्यपि आपाततः विरोध भासित होता है, तथापि कारणान्तर की कल्पना कर लेने से वह विरोध समाप्त हो जाता है।[9] पण्डितराज ने विभावना के दो भेद स्वीकार किये हैं—१. उक्तनिमित्ता और

---

१. विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता ॥
—साहित्यदर्पण, १०।६६।

२. विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्। —कुवलयानन्द–७७।

३. हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता। —वही, ७८।

४. कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात् सत्यपि प्रतिबन्धके। —वही–७९।

५. अकारणात् कार्यजन्म चतुर्थी स्याद्विभावना। —वही, ८०।

६. विरुद्धात् कार्यसम्पत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना। —कुवलयानन्द ८१।

७. कार्यात् कारणजन्मापि दृष्टा काचिद्विभावना। —वही ८२।

८. कारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिर्विभावना।
—रसगंगाधर, द्वितीयानन, पृ० ४३३।

९. अत्र कारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येन कार्योत्पत्तौ निबध्यमानायामापाततो विरोधः प्रतिभासमानोऽपि तदितरकारणकल्पनया निवर्तते।
—वही, द्वितीयानन पृ० ४३३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

२. अनुक्तनिमित्ता।[१] इन्होंने अप्पयदीक्षित कृत विभावना के भेदों का खण्डन किया है। विभावना के सामान्य लक्षण में पण्डितराज का मत कोई वैशिष्ट्य नहीं रखता, किन्तु विभावना की स्थिति का जो विश्लेषण उन्होंने किया है, वह उनकी विशेष देन है। विभावना में कार्यांश में अतिशयोक्ति का अनुप्राणन रुय्यक ने प्रदर्शित किया था, किन्तु पण्डितराज ने कहा है कि विभावना में सर्वत्र अतिशयोक्ति अनुप्राणिका होती है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि आहार्या अभेदबुद्धि मात्र विभावना की पोषिका होती है। वह अभेद बुद्धि कहीं श्लेष, रूपक अथवा अतिशयोक्ति में से किसी के भी साथ हो सकती है।[२]

आचार्य विश्वेश्वर रुय्यक तथा पण्डितराज जगन्नाथ से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इनके अनुसार भी जहाँ हेतु के बिना कार्योत्पत्ति का वर्णन होता है, वहाँ विभावना अलंकार होता है। इन्होंने रुय्यक की भाँति विभावना की अतिशयोक्तिमूलकता स्वीकार की है।[३]

निष्कर्ष यह है कि प्रसिद्ध कारण के बिना कार्योत्पत्ति के वर्णन में विभावना अलंकार मानने में प्रायः सभी आचार्य एकमत रहे हैं। इसके भेदों में मुख्य रूप से उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता—ये दो भेद ही सर्वमान्य रहे हैं।

विशेषोक्ति—विशेषोक्ति एक विरोधमूलक अलंकार है। इसका अर्थ है विशेष प्रकार की उक्ति। इसमें सामान्य कथन के विपरीत भाव देखा जाता है। सामान्य कथन यह है कि कारण के विद्यमान रहने पर कार्योत्पत्ति होती है किन्तु विशेषोक्ति में कारण के होते हुए भी कार्यानुत्पत्ति में विशेष प्रकार का कथन किया जाता है। विशेषोक्ति विभावना का विपर्यय रूप स्वीकार की गई है। आचार्य भामह ने विशेषोक्ति अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—जहाँ विशेषता प्रदर्शित करने के लिये वस्तु के एक देश (भाग, गुण) के विगत होने पर उसमें दूसरे गुण का स्थिर

---

१. इयं च विभावना द्विविधा—उक्तनिमित्तानुक्तनिमित्ता च।
—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन पृ० ४४६।

२. उच्यते—मा स्म भूत्सर्वत्र विभावनायामतिशयोक्तिरनुप्राणिका। आहार्याभेदबुद्धिमात्रमेवानुप्राणकम्। तच्च क्वचिदतिशयोक्त्या, क्वचिच्च रूपकेणेति न दोषः। —**वही**, द्वितीयानन, पृ० ४३८।

३. (क) हेतुं विनापि कार्यं यत्रोक्तं स्याद् विभावना सा तु।
—**अलंकारकौस्तुभ**।

(ख) द्रष्टव्य—**वही**, पृ० ३११।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

रहना दिखाया जाए, वहाँ विशेषोक्ति होती है।[1] भामह कृत यह लक्षण तो परवर्ती आचार्यों में मान्यता प्राप्त नहीं कर सका, किन्तु उन्होंने इसका जो उदाहरण दिया, उसे परवर्ती आचार्यों ने विशेषोक्ति के उदाहरण के रूप में ही स्वीकार किया है।[2]

आचार्य दण्डी ने विशेषोक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है–जहाँ कार्योत्पत्ति रूप विशेष का प्रतिपादन करने के लिए जाति, गुण क्रिया आदि (अर्थात् द्रव्य) की विकलता दिखाई जाए, वहाँ विशेषोक्ति होती है।[3] परवर्ती आचार्यों ने असमग्र या विकल हेतु से कार्योत्पत्ति दिखाना, विभावना का ही एक रूप स्वीकार किया है। दण्डी का यह विशेषोक्ति-लक्षण बहुमान्य नहीं हुआ है। आचार्य दण्डी ने पाँच भेदों के उदाहरण दिये हैं—१. गुणवैकल्यविशेषोक्ति २. जातिवैकल्यविशेषोक्ति ३. क्रियावैकल्यविशेषक्ति ४. द्रव्यवैकल्यविशेषोक्ति और ५. हेतुवैकल्यविशेषोक्ति।[4]

दण्डी के अनन्तर अन्य किसी आचार्य ने इस अलंकार में गुण, जाति, क्रिया और द्रव्य भेद नहीं माने, किन्तु उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति रूप इन दोनों भेदों का जन्म दण्डी के हेतु वैकल्यविशेषोक्ति भेद से ही हुआ है, यह कहना असमीचीन न होगा।

अग्निपुराणकार ने विशेषोक्ति अलंकार के सम्बन्ध में दण्डी-कृत लक्षण को ही स्वीकार कर उद्धृत कर दिया है।[5]

आचार्य उद्भट ने सर्वप्रथम विभावना के विपर्यय रूप में विशेषोक्ति की परिकल्पना कर उसकी परिभाषा इस प्रकार की है—जहाँ विशेष का बोध कराने की इच्छा से पूर्ण कारण (शक्तियों की समग्रता) के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन होता है, उसे विशेषोक्ति कहा जाता है।[6] टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने

---

१. एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा॥
—**काव्यालंकार**, (भामह) ३।२३।

२. स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्॥ —**वही**, ३।२४।

३. गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते॥ —**काव्यादर्श**, २।३२३।

४. द्रष्टव्य—**काव्यादर्श**, २।३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९।

५. **अग्निपुराण**, ३४४।२६।

६. यत् सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम्।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद् विशेषोक्तिरुच्यते॥
—**काव्यालंकारसारसंग्रह**, ५।५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

'कारणसामग्र्येऽपि यत् कार्यं नोत्पद्यते' लिखकर लक्षण को अधिक स्पष्ट कर दिया है। उद्‌भट कृत लक्षण ही अधिकांश परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकार किया गया है।

वामन ने सभी अलंकारों को औपन्यमूलक माना है, इसलिये विशेषोक्ति में भी प्रस्तुत-अप्रस्तुत की समता की कल्पना करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार दी है— "एक गुण की हानि की कल्पना करने पर शेष गुणों से प्रस्तुत-अप्रस्तुत की समता का निर्धारण विशेषोक्ति कही जाती है। उन्होंने प्रायशः इसे रूपक कहा है।"[१] यहाँ स्मरणीय है कि आचार्य वामन की दृष्टि में रूपक से विशेषोक्ति का विशिष्ट स्वरूप नहीं था। परवर्ती आचार्य रुय्यक तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने वामन स्वीकृत विशेषोक्ति को रूपक में ही समाहित सिद्ध किया है।

आचार्य रुद्रट, कुन्तक, वाग्भट (दोनों), हेमचन्द्र आदि ने विशेषोक्ति अलङ्कार का उल्लेख नहीं किया है। कुन्तक का मत है कि भामह—प्रणीत विशेषोक्ति कहीं-कहीं अन्य अलङ्कार में अन्तर्भुक्त हो जाती है और कहीं वह अलङ्कार्य ही हो जाती है, इस कारण वह स्वतन्त्र अलङ्ककार नहीं है। आचार्य रुद्रट ने व्याघात का स्वरूप वर्णन करते हुए उसे उद्‌भट की विशेषोक्ति के समान स्वरूप वाला बना दिया, इस कारण उन्हें व्याघात से स्वतन्त्र विशेषोक्ति की कल्पना आवश्यक नहीं प्रतीत हुई।

भोजराज ने दण्डी की विशेषोक्ति की परिभाषा एवं उदाहरणों को ही उद्धृत कर दिया है।[२]

आचार्य मम्मट, रुय्यक शोभाकर, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने उद्‌भट की विशेषोक्ति सम्बन्धी धारणा को ही मान्यता प्रदान की है। ये सब आचार्य प्रसिद्ध कारणों के समग्र रूप में रहने पर भी कार्यानुत्पत्ति का वर्णन होने पर विशेषोक्ति स्वीकार करते हैं।

---

१. एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः।
... ...रूपकं चेदं प्रायेण।।
—काव्यालंकारसूत्र, ४।३।२३ तथा वृत्ति, पृ० २६४।

२. (क) गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते।।
प्रत्येव्येऽभिधेये च सा विशेषस्य कारणे।
वैकल्यादर्शनेनापि क्वचिदप्युपपद्यते।।
—सरस्वतीकण्ठाभरण ४।७०–७१।

(ख) द्रष्टव्य—वही, ४।१६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

मम्मट के अनुसार जहाँ प्रसिद्ध अखण्ड (पूर्ण) कारणों के होने पर भी कार्य (फल) का कथन नहीं किया जाता है, वहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार होता है।[1] उन्होंने इसके तीन भेद माने हैं—१. अनुक्तनिमित्ता २. उक्तनिमित्ता तथा ३. अचिन्त्य-निमित्ता।

रुय्यक के अनुसार कारण की समग्रता होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होना विशेषोक्ति है।[2] यह दो प्रकार की होती है उक्तनिमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता अनुक्तनिमित्ता ही है क्योंकि, अनुक्त के ही चिन्त्य और अचिन्त्य के रूप में दो भेद होते हैं।[3]

शोभाकरमित्र के अनुसार पूर्ण कारण के विद्यमान होने पर भी फल की अनुत्पत्ति का वर्णन होने पर विशेषोक्ति अलङ्कार होता है।[4] यह त्रिविध होता है।[5]

---

१. (क) विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।
—काव्यप्रकाश, १०।१०८।

(ख) मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः। अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च॥
वही, वृत्ति, १०।१०८।

२. (क) कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः।
—अलंकारसर्वस्व-सूत्र ४२।

(ख) सा च द्विविधा—उक्तनिमित्तानुक्तनिमित्ता च। अचिन्त्यनिमित्ता त्वनुक्तनिमित्तैव॥

(ग) अनुक्तस्य च चिन्त्याचिन्त्यत्वेन द्वैविध्यात्।
—वही, सूत्र-४२, वृत्ति।

(घ) विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य—
—वही, सूत्र ४२, वृत्ति पृ० सं० १६३, १६४, १६५।

३. (क) हेतुसाकल्ये फलानुत्पत्तिविशेषोक्तिः। —अलंकार रत्नाकर।

(ख) ······समग्रणामपि हेतुनां कयाचिद्भङ्ग्या कार्यस्यानुपादानकतोपनिबन्धे विशेषोक्ति। इयमपि पूर्ववत् त्रिधा। —वही, पृ० ६४।

४. विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सति कारणे। —चन्द्रालोक, ५।७८।

५. यदि कारणसाकल्ये कार्यासिद्धिस्तदा विशेषोक्तिः।
—एकावली, ८।३६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ,[1] मम्मट एवं रुय्यक से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं।

विश्वनाथ के अनुसार हेतु के रहते हुए भी फल के न होने पर विशेषोक्ति अलङ्कार होता है। यह भी उक्त और अनुक्त निमित्त से दो प्रकार होता है।[2]

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार प्रसिद्ध कारणकलाप के उपस्थित होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति का न होना विशेषोक्ति अलङ्कार है।[3] यह विशेषोक्ति दो प्रकार की होती है—उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता। अचिन्त्यनिमित्ता वाला भेद अनुक्तनिमित्ता वाले भेद से विलक्षण नहीं है। इस अलङ्कार में कारणों के होते हुए कार्य के न होने से जो विरोध प्रतिभासित होता है, वह प्रसिद्ध कारण से अतिरिक्त कारण की कल्पना कर लेने से समाप्त हो जाता है।

आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार कारण के होने पर भी कार्यानुत्पत्ति का वर्णन विशेषोक्ति है।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर विशेषोक्ति के सम्बन्ध में चार विचारधारायें सम्मुख आती हैं—

१. **भामह के अनुसार**—एक देश के विगत होने पर गुणान्तर का सद्भाव होना।

२. **दण्डी के अनुसार**—गुण, जाति, क्रिया द्रव्य आदि का वैकल्य दिखाना।

---

१. (क) तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते।

—**प्रतापरुद्रयशोभूषण**, पृ० ३०५।

(ख) यत्र कारणसाकल्ये सत्यपि कार्यस्यानुत्पत्तिः सा विशेषोक्तिः।

—**वही**, पृ० ३०५।

२. सतिहेतौ फलाभवे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।

—**साहित्यदर्पण**, १०।६७।

३. (क) प्रसिद्धकारणकलापसामानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्तिर्विमेशेक्तिः। —**रसगंगाधर**, द्वितीयानन पृ० ४५३।

(ख) तत्र सत्यपि कारणसमवधाने कार्यस्यानुत्पत्तौ विरोधः प्रतिभासमानः प्रसिद्धेतरकारणवैकल्यधिया निवर्तते।

—**वही**, द्वितीयानन, पृ० ४५३।

(ग) ......अचिन्त्यनिमित्ता अनुक्तनिमित्तातो न पृथग्भावमर्हति इत्याहुः।

—**वही**, द्वितीयानन, पृ० ४५६।

४. हेतौ सत्यपि कार्यानुत्पत्तिः स्याद् विशेषोक्तिः।

—**अलंकारकौस्तुभ** पृ० ३१५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

३. वामन के अनुसार—एक गुण की हानि से अन्य गुणों के आधार पर समता का निर्धारण करना।

४. उद्भट के अनुसार—कारण की समग्रता रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन करना।

दण्डी का लक्षण विशेषोक्ति का विभावना से पृथकत्व कर सकने में समर्थ नहीं होने के कारण मान्य नहीं हो सका, वह विभावना-भेद के रूप में ही स्वीकृत हुआ। वामन की विशेषोक्ति की धारणा रूपक-धारणा से अभिन्न सिद्ध हुई है। आचार्य रुय्यक ने स्पष्ट कहा है कि वामन की विशेषोक्ति रूपक का भेद ही है, अतः पृथक् नहीं कही जा सकती।[1] रसगंगाधरकार जगन्नाथ ने भी वामन की विशेषोक्ति को दृढारोपरूपक कहा है।

उद्भट का यह मत ही परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य हुआ है कि पूर्ण कारण के रहने पर भी कार्योत्पत्ति का अभाव वर्णन विशेषोक्ति अलङ्कार है। इस लक्षण में भामह कृत लक्षण का आंशिक साम्य भी देखा जा सकता है कि फल के कारण के रहने पर भी फलाभाव में वस्तु के गुणान्तर का सद्भाव। इस प्रकार उद्भट कृत विशेषोक्ति में भामह के मत का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

अतिशयोक्ति अलंकार—आचार्य भामह ने अतिशयोक्ति के स्वरूप विवेचन के क्रम में वक्रोक्ति को इसका पर्याय मानकर अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों का प्राण माना है।[2] उनके अनुसार किसी कारणवश जो लोकोत्तर अर्थ के विषय में कथन होता है, उसको अतिशयोक्ति अलङ्कार कहते हैं।[3] भामह ने अतिशयोक्ति में अतिलौकिक वर्णन के अतिरिक्त गुणातिशय का योग भी आवश्यक माना है।[4] स्पष्ट

---

१. या तु "एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः" इति विशेषोक्तिः लक्षिता सास्मिन्दर्शने रूपकभेद एवेति पृथङ् न वाच्या।
अलंकारसर्वस्व, सूत्र ४२, पृ० २४३।

२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥
—**काव्यालंकार** (भामह) २।८५।

३. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा॥ —**वही**, २।८१।

४. (क) इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम्॥ —**वही**, २।८४।

(ख) द्रष्टव्य—**वही**, २।८२–८३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

है कि भामहाचार्य को अतिशयोक्ति अलङ्कार के रूप में वर्ण्य में गुणातिशय का आधान करने वाला तथा अतिलौकिक वर्णन करने वाला रूप मान्य रहा है।

आचार्य दण्डी के अनुसार विशेष अर्थात् प्रस्तुत वस्तुगत उत्कर्ष को लौकिक सीमा का अतिक्रमण करने वाली विवक्षा अतिशियोक्ति है और यह अलङ्कारों में श्रेष्ठ अलङ्कार हैं।[1] स्पष्टतः दण्डी की अतिशयोक्ति–धारणा भामह की अतिशयोक्ति की धारणा से मिलती-जुलती है, क्योंकि दण्डी को भी प्रस्तुत के उत्कर्ष का अतिलौकिक वर्णन अतिशयोक्ति में अभीष्ट है। दण्डी ने अतिशयोक्ति के सम्बन्ध में जो प्रथम पद्य दिया है, उसे परवर्ती काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र ने सम्बन्ध में असम्बन्ध कथन रूप अतिशयोक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।[2] भोजराज ने इस पद्य को गुणातिशयरूपकान्त्यतिशय के उदाहरण के रूप में[3] तथा अप्पयदीक्षित ने मीलित अलङ्कार के उदहारण रूप में उद्धृत किया है।[4] इसके अतिरिक्त दण्डी ने संशयातिशयरूपातिशयोक्ति, निर्णयातिशयरूपातिशयोक्ति तथा आश्रयातिशयरूपातिशयोक्ति के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जो परवर्ती आचार्यों के द्वारा क्रमशः संदेह अलंकार, अनुमान (हेमचन्द्र), अर्थापत्ति (भोज और अप्पयदीक्षित) तथा निश्चय (विश्वनाथ) अलङ्कार और अधिक अलङ्कार (मम्मट, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित) के रूप में उद्धृत किये गये हैं।[5]

अग्निपुराणकार ने भी लोक-सीमा का अतिक्रमण करने वाले वस्तु-धर्म का वर्णन अतिशय का मुख्य लक्षण माना है[6] तथा अलौकिक एवं सातिशय वर्णन के भेदों का निर्देश करते हुए इसमें गुण, जाति, क्रियादि का वैकल्य (विपर्यय) अपेक्षित माना

---

१. विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा॥ —काव्यादर्श, २।२१४।

२. द्रष्टव्य—वही २।२१५, हेमचन्द्र-काव्यानुशासन, पृ० ३१८।

३. सरस्वतीकण्ठाभरण–४।२२२।

४. कुवलयानन्द—१४६।

५. (क) काव्यादर्श—२।२१७ तथा साहित्यदर्पण, १०।३६ वृत्ति।
(ख) वही, २।२१८ तथा काव्यानुशासन, पृ० ३४०, सरस्वतीकण्ठाभरण, ३।१७१, कुवलयानन्द १७१ वृत्ति।
(ग) काव्यादर्श—२।२१९ तथा काव्यप्रकाश १०।१२८, साहित्यदर्पण—१०।७२ तथा कुवलयानन्द—९६।

६. लोकसीमानिवृत्तस्य वस्तुधर्मस्य कीर्तनम्।
भवेदतिशयो नाम संभवासंभवा द्विधा॥
—अग्निपुराण ३४४।२५–२६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

है और इसे विशेषोक्ति कहा है। यह विशेषोक्ति लक्षण दण्डीकृत विशेषोक्ति–लक्षण से अभिन्न है।[1]

उद्‌भटाचार्य ने भामहकृत अतिशयोक्ति लक्षण को ही किञ्चित् शब्द–भेद से उद्‌धृत कर दिया है। उनके अनुसार किसी निमित्तविशेष से उपनिबद्ध लोकातिक्रान्त-गोचर उक्ति अतिशयोक्ति है।[2] उद्‌भट ने लक्षणोपरान्त उसके चार भेदों का सोदाहरण निरूपण किया है।[3]

आचार्य वामन ने सम्भाव्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कल्पना को अतिशयोक्ति कहा है।[4] स्पष्टतः वामन को भी अतिशयोक्ति में लोक में असिद्ध अतिलौकिक अर्थ का उत्कर्षपूर्ण वर्णन अभिमत है।

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक के अनुसार जहाँ वर्ण्य वस्तु के सहृदयाह्लादकारी धर्म का चमत्कार के साथ अपूर्व अतिशय वर्णित होता है, वहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है।[5]

आचार्य रुद्रट ने अलङ्कारों के अपने वर्गीकरण में अतिशय को एक तत्त्व के रूप में स्वीकार कर उसके अन्तर्गत पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्‌गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात और अहेतु—इन बारह अलङ्कारों का विवेचन प्रस्तुत किया है।[6] इनमें से 'पूर्व' कार्यकारणविपर्ययरूपा अतिशयोक्ति का ही एक भेद कहा जा सकता है।[7] उनके अनुसार जिस अलङ्कार में अर्थ और धर्म का

---

१. (क) गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते॥ —वही, ३४४।२७।

(ख) द्रष्टव्य—**काव्यादर्श**, २।३२३।

२. द्रष्टव्य—**काव्यालंकारसारसंग्रह**।

३. द्रष्टव्य—**काव्यालंकारसारसंग्रह**।

४. सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्तिः।
—**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** ४।३।१०।

५. यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते।
वर्णनीयस्य धर्माणां तद्विदाह्लाददायिनाम्॥
—**वक्रोक्तिजीवित**, ३।२६।

६. पूर्वविशेषोत्प्रेक्षाविभावनातद्‌गुणाधिकविरोधाः।
विषमासंगतिपिहितव्याघाताहेतवो भेदाः॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट) ६।२।

७. यत्र अतिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य।
प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद्‌भवेत्पूर्वम्॥ —**वही**, ६।३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

नियम प्रसिद्धि के बोध के कारण कभी-कभी कहीं लोक का अतिक्रमण कर (अलौकिक रूप से) विपर्यय को प्राप्त होता है, उसे उस नियम का अतिशय कहते हैं ।[1] इस प्रकार वह अतिशय नामक अलङ्कार होता है ।

भोजराज ने दण्डी के लक्षण को ही उद्धृत कर दिया है ।[2] उन्होंने गुण तथा क्रिया का ही अतिशय पूर्ण वर्णन अतिशयोक्ति में अपेक्षित माना है तथा उसके गुणातिशयोक्ति और क्रियातिशयोक्ति दो भेद किये हैं । उनकी मान्यता है कि जाति और द्रव्य में अतिशय की कल्पना सम्भव ही नहीं है । उन्होंने प्रभाव, तथा अन्योन्य की अतिशयता को भी अतिशयोक्ति का क्षेत्र स्वीकार किया है ।[3]

आचार्य मम्मट ने अतिशयोक्ति को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है । उनके अनुसार जहाँ उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण करके उपमेय का अध्यवसान अर्थात् कल्पित अभेद का निश्चय वर्णित किया जाता है, वह अतिशयोक्ति का प्रथम रूप है । जहाँ वर्णनीय का अन्य रूप से वर्णन किया जाता है वह उसका दूसरा रूप हैं, जहाँ उक्ति में यद्यर्थक शब्द के द्वारा असम्भव अर्थ की कल्पना की जाती है, वह उसका तीसरा रूप है और जहाँ कार्य—कारण के पौर्वापर्य का विपरीत (विपर्यय) होना वर्णित किया जाता है, वह उसका चौथा रूप है ।[4] उपमान से उपमेय के अध्यवसान की कल्पना मौलिक है, किन्तु प्रस्तुत के अन्य प्रकार से वर्णन की कल्पना का आधार उद्भट की भेद में अभेद तथा अभेद में भेद कल्पना को माना जा सकता है । मम्मटोक्त अतिशयोक्ति-लक्षण से उसके स्वरूप में विकास की दृष्टि से एक निश्चित दिशा आई ।

रुय्यक ने मम्मट के मत का अनुसरण करते हुए कहा है कि अध्यवसित की प्रधानता होने पर अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है ।[5] अतिशयोक्ति में अध्यवसान

---

१. यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति ।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ।। —काव्यलङ्कार (रुद्रट), ९।१

२. विवक्षया विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलकारोत्तमा च सा ।। सरस्वतीकंठाभरण, ४।८१

३. सा च प्रायो गुणानां च क्रियाणां चोपकल्प्यते ।
नहि द्रव्यस्य जातेर्वा भवत्यतिशयः क्वचित् ।।
प्रभावातिशयो यश्च यश्चानुभवनात्मकः ।
अन्योन्यातिशयो यश्च तेऽपि नातिशयात्पृथक् ।। वही, ४।८२-८३

४. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा············।। काव्यप्रकाश, १०।१००-१०१

५. अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः । अलंकारसर्वस्व—सूत्र २२

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

सिद्ध होता है, अतः इसमें उपमान की प्रधानता होती है और उपमेय सदा गौण ही रहता है। इसके पाँच भेद हैं—(१) भेद रहने पर अभेद (२) अभेद होने पर भेद (३) सम्बन्ध होने पर असम्बन्ध (४) असम्बन्ध होने पर सम्बन्ध और (५) कारण और कार्य के पौर्वापर्य (पूर्वापरभाव) का विध्वंस जो पूर्वापरभाव को उलट देने (विपर्यय) से अथवा एक समय में होने से होता है।[1]

पीयूषवर्ष जयदेव ने अतिशयोक्ति के अक्रमातिशयोक्ति अत्यन्तातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, सम्बधातिशयोक्ति, भेदकातिशोक्ति और रूपकातिशयोक्ति ये छः भेद स्वीकार किये हैं। जहाँ कार्य-कारण एक ही समय में हों जायें, वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है।[2] कारण और कार्य के पौर्वापर्य के व्यतिक्रम मे अत्यंतातिशयोक्ति होती है।[3] कारण के कथनमात्र से कार्य के होने पर चपलातिशयोक्ति अलंकार होता है।[4] किसी एक वस्तु का सम्बन्ध न होने पर भी उसके साथ सम्बंध स्थापित करने 'पर' सम्वंधातिशोक्ति अलंकार होता है।[5] अभेद में भेद वर्णित करने पर भेदकातिशयोक्ति अलंकार होता है।[6] उपमान के द्वारा उपमेय के निगरण में रूपकातिशयोक्ति होती है।[7] उपर्युक्त भेदों में से प्रथम तीन भेद कार्य-कारणपौर्वापर्यविपर्यरूपा अतिशयोक्ति के ही भेद है। चौथा भेद असम्बंध मे सम्बन्धरूपातिशयोक्ति का, विपर्य पाँचवा भेद अभेद में भेद रूपा अतिशयोक्ति का तथा छठा भेद निगीर्याध्यवसान रूपातिशयोक्ति का है।

विश्वनाथ ने अतिशयोक्ति अलंकार के सम्बन्ध में मम्मट रूप्यक आदि का अनुगमन किया है। उनके अनुसार अध्यवसाय का सिद्ध होना अतिशयोक्ति अलंकार है।[8] उन्होंने अतिशयोक्ति के पाँच भेद स्वीकार किये हैं—(१) भेद में भी अभेद

---

१. अध्यवसाने त्रयं संभवति-स्वरूपं, विषयो विषयी च। विषयस्य हि विपयिणा निगीर्णत्वेऽध्यवसायस्य स्वरूपोत्थानम्। तत्र साध्यत्वे स्वरूपप्राधान्यम्। सिद्धत्वेऽध्यवसितप्राधान्यम्। विषयप्राधान्यमध्यवसाये नैव संभवति। अध्यवसितप्राधान्ये चातिशयोक्तिः। अस्याश्च पञ्च प्रकाशः भेदेऽभेदः। अभेदे भेदः। सम्बन्धेऽसम्बन्धः। असम्बन्धे सम्बन्धः। कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसश्च। कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसः, पौर्वापर्यविपर्ययात् तुल्यकालत्वाद्वा।—**वही**, सूत्र २२, वृत्ति पृ० १०३ तथा १०८

२. अक्रमातिशयोक्तिश्चेद युगपत्कार्यकारणे। **चन्द्रालोक**, ५।४१

३. अत्यन्तातिशयोक्तिस्तत्तरौर्वापर्यव्यतिक्रमे। **वही**, ५।४२

४. चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे। **वही**, ५।४३

५. सम्बंधातिशयोक्तिः स्यात्तदभावेऽपि तद्वचः। **वही**, ५।४४

६. भेदातिशयोक्तिश्चेदेकस्यैवान्यतोच्यते। **वही**, ५।४५

७. रूपकातिशयोक्तिश्चेद्रूप्यं रूपकमध्यगम्। **वही**, ५।४६

८. सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। **काव्यप्रकाश**, १०।४६

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

(२) सम्बंध में भी असम्बन्ध (३) अभेद में भी भेद (४.) असम्बन्ध में भी सम्बन्ध और (५) कार्यकारण का पौर्वापर्य-विपर्यय ।[1] विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत अतिशयोक्ति के पाँच भेदों का मम्मट के चार भेदों से इस प्रकार समन्वय किया जा सकता है—

(१) भेदेऽभेद:=निगीर्याध्यवसानरूपातिशयोक्ति
(२) अभेदे भेद:=प्रस्तुतान्यत्वरूपातिशोक्ति
(३) असम्बन्धे सम्बन्ध:, सम्बन्धे असम्बन्ध:=यद्यर्थोक्तौ कल्पना ।
(४) कार्य-कारण पौर्वापर्य-विपर्यय=कार्यकारणपौर्वापर्य-विपर्यय ।

अप्पयदीक्षित ने अतिशयोक्ति का लक्षण न देकर रूपकातिशयोक्ति, रूपकातिशयोक्ति का सापह्नवा अतिशयोक्ति भेद, भेदकातिशयोक्ति, सम्बन्धातियोक्ति, असम्बन्धातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति चपलातिशयोक्ति और अत्यंतातिशयोक्ति के रूप में 'आठ भेद मात्र लिखे हैं ।[2] उपर्युक्त भेदों में से छः भेद पीयूषवर्ष जयदेव के चन्द्रालोक से नामकरण सहित यथावत् लिये गये हैं । असम्बन्धातिशयोक्ति **अलंकारसर्वस्व** से ली गई है तथा सवपह्नवा रूपकातिशयोक्ति भी **अलङ्कारसर्वस्व** की सापह्नव उत्प्रेक्षा के अनुकरण पर कल्पित प्रतीत होती है । जगन्नाथ ने सापह्नव-रूपकातिशयोक्ति का खण्डन किया है । अप्पयदीक्षित ने निगीर्याध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति को रूपकातिशयोक्ति संज्ञा दी है । कार्य-कारण पौर्वापर्यविपर्यय के आधार पर अक्रमातिशयोक्ति चपलातिशयोक्ति तथा अत्यंतातिशयोक्ति भेद स्वीकार किये हैं ।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार विषयी (उपमान) के द्वारा विषय (उपमेय) के निगरण को अतिशय कहते हैं और तादृश अतिशय की उक्ति को अतिशयोक्ति कहते हैं ।[3] इस प्रकार अतिशयोक्ति अलंकार का लक्षण हुआ विषयी के द्वारा विषय

---

१. भेदेऽप्यभेद: सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ॥
पौर्वापर्यात्मक: कार्यहेत्वो: सापञ्चधा तत: । **काव्यप्रकाश**, १०।४ -४७ ।

२. (क) रूपकातिशयोक्ति: स्यान्निगीर्याध्यवसानत: । **कुवलयानन्द**—३६ ।
(ख) यद्यपह्नुतिगर्भत्वं सैव सापह्नवा मता । **वही**, ३७ ।
(ग) भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम् । **वही**, ३८ ।
(घ) सम्बंधातिशयोक्ति: स्यादयोगे योगकल्पनम् । **वही**, ३९ ।
(ङ) योगेऽप्ययोगोऽसम्बंधातिशयोक्तिरितीर्यत । **वही**, ४० ।
(च) अक्रमातिशयोक्ति: स्यात् सहत्वे हेतुकार्ययो: । **वही**, ४१ ।
(घ) चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे । **वही**, ४२ ।
(ज) अत्यंतातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यव्यतिक्रमे । **वही**, ४३,

३. विषीयणा विषयस्य निगरणमतिशय: । तस्योक्ति: । **रसगंगाधर**, द्वितीयानन: पृ० २

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

के निगरण का वर्णन । पण्डितराज के अनुसार सर्वप्रथम अतिशयोक्ति के दो प्रकार होते हैं—(१) सावयवा और निरवयवा ।

जहाँ प्रधान निगरण के पोषक अन्य कुछ निगरण हो वहाँ सावयवा अतिशयोक्ति होती है ।[1]

जहाँ प्रधान निगरण के पोषण के लिये अन्य निगरणों की अपेक्षा न हो, केवल शुद्ध साधारण धर्म पर ही निगरण आधारित हो, वहाँ निरवयवा अतिशयोक्ति होती है ।[2]

जगन्नाथ के अनुसार निगीर्याध्यवसान ही अतिशयोक्ति है । अर्थात् भेद में अभेद ही अतिशयोक्ति है । अन्य—अभेद में भेद, सम्वन्ध में असम्वन्ध आदि प्रभेद अतिशयोक्ति नहीं, अपितु दूसरे ही अलंकार हैं । क्योंकि उन सभी प्रभेदों को भी अतिशयोक्ति मानने के लिये उन सभी में रहने वाले एक किसी अनुगत रूप समान धर्म की अपेक्षा है और वह उनमें नहीं है । निगरणपूर्वक अध्यवसान केवल भेद में अभेद इस एक ही पदार्थ में में प्राप्त होता है, अतः केवल वही अतिशयोक्ति है ।[3]

मम्मट, रूय्यक विश्वनाथ आदि पूर्वाचार्यों ने विषयी के द्वारा विषय का निगरण तो अवश्य स्वीकार किया था किन्तु उसी निगरण को ही उन्होंने अतिशयोक्ति कह दिया था । इसके विपरीत पण्डितराज ने निगरण को अलंकार न मानकर निगरण कें कथन को अलंकार माना है अतः अतिशयोति अलंकार वहीं होता है जहाँ उसका (अतिशयका) कथन हो । पंडितराज को सम्वन्धासम्वंध आदि के आधार पर निरूपित भेदों में अधिक आस्था नहीं है, तथापि उन्होंने प्राचीनों के अनुरोध से उनका निरूपण अवश्य कर दिया है ।[4]

---

१. (क) द्रष्टव्य—कलिन्दगिरि······तमालद्रुमः
रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ० ६ ।

(ख) एवं च सावयवेयमतिशयोक्तिः । वही, द्वितीयानन, पृ० ७ ।

२. यत्र चानुग्राहकं न निगरणान्तरं किं तु शुद्धं साधारणधर्मादि, सा निरवयवा । यथा—नयनानन्दसंदोहतुन्दिलीकरणक्षमा ।
तिरयत्वाशु संतापं कापि कादम्बिनी मम ॥
वही, द्वितीयानन, पृ० ९ ।

३. नव्यास्तु—'निगीर्याध्यवसानमेवातिशयोक्तिः । प्रभेदान्तरं त्वनुगतरूपाभावादलंकारान्तरमेव ।—वही, द्वितीयानन, पृ० २७ ।

४. (क) एवमेकः प्रकारोऽतिशयस्य, यत्र भेदेप्यभेदः । रसगंगाधर, द्वितीयानन, पृ० १८ ।

(ख) अथ प्रकारान्तरम्—यत्राभेदेऽपि भेदो लोकोत्तरत्वप्रतिपत्त्यर्थः, इदमेव प्रस्तुतस्यान्यत्वमित्यनेनोक्तम् । उदाहरणम्—
अन्या जगद्धितमयी·········चरित्रमन्यत् । वही, द्वितीयानन, पृ० १९ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अतिशोक्ति को बहुत ही महत्त्वपूर्ण अलङ्कार माना गया है। प्राचीन विद्वानों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भामह ने इसे सभी अलंकारों का प्राण माना है।[1] दण्डी ने भी वाक्पति से प्रशंसित अतिशय नामक उक्ति को अन्य अलंकारों का भी एक मात्र आश्रय कहा है।[2] भोजराज ने भी दण्डी के श्लोक को ही उद्धृत करके अपनी सहमति प्रकट की है।[3] मम्मट ने विशेषालंकार के प्रसंग में अतिशयोक्ति के सम्बंध में कहा है कि ऐसे सभी विशेष अलंकार इत्यादि के स्थलों पर सर्वत्र अतिशय उक्ति ही प्राण रूप में अवस्थित होती है, उसके बिना तो प्रायः अलङ्कार होना सम्भव नहीं है।[4]

पूर्व पृष्ठ पाद टिप्पणी

(ग) एवमन्यः प्रकारः—यत्रासम्बन्धेऽपि सम्बन्धो वर्ण्योत्कर्षार्थः। उदाहरणम्—धीरध्वभिरलं…………समुच्छलति।
—रसगंगाधर द्वितीयानन, पृ० २०।

(घ) तथान्यः प्रकारः—यत्र सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धः। उदाहरणम्—
पीयूषयूषकल्पामल्पामपि………योषाधराबिम्बमधुरिमोद्रेकः॥
—वही, द्वितीयानन, पृ० २२।

(ङ) एवं अन्योऽपि प्रकारः—यत्र प्रयोजकस्य प्रयोज्यस्य च पौर्वापर्य—विपर्ययः। स च द्वयोः सहभावात्, प्रयोजकस्य प्रयोज्यानन्तर भावाद्वेति द्वेधा। आद्यो यथा—
प्रतिखुर-शिलातल—संघट्ट-समुच्छलद्विद्युद्वल्लीकृतविस्फुलिङ्गच्छटापटलाना वाजिनाम्।—वही, द्वितीयानन पृ० २४।
द्वितीयो यथा—पुरः पुरस्तादरिमूपतीनां—शेषानलविस्फुलिङ्गाः॥
वही, पृ० २४।

(च) 'एवं' च एतद् भेदपञ्चकान्यतमत्वमतिशयोक्तिसामान्यलक्षणम्' इति प्राचीनाः। **वही**, द्वितीयानन, पृ० २५।

१. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥
काव्यालंकार, (भामह), २।८५।

२. अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥ **काव्यादर्श**, २।२२०।

३. द्रष्टव्य—**सरस्वतीकंठाभरण**—४।८४।

४. सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्। अतएवोक्तम्—
सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥
काव्यप्रकाश, १०।१२५-१३६, वृत्ति पृ० ५६८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

इस स्थल पर स्मरणीय है कि अतिशयोक्ति की यह प्रशंसा भामहादि के लक्षण के अनुसार लोकातिक्रान्तगोचर उक्ति की ही है, आधुनिक लक्षण के अनुसार नहीं। आधुनिक आचार्यों ने तो उसके सामान्य लक्षण को विस्मृत कर दिया और जो विशेष लक्षण निरूपित किया है, वह पंडितराज के कथनानुसार रूपकातिशयोक्ति पर ही समाप्त हो जाता है। इसी कारण नागेश को **काव्यप्रदीप** की टीका उद्योत में **काव्यप्रकाश** की अतिशयोक्ति की प्रशंसा के विषय में लिखना पड़ा है कि यहाँ अतिशयोक्ति शब्द से अतिशयोक्ति अलंकार विवक्षित नहीं है, क्योंकि वह अलङ्कार विशेषादि अलंकार के प्रसंग में असम्भव है।[1]

विषम अलङ्कार—विषम अलंकार का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने किया है। उन्होंने इस अलंकार को पृथक्-पृथक् दो स्थानों पर लिखा है—वास्तवमूलक अलंकार वर्ग में तथा अतिशयमूलक अलंकार वर्ग में। रुद्रट ने सर्वप्रथम वास्तवमूलक विषम के दो भेद प्रस्तुत किये हैं—

(१) जहाँ वस्तुओं के बीच सम्बंध के न रहने पर भी वक्ता दूसरों के द्वारा उनके बीच सम्बंध-कल्पना की सम्भावना करके उस सम्भावित सम्बंध का खण्डन करता हो, वहाँ वास्तवमूलक विषम का एक रूप (भेद) होता है।[2]

(२) जहाँ अर्थों के बीच विद्यमान सम्बन्ध का अनौचित्य दिखाया जाए अथवा असम्भाव्य वस्तु की सम्भावना का वर्णन किया जाए, वहाँ विषम का दूसरा भेद होता है।[3]

इन दोनों के अतिरिक्त विषम के चार और भेद प्रदर्शित किये हैं[4]—

(१) जहाँ किसी कारण कर्ता छोटा-सा भी कार्य न करे।

(२) जहाँ कर्त्ता कारणवश बड़ा काम भी कर दे।

(३) जहाँ वह अशक्त होने पर भी कार्य-सम्पादन कर दे। और

(४) जहाँ वह कारणवश सशक्त होने पर भी कार्य न करे।

इन छः भेदों के अतिरिक्त एक और भेद का भी उल्लेख किया गया है—जहाँ कार्य का नाश हो जाने से न केवल कर्ता को कर्मफल ही न मिले, अपितु अनर्थ

---

१. नत्वतिशयोक्त्यलंकारोऽत्र विवक्षितः। तस्यात्रासंभवात्।—**काव्यप्रदीप**।

२. विषम इति प्रथितोऽसौ वक्ता विघटयति कमपि सम्बन्धम्।
यत्रार्थयोरसन्तं परमतमाशङ्क्य तत्सत्त्वे॥ **काव्यालङ्कार, (रुद्रट)** ७।४७।

३. अभिधीयते सतो वा सम्बन्धस्यार्थयोरनौचित्यम्।
यत्र स विषमोऽन्योऽयं यत्रासंभाव्यभावो वा॥ **वही**, ७।४६।

४. तदिति चतुर्धा विषमं यत्राण्वपि नैव गुर्वपि च कार्यात्।
कार्यं कुर्यात्कर्ता हीनोऽपि ततोऽधिकोऽपि न वा॥ **वही**, ७।५१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

की भी प्राप्ति हो जाए, वहाँ भी विषम अलंकार होता है।[१] इस प्रकार रुद्रट ने सात भेदों के उदाहरण दए हैं—

आचार्य रुद्रट द्वारा वास्तवमूलक वर्ग में लक्षित विषम अलंकार के उपर्युक्त दो भेदों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि इस अलंकार की स्वरूप-कल्पना के मूल में पदार्थों के पारस्परिक सम्बंध के अनौचित्य की धारणा निहित है। रुद्रट ने अतिशयमूलक विषम के भेदों में विषम का लक्षण इस प्रकार दिया है—जहाँ कार्य-कारण सम्बन्ध वाले पदार्थों के गुणों या क्रियाओं में परस्पर विरोध दिखाया जाए, वहाँ विषम अलङ्कार होता है।[२]

विषम अलंकार के उपर्युक्त सभी भेदों में वस्तुओं के सम्बन्ध की विषमता की धारणा अभिव्यक्त हुई है। सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज ने वस्तु-सम्बन्ध के विरोध को दृष्टि में रखते हुए विषम को विरोध के ही एक भेद के रूप में स्वीकार किया है।[३]

आचार्य मम्मट ने विषम के चार भेद स्वीकार किये हैं—

१. जहाँ सम्बन्धियों के अतिवैधर्म्य (विलक्षणता) के कारण उनका सम्बन्ध उत्पन्न न हो सके।

२. कर्ता को क्रिया के फल की प्राप्ति न होकर अनर्थ की प्राप्ति हो जाए।

३. जहाँ कार्य के गुण से कारण के गुण का विरोध हो, अर्थात् गुण विषम।

४. जहाँ कार्य की क्रिया का कारण की क्रिया से विरोध हो अर्थात् क्रिया-विषम।[४]

---

१. यत्र क्रियाविपत्तेर्न भवेदेव क्रियाफलं तावत्।
कर्तुरनर्थश्च भवेत्तदपरमभिधीयते विषमम्॥ **काव्यालंकार** ७।५४।

२. (क) कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः।
तद्वत्क्रिययोरथवा संजायेतेति तद्विषमम्॥ **वही,** ९।४५।
(ख) द्रष्टव्य—उद्धरण ९।४६–४७।

३. द्रष्टव्य—**सरस्वतीकण्ठाभरण,** ३।६५ तथा **वृत्ति,** पृ० ३४२।

४. क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।
—**काव्यप्रकाश,** १०।१९४।

कर्तुः क्रियाफलावाप्तिः नैवानर्थश्च यद भवेत्॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
कुमेण च विरुद्धे यत्स एप विषमो गतः॥
—**वही,** १२६–१२७ तथा **वृत्ति**।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उपर्युक्त भेदों के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मम्मटाचार्य ने रुद्रट की विषम-धारणा को ही स्वीकार किया है। रुद्रट-स्वीकृत वास्तवमूलक विषम के समस्त भेद तथा अतिशयमूलक विषम के दोनों भेद इन्हीं चारों में अन्तुर्भुक्त हो जाते हैं।

राजानक रुय्यक ने विषम के तीन भेद स्वीकार किये हैं—

१. कारण से विरूप कार्य की उत्पत्ति।

२. किसी कार्य के साधन में उद्यत कर्ता के कार्य से उदिष्ट फल प्राप्ति के स्थान पर अनर्थ की प्राप्ति तथा ३. विरूप (अननुरूप) वस्तुओं की संघटना।[1] अननुरूप वस्तुओं का संसर्ग विषम का प्रधान लक्षण स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार रुय्यक की धारणा मम्मट की विषम की धारणा के समान है। रुय्यक के विरूप कार्योत्पत्ति रूप विषम भेद में मम्मटाचार्य के गुण-विरोध और क्रिया-विरोध दोनों भेदों का समावेश हो जाता है।

हेमचन्द्र, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि ने मम्मट तथा रुय्यक की विषम धारणा को ही स्वीकार किया है।[2]

---

१. (क) विरुपकार्याऽनर्थयोरुत्पत्तिः विरूप संघटना च विषमम् ॥

—अलंकारसर्वस्व—सूत्र ४५।

(ख) तत्र कारणगुणप्रक्रमेण कार्यमुत्पद्यत इति प्रसिद्धौ यद्विरूप कार्यमुत्पद्यमानं दृश्यते, तदेकं विषमम्। तथा कंचिदर्थं साधयितुमुद्यतस्य न केवलं तस्यार्थस्याप्रतिलम्भो, यावदनर्थप्राप्तिरिति द्वितीयं विषमम्। अत्यंताननुरूपसंघटनयोर्विरूपयोश्चः संघटनं तृतीयं विषमम्। अननुरूपसंसर्गो हि विषमम्।

—वही, सूत्र ४५ की वृत्ति।

२. (क) क्रियाफलाभावोऽनर्थश्च विषमम्। हेमचन्द्र।

—काव्यानुशासन—३४१।

(ख) विषमं यद्यनौचित्यादनेकान्वयकल्पनम्।

—चन्द्रालोक (जयदेव) ५।८०।

(ग) गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ॥

—साहित्यदर्पण, ६९।

यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः।
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ॥ —वही, ७०।

(घ) विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः।

—कुवलयानन्द—८८।

विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम्। —वही, ८९।
अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात्। —वही, ९०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

रसगंगाधरकार जगन्नाथ ने अननुरूप वस्तुओं के संसर्ग को विषम अलंकार स्वीकार किया है।[1] योग्यता रहित जो सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध है विषम अलंकार। तात्पर्य यह है कि जिस सम्बन्ध के विषय में यह अनुचित है, इस प्रकार का बोध होता हो, वही सम्दन्ध अननुरूप है और विषमालंकार का स्थल है। संसर्ग दो प्रकार का होता है—१. उत्पत्ति लक्षण संसर्ग और २. संयोगादि लक्षण संसर्ग। उत्पत्ति लक्षण संसर्ग की अयोग्यता दो प्रकार से होती है—

१. जब किसी कारण से ऐसे कार्य की उत्पत्ति हो, जो अपने कारण के गुणों से भिन्न गुणों से युक्त हो।

२. जब इष्ट साधन रूप में निश्चित कारण से अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति हो जाये।

संयोगादि लक्षण संसर्ग की अयोग्यता तब होती है जब दो सम्बन्धियों में से एक के गुण तथा स्वरूप से दूसरे सम्बन्धी के गुण तथा स्वरूप तिरस्करणीय हों। इस प्रकार अननुरूप संसर्गता रूप एक सामान्य धर्म से प्राचीनों के द्वारा कहे जा चुके तथा भविष्य में आचार्यों द्वारा वक्ष्यमाण विषमालंकार के सभी प्रभेद संगृहीत हो जाते हैं।[2]

पंडितराज के अनुसार विषम अलंकार के कुल इक्कीस भेद हैं—

उत्पत्ति रूप संसर्ग के सर्वप्रथम दो प्रकार होते हैं—

१. जहाँ किसी कारण से अपने गुणों से भिन्न गुणों वाले कार्य की उत्पत्ति हो।

२. जहाँ किसी इष्ट साधन रूप निश्चित कारण से अनिष्ट की उत्पत्ति हो जाये।

अनिष्टकार्योत्पत्ति के पुनः दो उपभेद होते हैं—

१. जहाँ इष्ट कार्य की उत्पत्ति न हो। (केवलेष्टकार्यानुत्पत्तिः)

२. जहाँ अनिष्ट कार्य की ही उत्पत्ति हो। (केवलानिष्टकार्योत्पत्तिः)

---

१. अननुरूपसंसर्गो विषमम्।

—रसगंगाधर, द्वितीय आनन, पृ० ४७९ १९६६। (चौखम्बा)

२. अनुरूपं यत्र न विद्यत इति विगृहीतेन बहुव्रीहिणा योग्यतारहितमुच्यते। योग्यता च युक्तमिदमिति लौकिकव्यवहारगोचरता। संसर्गश्च तावद् द्विविध—उत्पत्तिलक्षणः संयोगादिलक्षणश्च। तत्रोत्पत्तिलक्षणस्य संसर्गस्यायोग्यत्वं कारणात्स्वगुणविलक्षणगुणकार्योत्पत्त्या, इष्टसाधनतया निश्चितात्कारणादनिष्टकार्योत्पत्तिभिः संयोगादिलक्षणस्यापि। संसर्गिणोरन्यतरगुणस्वरूपतिरस्कार्यन्तिरगुणस्वरूपतया अयोग्यत्वम्। एवं चाननुरूपसंसर्गत्वेन सामान्येनोक्ता वक्ष्यमाणाश्च सर्वे प्रभेदाः सगृह्यन्ते।

—वही, द्वितीयानन, पृ० ४७९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

पुनः इष्ट चार प्रकार का होता है—

१. किसी ऐसे साधन रूप वस्तु की प्राप्ति जिससे स्वयं को सुख की प्राप्तिं हो।

२. किसी ऐसे साधन रूप वस्तु की निवृत्ति जिससे स्वयं को दुःख की प्राप्ति हो।

३. किसी दूसरे को दुःख पहुँचाने वाली किसी वस्तु की प्राप्ति।

४. किसी दूसरे को सुख देने वाले किसी साधन रूप वस्तु की निवृत्ति।

अनिष्ट तीन प्रकार का होता है—

१. अपने को कष्ट पहुँचाने वाली किसी वस्तु की प्राप्ति।

२. दूसरे को सुख पहुँचाने वाली किसी वस्तु की प्राप्ति।

३. दूसरे को दुःख पहुँचाने वाली किसी वस्तु की निवृत्ति।

इस प्रकार इष्ट और अनिष्ट के आधार पर केवल इष्ट कार्यानुत्पत्ति वाला उपभेद चार प्रकार का और केवल अनिष्ट कार्योत्पत्ति वाला उपभेद तीन प्रकार का होता है तथा मिश्रण से इष्ट कार्यानुत्पत्ति और अनिष्ट कार्योत्पत्ति वाला विषम द्वादश प्रकार का हो जाता है। कुल मिलाकर विषम के इक्कीस भेद होते हैं।

स्पष्टतः विरूप या अननुरूप वस्तुओं का सम्वन्ध विषम अलंकार है। इसके सम्भावित रूप (प्रकार) इस प्रकार हैं—१. विरूप वस्तुओं की संघटना २. कारण से विपरीत धर्म वाले कार्य की उत्पत्ति और ३. प्रारम्भ किये गये कार्य से इष्ट फल की प्राप्ति न होकर अनिष्ट (अनर्थ) की प्राप्ति।

सम अलंकार—सम अलंकार का सर्वप्रथम स्वतन्त्र अलंकार के रूप में निरूपण आचार्य मम्मट ने किया है। उन के अनुसार—जहाँ किन्हीं दो वस्तुओं को औचित्य के कारण सर्वसम्मत बतलाया जाता है, वहाँ सम अलंकार होता है।[1] मम्मट ने अनुकूल वस्तुओं का योग सम का प्रधान स्वरूप स्वीकार किया है। यह दो शोभन (सत्) पदार्थों के योग में अथवा दो अशोभन (असत्) पदार्थों के योग में दो प्रकार का होता है।[2]

राजानक रुय्यक ने विषमालंकार के तृतीय भेद अननुरूप वस्तु-संसर्ग रूप विषम के विपरीत अनुरूप वस्तुओं के संसर्ग को सम अलंकार स्वीकार किया है।

---

१. समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित्॥

—**काव्यप्रकाश** १०।१९३।

२. तत्सद्योगेऽसद्योगे च। —**वही**, दशम उल्लास वृत्ति, पृ० ५७८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

यह विषय के अभिरूप तथा अनभिरूप होने से दो प्रकार का होता है।[१] रुय्यक का लक्षण वस्तुतः मम्मटोक्त लक्षण की ही भिन्न शब्दों में अभिव्यक्ति है।

काव्यानुसानकार हेमचन्द्र के अनुसार—योग्यता के कारण सम्बन्ध हो जाने को सम अलंकार कहते हैं।"[२] हेमचन्द्र ने भी काव्यप्रकाशोक्त दो भेद स्वीकार किये हैं।

पीयूषवर्ष जयदेव के अनुसार—'परस्पर योग्य दो पदार्थों के सम्बन्ध वर्णन को सम अलंकार कहते हैं।'[३] इन्होंने केवल सद्योग का ही उदाहरण दिया है।

कविराज विश्वनाथ के अनुसार—जहाँ परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग का वर्णन किया जाता है, वहाँ सम अलंकार होता है।[४]

अप्पयदीक्षित ने सम अलङ्कार की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"जहाँ दो अनुरूप पदार्थों का वर्णन एक साथ किया जाए, वहाँ सम अलङ्कार होता है।[५] सम का यह भेद विषम अलङ्कार के प्रथम भेद का प्रतिद्वन्द्वी है। जहाँ कारण तथा कार्य में अनुरूपता हो, वह सम अलङ्कार का दूसरा भेद है।[६] जहाँ किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये कार्य करने के लिये उद्यत व्यक्ति को उस वस्तु की प्राप्ति बिना किसी अनिष्ट के हो जाए, वहाँ भी सम अलङ्कार होता है।[७] इस प्रकार अप्पयदीक्षित ने सम के तीन भेद स्वीकार किये हैं—१. अनुरूप वस्तुओं की

---

१. (क) तद्विपर्ययः समम्। —अलंकारसर्वस्व सूत्र ४६।
(ख) यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं, तथापि तच्छब्देन संभवादन्त्यो भेदः परामृश्यते। पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्यानलंकारत्वात्। अन्त्यभेदे विपर्ययस्तु चारुत्वात्समारण्योऽलंकारः। स चाभिरूपानभिरूपविषयत्वेन द्विविधः। —वही, सूत्र ४६ वृत्ति, पृ० २४५—२४६।

२. योग्यतया योगः समम्। —काव्यानुशासन, (हेमचन्द्र)।

३. सममौचित्यतोऽनेक वस्तुसम्बन्धवर्णनम्॥ —चन्द्रालोक—५।८१।

४. समं स्यादानुरुप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः। —साहित्यदर्पण—७१।

५. (क) समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः। —कुवलयानन्द—९१।
(ख) प्रथमविषमप्रतिद्वन्द्वीदं समम्। —वही, ९१ वृत्ति।

६. (क) सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेनं समं विदुः। —वही, ९२।
(ख) इदं द्वितीयविषमप्रतिद्वन्द्वि समम्। —वही, ९२ वृत्ति।

७. विनाऽनिष्टं च तत्सिद्धिर्यमर्थं कर्तुमुद्यतः।
युक्तो वारणलाभोऽयं स्यान्न ते वारणार्थिनः॥ —वही, ९३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

संघटना २. कारण-कार्य की सरूपता और प्रारम्भ कार्य के अनुरूप बिना किसी अनिष्ट की फल-प्राप्ति । तीसरे प्रकार के सम अलङ्कार के तीन अवान्तर उपभेद हो जाते हैं—१. अतर्कित उत्कटानिष्ट में भी श्लेष के प्रभाव से इष्टार्थ-प्रतीति। २. इष्टार्थ प्राप्त होने पर श्लेष के प्रभाव से अनिष्टार्थ की प्रतीति । ३. श्लेष के प्रभाव से असत् अर्थ की इष्टावाप्ति की प्रतीति ।[1]

रसगंगाधरकार जगन्नाथ ने सम अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—'अनुरूप संसर्ग को सम अलङ्कार कहते हैं ।'[2]

विषम के समान सम अलङ्कार में भी संसर्ग द्विविध होता है उत्पत्ति रूप और संयोगादि रूप । उत्पत्ति रूप संसर्ग की अनुरूपता तीन प्रकार से होती है—१. जहाँ किसी कारण से अपने समान गुणों वाले कार्य की उत्पत्ति होने पर २. जैसे गुणों वाली वस्तु के साथ संसर्ग हो, वैसे ही गुणों की उत्पत्ति होने पर और ३. जिस किसी इष्ट की प्राप्ति के लिये कारण का प्रयोग किया हो, उससे उस इष्ट की प्राप्ति होने पर । संयोगादि रूप संसर्ग की भी अनुरूपता दो सम्बन्धियों (संसर्गियों) में से किसी एक के गुण तथा स्वरूप द्वारा दूसरे के गुण तथा स्वरूप के पोषित होने पर होती है । संयोगादि रूप संसर्ग की अनुरूपता दो प्रकार की होती है—

१. पहली वहाँ जहाँ उसका पर्यवसान किसी प्रकार की स्तुति में होता हो और २. दूसरी वहाँ, जहाँ उसका पर्यवसान किसी प्रकार की निन्दा में होता हो ।[3]

इस प्रकार अनुरूप संसर्गता रूप सामान्य लक्षण से सम अलंकार के सभी

---

१. (क) यत्रातर्कितोत्कटानिष्ट सत्त्वेऽपि श्लेषमहिम्नेष्टार्थत्वप्रतीतिस्तत्रापि समालङ्कारोऽप्रतिहत एव । —**कुवलयानन्द** वृत्ति—९३ ।

(ख) एवं यत्रेष्टार्थावाप्तिसत्त्वेऽपि श्लेषवशादसतोऽनिष्टार्थस्य प्रतीतिस्तत्रापि समालंकारस्य न क्षतिः । —**वही**, वृत्ति ९३ ।

(ग) श्लेषलब्धाऽसदिष्टावाप्तिप्रतीतिमात्रेणापि गतमुदाहरणम् । —**वही**, वृत्ति ९३ ।

२. अनुरूप संसर्गः समम् । —**रसगंगाधर**, द्वितीय आनन, पृ० ५०३ ।

३. (क) संयोगादिलक्षणस्यानुरूपता द्वेधा-स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दापर्यवसायिनीच्च । —**वही**, द्वितीयानन, पृ० ५११ ।

(ख) द्रष्टव्य— —**वही**, पृ० ५१२ पर उदाहरण ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उक्त भेद (संसर्ग) संगृहीत हो जाते हैं। जैसे विषम अलङ्कार के तीन भेद हैं, उसी प्रकार उसके विपरीत सम अलङ्कार के भी उपर्युक्त तीन भेद हैं।[1]

इस प्रकार आचार्य मम्मट द्वारा स्वीकृत 'अनुरूप वस्तुओं का योग सम अलङ्कार है। इस मूल धारण को परवर्ती सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है।

असङ्गति अलंकार—असंगति विरोधमूलक अलङ्कार है। यह कार्य-सम्बन्ध की असंगति पर अवलम्बित है। सामान्यतः जहाँ कारण होता है वहीं उसके कार्य का जन्म होता है, किन्तु काव्य में जहाँ कारण से भिन्न देश में उसके कार्य की उत्पत्ति का चामत्कारिक वर्णन होता है, वहाँ असंगति अलङ्कार माना जाता है।

असङ्गति अलङ्कार की सर्वप्रथम प्रतिष्ठापना आचार्य रुद्रट ने की है। उन्होंने इसे अतिशयमूलक अलङ्कार वर्ग में स्वीकार किया है। भामहादि इसे विरोध में सन्निविष्ट मानते हैं। रुद्रट ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—"जहाँ एक ही समय कारण के अन्यत्र और उसके कार्य के अत्यत्र होने का स्पष्ट वर्णन हो, वहाँ असङ्गति अलङ्कार होता है।[2]

भोजराज ने असङ्गति को स्वतन्त्र अलङ्कार न मानकर विरोध अलङ्कार का एक भेद मात्र स्वीकार किया है। रुद्रट के अनन्तर मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रुद्रट की ही तरह असङ्गति अलङ्कार का स्वरूप निरूपण किया है कि कारण और कार्य का भिन्न-देशीय होना ही असङ्गति है।[3]

प्राचीन आचार्य यथा भामह, भोजराज आदि जो इस अलङ्कार को विरोध अलंकार के भेदों में गिनते हैं, मम्मट ने उनके मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि असङ्गति विरोध को बाधित करने वाली है, विरोध नहीं है। क्योंकि असंगति में

---

१. संसर्गः पूर्ववद् द्विविधः। तत्रोत्पत्तिलक्षणस्य संसर्गस्यानुरूपत्वं कारणात्स्वसमानगुणकार्योत्पत्त्या, यादृशगुणकवस्तुसंसर्गस्तादृशगुणोत्पत्त्या, यत्किंचिदिष्टप्राप्त्यर्थं प्रयुक्तात् कारणात्तत्प्राप्त्या च।...संयोगादिलक्षणस्यापि संसर्गिणोरन्यतरगुणस्वरूपानुग्राह्यान्तरगुणस्वरूपतयाऽनुरूपत्वम्। एवं चानुरूपसंसर्गत्वेन सामान्यलक्षणेन सर्वे भेदाः संगृहीता भवन्ति। एवं यथा विषमालङ्कारस्त्रिभेदस्तथा तद्विपरीतभेदत्रययुक्तः समालंकारोऽपि प्रपञ्चितः। —**रसगंगाधर**, द्वितीय आनन ५०४ और ५१३।

२. विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयासंगतिः सेयम्॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट), ९।४८।

३. (क) भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र रूयातिः सा स्यादसङ्गतिः॥
—**काव्यप्रकाश**, १०।१९१।

(ख) तयोर्विभिन्नदेशत्वेऽसंगति। —**अलंकारसर्वस्व**, सूत्र—४४।

(ग) कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः। —**साहित्यदर्पण**, १०।६९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

भिन्न-भिन्न आधार के होने से ही कार्य और कारण का विरोध झलकता है, किन्तु विरोध में तो बिना कहे भी भिन्न-भिन्न देशवर्ती वस्तुओं का एक आधार में रहना रूप विरोध ही तात्पर्य का विषय होता है।[1]

जयदेव ने असंगति अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है—कार्य और कारण की भिन्न देश में अवस्थिति होने को असङ्गति कहते हैं।[2]

अप्पयदीक्षित ने असंगति अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की है—जहाँ कारण तथा कार्य का भिन्न स्थलों पर होना विरुद्ध होता है, उन कारण-कार्य का विरुद्धदेशत्व जहाँ वर्णित किया जाए, वहाँ असङ्गति अलंकार होता है।[3] यदि कार्य-कारण का भिन्न देशगतत्व विरुद्ध न हो, तो असंगति नहीं होगी। जैसे बादलों ने विष (जल) पिया और वियोगिनियाँ मूर्च्छित हो गईं। इस उदाहरण में कारण-कार्य की विरुद्ध भिन्न देशता है अतः असंगति अलंकार है।[4] असङ्गति अलंकार का यह चमत्कार 'विप' शब्द के श्लिष्ट (विष, जल) प्रयोग पर आधारित है। तात्पर्य यह है जो कारण-कार्य साधारणतः एक देश में रहते हैं, उनके भिन्न देशत्व का रमणीय वर्णन असङ्गति अलंकार है।

इसके अतिरिक्त असंगति के दो और रूपों की कल्पना अप्पयदीक्षित ने की है—१. अन्यत्र करणीय कार्य को अन्यत्र कर देना तथा २. अन्य कार्य को करने में प्रवृत्त व्यक्ति का उस कार्य-विशेष को न करके उससे विरुद्ध अन्य कार्य कर बैठना। इस प्रकार अप्पयदीक्षित ने असङ्गति के तीन भेद स्वीकार किये हैं।[5]

---

१. एषा च विरोधबाधिनी न विरोधः भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधितायाः प्रतिभासात्। विरोधे तु विरोधित्वं एकाश्रयनिष्ठमनुक्तमपि पर्यवसितम्। अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः।

—**काव्यप्रकाश**, १०।१९१ वृत्ति, पृ० ५७६।

२. आख्याते भिन्नदेशत्वे कार्यहेत्वोरसंगतिः।

—**चन्द्रालोक**—५।७९।

३. (क) विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसङ्गतिः। —**कुवलयानन्द**—८५।

(ख) ययोः कार्यहेत्वोर्भिन्नदेशत्वं विरुद्ध तयोस्तन्निबध्यमानमसङ्गत्यलंकारः। —**वही**, ८५ वृत्ति।

४. (क) विषं जलधरैः पीतं मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः॥

—**वही**,—८५।

(ख) यथात्र विषपान-मूर्च्छयोर्भिन्नदेशत्वम्।

—**वही**, ८५, वृत्ति।

५. अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्रकृतिश्च सा।
अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा॥

—**कुवलयानन्द**—८६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्ववर्ती आचार्यों की असंगति की धारणा को स्वीकार करके भी उसके लक्षण में परिवर्तन एवं परिष्कार किया है। उनके अनुसार प्रथम दृष्टि में विरुद्ध प्रतीत होने वाला कार्य-कारण का वैयधिकरण्य (एक स्थान में न रहना) ही असङ्गति अलङ्कार है। अन्य शब्दों में कारण और कार्य की उस भिन्न देशता को असंगति कहते हैं, जो आपाततः विरुद्ध प्रतीत होती है।[1] जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित द्वारा वर्णित असंगति के प्रथम भेद—'अन्यत्र करणीय का अन्यत्र कर देना'—का असङ्गति के अपने लक्षण में अन्तर्भाव कर दिया है तथा द्वितीय भेद—अन्य कार्य में प्रवृत्त व्यक्ति के द्वारा अन्य कार्य कर देना—को विभावना का एक भेद माना है, असंगति नहीं।[2] असंगति अलङ्कार के निरूपण में पण्डितराज ने प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण किया है, अतः उसमें किसी नये विचार का प्रसङ्ग नहीं आया है।

निष्कर्ष यह है कि असंगति में कारण और कार्य की एक साथ भिन्न-भिन्न अधिकरण में सत्ता दिखाई जाती है। यह भिन्नदेशत्व या वैयधिकरण्य विरुद्ध प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में कारण-कार्य के भिन्न देशगत होने में जान पड़ने वाला वह विरोध प्रातिभासिक होता है, वास्तविक नहीं, क्योंकि यथार्थ विरोध की स्थिति में तो काव्योक्ति नहीं, उन्मत्तोक्ति ही हो जायेगी।

विचित्र अलंकार—राजानक रुय्यक ने सर्वप्रथम विचित्र अलंकार के स्वरूप की कल्पना कर उसे स्वतन्त्र अलकार माना। विमर्शिनीकार के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ग्रन्थकार ने यह अलंकार नवीन कहा है।[3] रुय्यक के अनुसार "जहाँ कर्ता अपने अभीष्ट फल के विपरीत फल के लिए प्रयत्न करता हो, वहाँ विचित्र अलंकार होता है।[4] स्पष्टतः जिस हेतु का जो फल होता है, यदि उसके विपरीत उसका फल हो, तो उस हेतु से विपरीत फल की सिद्धि के लिये किसी का प्रयत्न या उत्साह विचित्र अलंकार कहा जाता है। क्योंकि ऐसा प्रयत्न आश्चर्य की प्रतीति का हेतु होता है। यह विषमालंकार का प्रथम भेद-विरूप कार्योत्पत्ति नहीं हैं, क्योंकि इसमें विपरीतता का ज्ञान स्व (हेतु) के अर्थात् अनुकूल प्रयत्न के निषेध द्वारा होता है है, जबकि विपरीत-प्रतीति के द्वारा अपना (हेतु) निषेध

---

१. विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसंगतिः।
—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन पृ० ४६४।

२. द्रष्टव्य, **वही**, पृ० ४६९—४७६।

३. एतद्धि ग्रन्थकृताऽभिनवत्वेनोक्तम्।
—**अलंकारसर्वस्व विमर्शिनी**

४. स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्।
—**अलंकारसर्वस्व**, सूत्र ४७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विषमालंकार का स्वरूप है ।[1] निष्कर्ष यह है कि अभीष्ट फल के विपरीत यत्न की विचित्रता के आधार पर इसकी अन्वर्थ संज्ञा कल्पित हुई है ।

विश्वनाथ, जयदेव और अप्पयदीक्षित ने रुय्यक के मतानुसार ही विचित्र अलंकार की परिभाषा की है कि इष्ट फल के लिये विरुद्ध कार्य करना विचित्र कहा जाता है ।[2] यही लक्षण पण्डितराज जगन्नाथ को भी मान्य है । उन्होंने इष्ट-सिद्धि के लिये इष्ट के विपरीत आचरण को विचित्र का लक्षण स्वीकार करके उसके शुद्ध तथा अन्य अलंकारों से संकीर्ण भेदों के उद्धरण दिये हैं ।[3] पण्डितराज जगन्नाथ ने विचित्र अलकार के लक्षण की व्याख्या में यह भी स्पष्ट लिखा है कि इष्टफल तथा आचरण में अनुकूल-आभास के स्थल में भी विचित्र अलंकार होता है ।[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजानक रुय्यक ने विचित्र अलंकार के जिस स्वरूप की उद्भावना की थी, वही स्वरूप उनके उत्तरवर्ती आचार्यों को भी मान्य हुआ, परिणामतः इस अलंकार के स्वरूप के सम्बन्ध में एकरूपता बनी रही ।

अधिक अलंकार—अधिक अलंकार का स्वतन्त्र अलंकार के रूप में निरूपण सर्वप्रथम रुद्रट ने किया है । उन्होंने इसे अतिशय वर्ग में स्वीकार किया है । रुद्रट से पूर्व आचार्य दण्डी ने इस अलंकार को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में न स्वीकार कर अतिशयोक्ति के एक भेद आश्रयातिशय रूपा अतिशयोक्ति के रूप में वर्णन किया था, जिसमें आश्रित के महत्त्व की विवक्षा से आश्रय की विशालता का वर्णन अपेक्षित माना गया था ।[5]

---

१. यस्य हेतोर्यत्फलं, तस्य यदा तद्विपरीतं भवति, तथा तद्विपरीतफलनिष्पत्त्यर्थं कस्यचित्प्रयत्न उत्साहो विचित्रालंकारः । आश्चर्यप्रतीतिहेतुत्वात् । न चायं प्रथमो विषमालंकारप्रकारः । स्वनिषेधमुखेन वैपरीत्यप्रतीतेः । विपरीतप्रतीत्या तु स्वनिषेधस्तस्य विषमः । इह तु अन्यथा प्रतीतिः । —**अलंकारसर्वस्व** वृत्ति, पृ० २४७–२४८ ।

२. (क) विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतरिष्टफलाय चेत् ॥ —**साहित्यदर्पण**, १०।७१ ।

(ख) विचित्रं चेत्प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः । —**चन्द्रालोक**, ५।८२ ।

(ग) विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद् विपरीत फलेच्छया ॥ —**कुवलयानन्द** ९४ ।

३. (क) इष्टसिद्ध्यर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरणं विचित्रम् । —**रसगंगाधर द्वितीयानन** पृ० ५१५ ।

(ख) द्रष्टव्य,—वही, पृ० ५१६ ।

४. यदि तु इष्टैषिणो भ्रान्तत्वाभिव्यक्तेस्तुल्यत्वात्स्वतः सिद्धे इष्टे तदनुकूलाभासप्रयोगोऽभीष्टैषिकर्तृको विचित्रमित्युच्यते । —**वही**, पृ० ५१७ ।

५. द्रष्टव्य—दण्डी—काव्यादर्श २।२१९ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य रुद्रट ने अधिक अलंकार के दो लक्षणों की कल्पना की है—१. जहाँ एक कारण से परस्पर विरुद्ध दो वस्तुएँ उत्पन्न हो तथा जहाँ एक कारण से बल वाली क्रियाओं से युक्त दो वस्तुएँ उत्पन्न हों, वहाँ अधिक अलंकार होता है। २. जहाँ विशाल आधार में अवस्थित छोटी वस्तु के भी किसी कारण से उसमें समा न सकने का वर्णन हो, वहाँ अधिक अलंकार होता है।[१]

सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता भोज ने अतिशयोक्ति के महत्त्वातिशय भेद में अधिक को अन्तर्भूत मानकर उसका पृथक् निरूपण नहीं किया है। भोज ने अतिशयोक्ति के इस भेद के उदाहरण के रूप में वही पद्य उद्धृत किया है जो दण्डी ने आश्रयातिशय अतिशयोक्ति में दिया है।[२]

मम्मटाचार्य ने अधिक अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की है—जहाँ आधेय (आश्रित) और आधार (आश्रय) के विशाल होने पर उनकी अपेक्षा अल्प भी आधार और आधेय (वर्णनीय वस्तु का उत्कर्ष प्रतिपादन करने के लिये) अधिक बड़े वर्णित किये जाये, वहाँ अधिक नामक अलंकार होता है।[३]

यह अलंकार आधार-महत्त्व वर्णन और आधेय-महत्त्व वर्णन रूप से दो प्रकार का होता है। आचार्य दण्डी ने जिस पद्य को अपने आश्रयअतिशय रूप अतिशयोक्ति के उदाहरण में उद्धृत किया था, उसी को आचार्य मम्मट ने (आधार नामक प्रथम भेद रूप) अधिक अलंकार में उदधृत किया है।[४]

रुय्यक ने अधिक की परिभाषा इस प्रकार दी है—आश्रय और आश्रयी में अनुरूपता न होना अधिक है।[५] यह अनुरूपता दो रूपों में होती है—(अ) आश्रय के विपुल होने पर भी आश्रित के परिमित होने से होती है। तथा (ब) आश्रित के विपुल होने पर भी आश्रय के परिमित होने से होती है।

जयदेव ने अधिक अलंकार की परिभापा इस प्रकार की है—आधार से

---

१. यत्रोन्योन्यविरुद्धं विरुद्धवलवत् क्रियाप्रसिद्धं वा।
वस्तुद्वयमेकस्माज्जायत इति तद्भवेदधिकम् ॥
यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थियं तनीयोऽपि।
अतिरिच्येत कथंचित्तदधिकमपरं परिज्ञेयम् ॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट) ६।२६,२८।

२. द्रष्टव्य—**सरस्वतीकण्ठाभरण**—४।२२० और दण्डी **काव्यादर्श**, २।२१६।

३. महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात्।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥
—**काव्यप्रकाश** १०।१६५।

४. **दण्डी काव्यादर्श** २।२१६ और मम्मट-**काव्यप्रकाश** १०।५४२।

५. आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम्। —**अलंकारसर्वस्व** सूत्र-४८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आधेय के अधिक वर्णन में अधिकं अलंकार होता है।[१] उनके द्वारा आधाराधिक्य और आधेयाधिक्य रूप से दो भेद माने गये हैं।

विश्वनाथ ने भी आश्रय तथा आश्रयी में से एक का दूसरे की अपेक्षा अधिक होना अधिक अलंकार का लक्षण स्वीकार किया है।[२]

अप्पयदीक्षित ने भी पृथुल आधार की अपेक्षा आधेय की अधिक पृथुलता का वर्णन तथा पृथुल आधेय की अपेक्षा आधार की अधिक पृथुलता का वर्णन होने पर इन दोनों रूपों में अधिक अलंकार स्वीकार किया है।[३]

जगन्नाथ के मतानुसार आधार और आधेय में से किसी एक को अत्यंत बृहत् सिद्ध करने के लिये उसकी तुलना में दूसरे की अतिन्यूनता की कल्पना करना ही अधिक अलंकार है।[४] स्पष्ट है कि जगन्नाथ की मान्यता भी यही है कि जहाँ आश्रय का अतिशय आधिक्य बताने के लिये आश्रित गुरु वस्तु को भी आश्रय की तुलना में बहुत छोटा बताया जाये और इसी प्रकार आश्रयी की अतिशय गुरुता बताने की दृष्टि से वास्तव में अतिविस्तृत आधार को भी उसकी तुलना में बहुत लघु वर्णित किया जाए, वहाँ अधिकालंकार होता है।

निष्कर्ष यह है कि गुरु आधार की अपेक्षा आधेय को अधिक बड़ा बताना तथा गुरु आधेय से आधार को बड़ा बताना, ये दो रूपों वाला अधिक नामक अलंकार होता है। सभी आचार्यों के लक्षण में एकरूपता दिखाई देती है।

यहाँ स्मरणीय है कि अधिक अलंकार के विपर्यय के रूप में अप्पयदीक्षित ने अल्प अलंकार की कल्पना की हैं। उनके अनुसार जहाँ सूक्ष्म आधेय से भी आधार की अधिक सूक्ष्मता का वर्णन किया जाता है वहाँ अल्प अलंकार होता है।[५]

अन्योन्य अलंकार—अन्योन्य अलंकार के उद्भावक आचार्य रुद्रट हैं। उन्होंने वास्तवमूलकअन्योन्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—जहाँ दो पदार्थों की परस्पर क्रिया से किसी तत्त्व विशेष का पोषण करने वाला (अर्थात् वैशिष्टच लाने वाला) एक कारक-भाव हो, वहाँ अन्योन्य अलंकार होता है।"[६] तात्पर्य यह है कि

---

१. अधिकं बोध्यमाधारादाधेयाधिकवर्णनम्। —**चन्द्रालोक** ५।८३।

२. आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते। —**साहित्यदपण** १०।७२।

३. अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम्।
पृथ्वाधेयाद्यदाधाराधिक्यं तदपि तन्मतम्॥ —**कुवलयानन्द** ९५–९६।

४. आधाराधेययोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्वसिद्धिफलकमितरस्याति न्यूपत्वकल्पनमधिकम्। —**रसगंगाधर**, द्वितीय आनन, पृ० ५१९

५. अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता। —**कुवलययानन्द**, ९७

६. यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया।
संजायेत स्फारिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम्॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट), ७।९१

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

जहाँ किसी विशेष तत्त्व को पुष्ट करने के लिये दो पदार्थ परस्पर मिलकर एक क्रिया के कर्ता, कर्म आदि हो जायें, वहाँ अन्योन्य अलंकार होता है। अन्योन्य अलंकार के मूल में दो पदार्थों के पारस्परिक उपकार की धारणा निहित है। दोनों पदार्थ एक दूसरे के लिये समान क्रिया करते हैं। इसीलिये दोनों में परस्पर क्रिया का एक कारकभाव रहता है। इसी कारण इस अलंकार की अन्योन्य संज्ञा अन्वर्थ है।

भोजराज ने अन्योन्य अलंकार की मूल धारणा में कोई परिवर्तन न करके भी रुद्रट की अपेक्षा इसे सरल रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार—परस्पर उपकार का नाम अन्योन्य है। उन्होंने इसके वाच्य, प्रतीयमान तथा उभयात्मक रूप से तीन भेद माने हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने तीन और नवीन भेदों की कल्पना की है—१. अन्योन्यचूलिका, २. अन्योन्यभ्रान्ति और ३. अन्योन्य एकात्मकता।[1]

ध्वनि-तत्त्व-विवेचन के पल्लवित होने के कारण भोजराज द्वारा स्वीकृत वाच्यादि भेदों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। अन्योन्यचूलिका भेद में दो पदार्थ का पारस्परिक उपकार दिखाकर समन्वित रूप से दोनों का अन्य-उपकार करना दिखाया जाता है।[2] अन्योन्य भ्रान्ति में अन्योन्य तथा भ्रान्तिमान् अलंकारों का चमत्कार होता है। उद्धृत उदाहरण[3] में अन्योन्य की अपेक्षा भ्रांतिमान् का चमत्कार अधिक होने से इसे भ्रान्तिमान् का ही एक भेद स्वीकार करना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है। अन्योन्य एकता में दो पदार्थों की परस्पर एकता की भावना व्यक्त की गई है। इन भेदों में कोई विशेष चमत्कार नहीं है। सम्भवतः इसीलिये ये भेद परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य नहीं हो सके।

आचार्य मम्मट ने रुद्रट के ही लक्षण को आधार बनाकर अन्योन्य अलंकार को इस प्रकार परिभाषित किया है—"एक क्रिया के द्वारा दो वस्तुओं के परस्पर कारण या जनक हो जाने पर अन्योन्य अलंकार होता है।"[4] यहाँ स्मरणीय है कि

---

१. अन्योन्यमुपकारो यस्तदन्योन्यं त्रिधा च तत्।
वाच्यं प्रतीयमानं च तृतीयमुभयात्मकम् ॥
अन्योन्यचूलिकान्योन्यभ्रान्तिरन्योन्यमेकता ।
अन्योन्यालंकृतेरन्तस्त्रयमेतदिहेष्यते ॥

—**सरस्वतीकण्ठाभरण** ३।२७–२८

२. शशिना च निशा निशया च शशी शशिना निशया च यथा गगनम्।
भवता च सभा सभया च भवान् सभया भवता च तथा भुवनम् ॥

—वही ३।७५।

३. द्रष्टव्य—**सरस्वतीकण्ठाभरण**—३।७८।

४. क्रियया तु परस्परम्। वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्।

—**काव्यप्रकाश**, १०।१८७–१८८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

इस अलंकार में वस्तुतः दोनों पदार्थ एक दूसरे के जनक नहीं होते, वे दोनों एक-दूसरे में स्थित क्रिया के जनक होते हैं और इसी से उनमें परस्पर जन्य-जनक भाव की भी कल्पना कर ली जाती है।

राजानक रुय्यक ने काव्यप्रकाशोक्त अन्योन्य अलंकार के लक्षण को ही संक्षिप्त कर दिया है—"क्रिया के परस्पर निष्पादन में अन्योन्य अलंकार होता है।"[1] इस अलंकार को विरोधमूलक मानते हुए रुय्यक ने लिखा है कि इसमें परस्पर उत्पादन विरोध युक्त होता है। जहाँ परस्पर जनकता क्रिया के माध्यम से होती है, स्वरूप के आधार पर नहीं, क्योंकि स्वरूप को एक-दूसरे का जनक बताने में विरोध होता है, वहाँ अन्योन्य नामक अलंकार होता है।[2]

जयदेव ने भोजराज के ही लक्षण का समर्थन किया है—जहाँ एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ का उपकारक बतलाया जाता है, वहाँ अन्योन्य नामक अलंकार होता है।[3]

विश्वनाथ का लक्षण मम्मट तथा रुय्यक के लक्षण से मिलता जुलता है—दो पदार्थों का एक क्रिया के द्वारा परस्पर कारण होने पर अन्योन्य अलंकार होता है।[4]

अप्पयदीक्षित ने जयदेव का अनुसरण किया है।[5] जगन्नाथ ने अन्योन्य अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—दो जनों का परस्पर विशेषाधान होने पर अन्योन्य अलंकार माना जाता है।[6] उन्होंने इसके गुण रूप विशेषाधान और क्रिया रूप विशेषाधान रूप से दो उदाहरण दिये हैं।

इस प्रकार अन्योन्य के सम्बन्ध में सभी आचार्य एकमत दिखाई पड़ते हैं। सभी आचार्यों के मत का निष्कर्ष यह है कि जहाँ दो पदार्थ एक क्रिया से परस्पर एक दूसरे का उपकार या उत्कर्षाधान करते हुए वर्णित हों, वहाँ अन्योन्य अलङ्कार होता है।

विशेष अलङ्कार—विशेष अलङ्कार के भी सर्वप्रथम दर्शन रुद्रट के काव्या-

---

१. परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम्। —**अलंकारसर्वस्व** सूत्र ४६।

२. परस्पर जननस्य विरुद्धत्वात्। क्रियाद्वारकं यत्र परस्परोत्पादकत्वं, न स्वरूपनिबन्धनं, स्वरूपस्य तथात्वोक्तिविरोधात्, तत्रोन्योन्याख्योऽलंकारः। —वही, सूत्र ४६ की वृत्ति।

३. अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्। —**चन्द्रालोक**, ५।८४।

४. अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः। —**साहित्यदर्पण**, १०।७२।

५. अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्। —**कुवलयानन्द**, ६८।

६. द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम्। —**रसगंगाधर**' द्वितीयआनन, पृ० ५२५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

लङ्कार में ही होते हैं। उन्होंने इसे अतिशयमूलक अलङ्कार वर्ग में रखा है। रुद्रट ने विशेष अलङ्कार के तीन भेदों की कल्पना की है—

१. प्रथम विशेष वह है जहाँ किसी आधेयभूत वस्तु का उसके नियत आधार के विना (निराधार) वर्णन हो और वह निराधार वस्तु-वर्णन उपपन्न हो।[1]

२. दूसरा विशेष अलङ्कार रूप वह है जहाँ एक-एक ही वस्तु का एक साथ अनेक आधारों में सद्भाव वर्णित हो।[2]

३. जहाँ कर्ता कोई कार्य करता हुआ उसके साथ ही कोई ऐसा अन्य कार्य भी अनायास कर देता है, जिस कार्य को करने में वह असमर्थ होता है, तो वहाँ विशेष अलङ्कार होता है।[3]

रुद्रट स्वीकृत ये तीनों विशेष-भेद परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुए हैं। रुद्रट ने विशेष अलङ्कार के प्रथम भेद के लक्षण में निराधार वस्तु-वर्णन के उपपन्न होने की वात का उल्लेख किया है। किन्तु मम्मटादि परवर्ती आचार्यों ने इस तथ्य का उल्लेख न करके केवल इतना कहा है कि प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय का वर्णन विशेष है।[4]

आचार्य मम्मट ने इस अलङ्कार के भेदों का लक्षण इस प्रकार दिया है— १. जहाँ प्रसिद्ध आधार के विना आधेय वस्तु की स्थिति का वर्णन किया जाता है। २. जहाँ एक वस्तु की अनेक वस्तुओं में एक साथ एक रूप वृत्ति का वर्णन किया जाता है। तथा ३. जहाँ वेग से अन्य कार्य करते हुए व्यक्ति के किसी अन्य अशक्य कार्य का उसी प्रकार से करने का वर्णन किया जाता है, वहाँ तीन प्रकार का विशेष अलङ्कार कहा गया है। ४. आचार्य मम्मट ने विशेष अलङ्कार के सम्बन्ध में एक

---

१. किंचिदवश्याधेयं यस्मिन्नभिधीयते निराधारम्।
ताद्दगुपलभ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेष इति॥
—काव्यालङ्कार (रुद्रट) ९।५।

२. यत्रैकमनेकस्मिन्नाधारे वस्तु विद्यमानतया।
युगपदभिधीयतेऽसावत्रान्यः स्याद् विशेष इति॥—वही ९।७।

३. यत्रान्यत्कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तरं च कुर्वीत।
कर्तुमशक्यं कर्ता विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽन्यः॥—वही ९।९।

४. विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद् वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा॥
अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यान्यवस्तुनः।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः॥—काव्यप्रकाश, १०।२०३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अन्य विशेषता का उल्लेख करते हुए कहा है कि विशेषालङ्कार में अतिशयोक्ति प्राण रूप में अवतिष्ठित रहती है, क्योंकि उसके विना अलङ्कारत्व असम्भव है।[1]

राजानक रुय्यक ने रुद्रट-कृत विशेष के लक्षणों को ही मान्यता प्रदान की है। उनके अनुसार आधेय का आधारहीन होना, एक का अनेक गोचर होना तथा असम्भाव्य वस्त्वन्तर का निष्पादन होना विशेष है।[2] उन्होंने स्पष्ट रूप से त्रिविध विशेष अलङ्कार स्वीकार किया है। आधार के विना आधेय नहीं रहता, ऐसा होने पर भी उस आधार को छोड़कर आधेय का वर्णन विशेष का प्रथम भेद है। एक परिमित वस्तु को एक साथ अनेकत्र वर्तमान बताना दूसरा विशेष है तथा किसी का तो प्रारम्भ हो, और निष्पादन किसी अन्य असम्भाव्य वस्तु का हो, वह तीसरा विशेष है।[3] विमर्शिनीकार के कथन से भी त्रिविध विशेष अलङ्कार के स्वीकरण की बात पुष्ट होती है।[4]

जयदेव ने केवल प्रथम भेद को ही विशेष अलङ्कार माना है, उन्होंने अन्य दो भेदों की चर्चा नहीं है। उनके अनुसार आधार के विना ही आधेय के वर्णन में विशेष अलङ्कार होता है।[5]

विश्वनाथ ने काव्यप्रकाशोक्त विशेष अलङ्कार के भेदों का अनुवाद मात्र कर दिया है। उनके अनुसार जहाँ विना आधार के ही आधेय रहे अथवा एक वस्तु अनेक स्थानों पर एक समय में विराजमान वर्णित हो अथवा एक कार्य करते हुए किसी के द्वारा अन्य अशक्य कार्य का भी दैववश सम्पादन उपनिबद्ध हो।[6] विश्वनाथ

---

१. सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्।—**काव्यप्रकाश**, १०।२०३ वृत्ति, पृ० ५९८।

२. अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः।
—**अलङ्कारसर्वस्व**, सूत्र—५०

३. इहाधारमन्तरेणाधेयं न वर्तत इति स्थितावपि यस्तत्परिहारेणाधेयस्योपनिबन्धः, स एको विशेषः। यच्चकं वस्तु परिमितं युगपदनेकधा वर्तमानं क्रियते, स द्वितीयो विशेषः। यच्च किंचिदारभमाणस्यासंभाव्यवस्त्वन्तरकरणं, स तृतीयो विशेषः।—**वही**, सूत्र ५०, वृत्ति।

४. विशेषाश्चात्र त्रयो न पुनरेकास्त्रिविधः लक्षणस्य भिन्नत्वात्। उचितस्य तु विशिष्टत्वस्य भावात् त्रयाणामपि विशेषत्वम्।—**वही विमर्शिनी**।

५. विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम्।—**चन्द्रालोक**, ५।८५।

६. यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम्।
किञ्चित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा॥
कार्यस्य करणं दैवाद्विशेषस्त्रिविधस्ततः।—**साहित्यदर्पण**, १०।७३-७४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

ने विशेष अलङ्कार के त्रिविध भेदों के उदाहरण भी **काव्यप्रकाश** से ही लिये हैं, केवल दूसरे भेद का उदाहरण परिवर्तित किया है।

अप्पयदीक्षित ने विशेष अलङ्कार के प्रथम भेद के लक्षण तथा उदाहरण में जयदेव कृत लक्षण तथा उदाहरण को यथावत् उद्धृत कर दिया है। उनके अनुसार जहाँ किसी प्रसिद्ध आधार के बिना ही आधेय का वर्णन किया जाए, वहाँ विशेष अलङ्कार होता है।[1] यहाँ ध्यातव्य है कि उन्होंने प्रथम विशेष भेद के दो प्रकार प्रदर्शित किये हैं—१. जहाँ प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय का वर्णन किया जाता है[2] और २. जहाँ कभी-कभी प्रसिद्ध आधार से रहित आधेयों का कोई अन्य आधार नहीं बताया जाता है तथा आधार विशेष के बिना ही उनकी आप्रलय स्थिति का वर्णन किया जाता है।[3] इसके अतिरिक्त उन्होंने विशेष के अन्य दो भेदों के लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों के आधार पर निर्दिष्ट किये हैं। उनके अनुसार जहाँ एक ही वस्तु का अनेकत्र वर्णन किया जाये, वहाँ भी विशेष अलङ्कार होता है।[4] जहाँ किसी वस्तु के आरम्भ से अन्य अशक्य वस्तु की रचना का वर्णन किया जाये, वहाँ भी विशेष अलङ्कार होता है।[5]

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रथमतः विशेषालंकार दो प्रकार का स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ लोक में विख्यात आश्रय के बिना ही उसके आधेय का वर्णन किया जाये, वहाँ एक प्रकार का विशेष अलङ्कार होता है और जहाँ किसी ऐसे आधेय का, जो एक निश्चित तथा सीमित आधार में ही रहता हो, युगपत् (एक साथ) अनेक आधारों में वर्णन किया जाए, वहाँ दूसरे प्रकार का

---

१. विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम् ।—**कुवलयानन्द**, ९९ ।

२. (क) गतेऽपि सूर्ये दीपस्थास्तमश्छिन्दन्ति तत्कराः ॥—**वही**, ९९ ।

(ख) अत्राद्ये सूर्यस्य प्रसिद्धाधारस्याभावेऽपि तत्कराणामन्यत्रावस्थितिरुक्ता ।—**वही**, वृत्ति ९९ ।

३. क्वचित्प्रसिद्धाधाररहितानामाधारान्तरनिर्देशं विनैवाप्रलयमवस्थितेः वर्णनं दृश्यते यथा वा—

दिवमप्युपयातानामकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥

अत्र कवीनामभावेऽपि तद्गिरामाधारान्तरनिर्देशं विनैवाप्रलयमवस्थितिः वर्णिता ।—**वही**, वृत्ति, पृ० १७० ।

४. विशेषः सोऽपि यद्येकं वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते ।
अन्तर्बहिः पुरः पश्चात् सर्वदिक्ष्वपि सैव मे ॥—**वही**, १०० ।

५. किंचिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः ।
त्वां पश्यता मया लब्धं कल्पवृक्षनिरीक्षणम् ॥—**वही**, १०१ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विशेषालङ्कार होता है।[1] प्रस्तुत लक्षण में 'युगपत्' विशेषण का प्रयोग होने से 'पर्याय' अलङ्कार में अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि पर्याय में भी एक ही आधेय का अनेक आधारों में वर्णन रहता है किन्तु एक साथ (युगपत्) नहीं होता, अपितु क्रमशः होता है। विशेषालङ्कार के उपर्युक्त दो प्रकारों में से प्रथम भेद के पुनः दो अवान्तर भेद प्रसिद्ध हैं—१. प्रसिद्ध आधार से भिन्न किसी अन्य अप्रसिद्ध आधार में आधेय का वर्णन करना। और २. विना किसी आधार के वर्णन करना।[2] पण्डितराज ने विशेषालङ्कार के तृतीय भेद को स्पष्ट रूप से विशेषालङ्कार के रूप में स्वीकृति प्रदान नहीं की है। उन्होंने अप्पयदीक्षित द्वारा उद्धृत उदाहरण का जिस रीति से खण्डन किया है, उससे यही प्रतीत होता है कि वे वहाँ पर निदर्शना अलङ्कार मानते हैं। वस्तुतः उनका अभीष्ट अस्पष्ट है।[3]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विशेषालङ्कार के तीन प्रकारों के सम्बन्ध में लगभग सभी मान्य आचार्य एकमत रहे हैं—

१. प्रसिद्ध आधार के विना किसी आधेय का वर्णन।

२. एक वस्तु का एक साथ अनेक आधारों में सद्भाव का वर्णन।

३. एक कार्य को करते हुए दैवयोग से कर्ता का अन्य अशक्य कार्य को निष्पादित करने का वर्णन।

व्याघात अलङ्कार—व्याघात विरोधमूलक अलङ्कार है। इसमें कवि दो विरोधी साधनों का कथन करते हुए चमत्कार की सृष्टि करता है। सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने ही अतिशयमूलक अलङ्कार वर्ग में व्याघात अलङ्कार की कल्पना की। इनके अनुसार जहाँ अन्य कारणों से प्रतिहत न होने पर भी कोई कारण कार्य को उत्पन्न न कर सके, वहाँ व्याघात नामक अलङ्कार होता है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि

---

१. (क) प्रसिद्धमाश्रयं विना आधेयं वर्ण्यमानमेको विशेष प्रकारः। यच्चैकमाधेयं परिमितर्यत्किचिदाधारगतमपि युगपदनेकाधारगततया वर्ण्यते सोऽपरो विशेषप्रकारः।—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ५३१।

(ख) युगपदिति विशेषणाद् वक्ष्यमाणे पर्यायेनातिव्याप्तिः।
—**वही**, द्वितीयानन, पृ० ५३२।

२. तत्र प्रथमः प्रकारो द्विविधः—आधारान्तरगतत्वेन आधेय वर्ण्यमानम्, निराधारत्वेन च।—**वही**, द्वितीयानन, पृ० ५३३।

३. द्रष्टव्य—**वही**, द्वितीयानन, पृ० ५३५–५३९।

४. अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति विज्ञेयः॥
—**काव्यालङ्कार** (रुद्रट), ९।५२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

रुद्रट ने उद्भट के विशेषोक्ति अलङ्कार[१] के आधार पर ही व्याघात का लक्षण बनाया है। कदाचित् इसी कारण उन्होंने विशेषोक्ति का निरूपण नहीं किया है। रुद्रट की परिभाषा परवर्ती आचार्यों के लक्षण से भिन्न है। इन्होंने जिसे व्याघात के रूप में स्वीकार किया है, अन्य आचार्यों ने उसे विशेषोक्ति माना है।

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ किसी के द्वारा जो वस्तु जिस उपाय से सिद्ध की गई है, दूसरे के द्वारा वह वस्तु उसी उपाय के द्वारा विपरीत कर दी जाए, वहाँ व्याघात अलङ्कार होता है।[२] वृत्ति में अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि जिस उपाय के द्वारा किसी वस्तु को एक व्यक्ति ने सिद्ध किया है, यदि अन्य व्यक्ति विजय की इच्छा से उस उपाय के द्वारा ही उसको जो अन्यथा सिद्ध कर देता है, वह पूर्वसाधित वस्तु के व्याघात का हेतु होने से व्याघात अलङ्कार कहा जाता है।[३] आचार्य मम्मट ने अवाधित कारण से भी कार्य की अनुत्पत्ति में विशेषोक्ति की सत्ता स्वीकार करके भी उससे स्वतन्त्र व्याघात अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना की है। जिस उपाय से कोई कार्य-साधन करे, उसी उपाय से दूसरा उस कार्य को अन्यथा कर दे, ऐसे स्थल में व्याघात अलङ्कार होता है। इसमें कर्ता की अभीष्ट सिद्धि के साधन से ही दूसरे के द्वारा उसके इष्ट का व्याघात या हनन होने से इसे व्याघात कहा जाता है।

स्पष्ट है कि रुद्रट के मत में कार्योत्पादन में व्याहति व्याघात अलङ्कार है, इसके विपरीत मम्मट के मत में साधक उपाय को बाधक बना देना व्याघात है।

रुय्यक ने मम्मट द्वारा वर्णित व्याघात के लक्षण को अपने ढंग से प्रकट किया है। उनके अनुसार एक प्रकार से सिद्ध (निष्पन्न) हुए कार्य का उसी प्रकार से दूसरे के द्वारा अन्यथा निष्पादन का वर्णन व्याघात है।[४] इसके अतिरिक्त व्याघात

---

१. यत्सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम् ।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद्विशेषोक्तिरिष्यते ॥
—उद्भट **काव्यालङ्कार सारसंग्रह**, ५।५ ।

२. यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ।
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ॥—**काव्यप्रकाश**, १०।१३८ ।

३. येनोपायेन यत् एकेनोपकल्पितं तस्यान्येन जिगीषुतया तदुपायकमेव यदन्यथाकरणं स साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः ।
—**वही**, १०।१३८ वृत्ति, पृ० ६०३ ।

४. (क) यथा साधितस्य तथैवान्येनान्यथाकरणं व्याघातः ।
—**अलङ्कारसर्वस्व**, सूत्र ५१ ।

(ख) कञ्चिदुपायविशेषमवलम्ब्य केनचिद्यन्निष्पादितं वस्तु तत्ततोऽन्येन केनचित्तत्प्रतिद्वन्द्विना तेनैवोपायविशेषेण यदन्यथा क्रियते, स निष्पादितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद्व्याघातः ।—**वही**, वृत्ति, सूत्र ५१ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

के एक दूसरे रूप की कल्पना करके उन्होंने लिखा है कि सुकरता के साथ कार्य के विपरीत क्रिया भी व्याघात है।[1] तात्पर्य यह है कि जहाँ किसी व्यक्ति के द्वारा किसी कार्य को सुगमता पूर्वक उलट देने का वर्णन किया जाता है, वहाँ भी व्याघात होता है। व्याघात अलङ्कार के उपर्युक्त दोनों रूपों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों के बीच कोई व्यावर्तक धर्म नहीं है। एक में एक उपाय से सिद्ध कार्य को अन्य के द्वारा उसी उपाय से अन्यथाकरण तथा दूसरे में अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त उपाय (कारण) को उस कार्य के विरुद्ध कार्य का साधक सिद्ध कर उस अभीष्ट कार्य का अन्यथाकरण वाञ्छनीय माना गया है।

शोभाकर मित्र ने एक ही उपाय से उत्पत्ति और विनाश का वर्णन होने की स्थिति में व्याघात अलङ्कार स्वीकार किया है।[2] इनके अनुसार भी व्याघात के दो प्रकार कहे जा सकते हैं जो उत्पत्ति और विनाश पर ही आश्रित है उत्पत्ति के कारण के विनाश अथवा विनाश के कारण से उत्पत्ति का होना। इस प्रकार शोभाकर ने भी रुय्यक की ही मान्यता को स्वीकार किया है कि जिस उपाय से कोई कार्य सिद्ध हो यदि उसी उपाय से वह विपरीत हो जाए तो व्याघात अलङ्कार होता है।

जयदेव के अनुसार जब किसी कार्य के साधन रूप में प्रसिद्ध एक पदार्थ से जो कार्य किया जाता है, दूसरा मनुष्य उसी पदार्थ से पूर्वविरुद्ध कार्य को उत्पन्न करे तो व्याघात अलङ्कार होता है।[3]

विद्याधर[4] विद्यानाथ[5] एवं विश्वनाथ[6] ने मम्मट तथा रुय्यक का अनुसरण

---

१. (क) सौकर्येण कार्यं विरुद्धक्रिया च।—**अलङ्कारसर्वस्व**, सूत्र ५२।
   (ख) किञ्चित्कार्यं निष्पादयितुं संभाव्यमानः कारणविशेषस्तत्कार्यविरुद्ध-परिनिष्पादकत्वेन यत्समर्थ्यते, सोऽपि संभाव्यमानकार्यव्याहति-निबन्धत्वाद्व्याघातः।—**वही**, वृत्ति, सूत्र ५२।

२. (क) उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघातः।—**अलङ्काररत्नाकर** ६४।
   (ख) यत्र येनोपायेन किञ्चित्निष्पद्यते तेनैव चान्यथा भवति स व्याघातः। अस्योत्पत्तिकारणाद्विनाशः विपर्यय वेति द्वे भेदौ।
   —**वही**, पृ० ११३।

३. स्याद्व्याघातोऽयथाकारि वस्त्वन्यक्रियमुच्यते।
यैर्जगत्प्रीयते हन्ति तैरेव कुसुमायुद्धः॥—**चन्द्रालोक** ५।८६।

४. किञ्चित् केनापि विहितं तद्वस्तुतत्ततोऽन्येन।
क्रियतेऽन्यथा तथैव व्याघातोऽयं समाख्यातः॥
सौकर्येण निबद्धाकार्यविरुद्धक्रियाभवेद्यत्र।
ख्याताभिमतव्याहतिहेतुर्व्याघात एषोऽपि॥—**एकावली** ८।४२-४३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

किया है।' अप्पयदीक्षित ने रुय्यक एवं जयदेव दोनों के मतों को ग्रहण करते हुए व्याघात अलङ्कार का निरूपण किया है। उनके अनुसार जहाँ किसी कार्य विशेष के साधन के रूप में प्रसिद्ध कोई पदार्थ उस कार्य से विरुद्ध कार्य को उत्पन्न करे, वहाँ व्याघात अलङ्कार होता है।[१] अथवा जहाँ किसी कार्य के लिये कोई साधन अभीष्ट हो किन्तु उस साधन के विरुद्ध या प्रतिद्वन्द्वी अन्य साधन के द्वारा उसके विरुद्ध कार्य की सिद्धि हो जाये, वहाँ भी व्याघात होता है।[२] इसके अतिरिक्त जहाँ कारणानुकूल होने पर क्रिया का इस प्रकार वर्णन किया जाये कि वह अन्य व्यक्ति के अभीष्ट कार्य के विरुद्ध हो, वहाँ व्याघात का अन्य प्रकार होता है।[३]

रसगंगाधरकार जगन्नाथ ने व्याघात अलङ्कार के दो भेदों को स्वीकार करते हुए लिखा है कि जहाँ एक कर्ता ने जिस कारण विशेष से कोई कार्य निष्पादित किया हो या निष्पादित करना चाहता हो, वह कार्य किसी अन्य कर्ता के द्वारा उसी कारण से उस कार्य के विरुद्ध कार्य के निष्पादन से अथवा निष्पादन करने की

पूर्व पृष्ठ की पाद टिप्पणी—

५. येन तत् साधितं वस्तु तेनैव क्रियतेऽन्यथा।
अन्येन तदलङ्कारो व्याघात इति कथ्यते॥
—**प्रतापरुद्रयशोभूषण**, पृ० ३२४।

६. व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम्।
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा॥
सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि।—**साहित्यदर्पण**, १०।७५-७६।

१. (क) स्याद्व्याघातोऽन्यथाकारि तथाऽकारि क्रियेत चेत्।
यैर्जगत्प्रीयते हन्ति तैरेव कुसुमायुधः॥—**कुवलयानन्द**, १०२।
(ख) यद् यत्साधनत्वेन लोकेऽवगतं तत् केनचित्तद्विरुद्ध साधनं क्रियेत चेत् स व्याघातः।—**वही**, वृत्ति, १०२।

२. (क) यद्वा—यत् साधनतया केनचिदुपात्तं तदन्येन तत्प्रतिद्वन्द्विना तद्विरुद्ध साधनं क्रियेत चेत्सोऽपि व्याघातः।
—**कुवलयानन्द**, वृत्ति—१०२।
(ख) द्रष्टव्य—**वही**, उद्धरण १०२।

३. (क) सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्यविरोधिनी।
दया चेद् बाल इति मय्यपरित्याज्य एव ते॥—**वही**, १०३।
(ख) कार्यविशेषनिष्पादकतया केनचित्सम्भाव्यमानार्थादन्येन कार्यविरोधिक्रियासौकर्येण समर्थ्यते चेत् सोऽपि व्याघातः। कार्यविरुद्धक्रियायां सौकर्यं कारणस्य सुतरां तदानुगुण्यम्।—**वही**, वृत्ति १०३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

इच्छा से बाधित (बिगाड़) कर दिया जाये, तो वहाँ व्याघात नामक अलङ्कार होता है। इस प्रकार उनके मतानुसार भी व्याघात अलङ्कार दो प्रकार का सिद्ध होता है—१. जहाँ एक कर्ता के द्वारा एक कारण से किये गये कार्य में किसी अन्य कर्ता के द्वारा उसी कारण से किये गये तद्विरुद्ध कार्य से बाधा डाली जाये और २. जहाँ एक कर्ता के द्वारा जिस कारण से किसी कार्य के सम्पादन की अभिलाषा हो, उसमें अन्य कर्ता के द्वारा उसी कारण से किसी विरुद्ध कार्य के सम्पादन की अभिलाषा से बाधा डाली जाये।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने व्याघातालङ्कार के लक्षण का विवेचन करते हुए लिखा है कि इसमें कार्य की सिद्धि करने वाले अथवा कार्य-सिद्धि की इच्छा करने वाले कर्ता की अपेक्षा कार्य को बिगाड़ने वाले अन्य कर्ता में विलक्षणता प्रतीत होने के कारण व्यतिरेक की सिद्धि फल है।[2] जिस प्रकार अनन्वयादि अलङ्कार उपमा से अनुप्राणित होते हुए भी विशेष चमत्कारी होने से पृथक् अलङ्कार माने जाते हैं उसी प्रकार व्याघात अलङ्कार को भी सदा व्यतिरेक से सम्बन्धित रहते हुए भी एक विशेष चमत्कृति के कारण अलङ्कारान्तर मानने में कोई हानि नहीं है।[3] इस प्रकार पण्डितराज को व्याघात की प्रक्रिया में व्यतिरेक का प्रभाव मान्य है। रुय्यक तथा उनके टीकाकार जयरथ ने भी व्याघात के मूल में व्यतिरेक की स्थिति स्वीकार की है।[4]

आचार्य विश्वेश्वर का व्याघात अलङ्कार का निरूपण परम्परानुकूल है। उन्होंने भी इसके दो भेद स्वीकार किये हैं।[5]

---

१. यत्र ह्येकेन कर्त्रा येन कारणेन किञ्चिन्निष्पादितं निष्पिपादयिषितं वा तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्यते स व्याघातः।

—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ५४१।

२. अत्र व्याघाते पूर्वकर्त्रपेक्षया कर्त्रन्तरस्य वैलक्षण्यप्रत्ययाद् व्यतिरेकसिद्धिः फलम्।—**वही**, द्वितीयानन, पृ० ५४२।

३. तस्मादलङ्कारान्तराविनाभूतालङ्कारान्तरवदिहाप्यवान्तरोऽस्ति विच्छित्तिविशेषोऽलङ्कारभेदक इति प्राचामुक्तिरेवात्र शरणम्।

—**वही**, द्वितीयानन, पृ० ५३६।

४. सोऽपिव्यतिरेकनिमित्तत्वेनात्रोक्तः विरूपाक्षस्येति चारुलोचना इति च व्यतिरेकगर्भविव वाचकौ। जनयिनीरिति व्यतिरेकोक्ति।

—**अलङ्कारसर्वस्व**

५. कार्यान्तरहेतुतयान्येनाभिमताविरुद्धकार्यं चेत्।
क्रियते परेण तस्माद्व्याघातोऽयं समाख्यातः॥

—**अलङ्कारकौस्तुभ**, पृ० ४०६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि व्याघात के लक्षण तथा भेद-प्रभेद के सम्बन्ध में सभी आचार्यों में मतैक्य रहा है।

शृंखलाबंधमूलकः—

कारणमाला—आचार्य रुद्रट कारणमाला असलंकार के प्रवर्तक हैं। इन्होंने इसे वास्तवमूलक अलंकार वर्ग में वर्गीकृत किया है। आचार्य रुद्रट ने कारणमाला अलंकार की कल्पना कर उसके लक्षण के सम्बन्ध में कहा है—जहाँ अर्थों में पूर्ववर्ती अर्थ परवर्ती अर्थ का हेतु बन जाता है और यह क्रम समग्र रूप से चलता रहता है, वहाँ कारणमाला अलंकार माना जाता है।[1]

सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज कारणमाला को अहेतु अलंकार से भिन्न नहीं मानते। उनका स्पष्ट कथन है कि जो हेतुओं की परम्परा को कारणमाला कहा जाता है, वह भी अहेतु से भिन्न नहीं है, क्योंकि उन कारणों में पृथक्-पृथक् सामर्थ्य नहीं रहता।[2]

मम्मटाचार्य ने रुद्रट-कृत लक्षण को ही स्वीकार करते हुए कहा है कि जहाँ उत्तरोत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व अर्थ की कारणता होती है, तब कारणमाला होती है।[3]

राजानक रुय्यक ने कारणमाला का लक्षण मम्मट के अनुसार दिया है—जब पूर्व-पूर्व क्रमशः उत्तर-उत्तर के प्रति कारण बन जाता है, तो कारणमाला नामक

---

१. कारणमाला सेयं यत्र यथापूर्वमेति कारणताम्।
अर्थानां पूर्वार्थाद्भवतीदं सर्वमेवेति ॥
—**काव्यालंकार (रुद्रट), ७।८४।**

२. (क) यस्तु कारणमालेति हेतुसंतान उच्यते।
पृथक्पृथगसामर्थ्यात्सोऽप्यहेतोर्न भिद्यते ॥
एकोऽभिधायमानेषु हेतुत्वेषु भवेत्तयोः।
प्रतीयमानेष्वपरः कारणत्वेषु जायते ॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण ३।१९–२०।**

(ख) इह कैश्चित्कारणमाला पृथगलंकार इत्युक्तम्, पूर्वस्योत्तरोत्तर प्रति हेतुर्भावोक्तिस्तल्लक्षणम्, स द्विविधोऽभिधीयमानः प्रतीयमानो वा, उभयथापि नाहेतोर्व्यतिरिच्यत इति।
—**वही**, तीसरा परिच्छेद, पृ० ३३२।

३. यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात्……… ॥ —**काव्यप्रकाश, १०।१२०।**

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकार होता है।[1] रुय्यक ने इस सम्बन्ध में एक विशेषता भी बताई है कि इसमें कार्य-कारण का जो क्रम रहता है, वही इसकी सुन्दरता का कारण होता है।[2]

पीयूषवर्ष जयदेव ने भी रुद्रट-कृत लक्षण का ही अनुसरण किया है। किन्तु एक और भेद की भी कल्पना की है।[3]

विश्वनाथ ने रुद्रट एवं मम्मट-कृत लक्षण का ही अनुसरण किया है।[4] अप्पयदीक्षित ने जयदेव के ही लक्षण एवं उदाहरण को उद्धृत कर कारणमाला के दो भेदों के प्रति अपनी सहमति प्रकट की है। उनके अनुसार उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व का तथा पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर का हेतु बनने का क्रमबद्ध वर्णन कारणमाला है।[5] वस्तुतः कारणमाला का अलंकारत्व कार्यकारण की शृंखला में निहित है। कार्य-वाक्य या कारण-वाक्य का पूर्ववर्ती या परवर्ती होना महत्त्व नहीं रखता। दोनों में कार्य-कारण की माला समान रूप से रहती है, भेद केवल कार्य तथा कारण के पूर्व-भाव तथा पर-भाव का है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी शृंखलामूलक कारणमाला अलंकार के दोनों भेद स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार प्रत्येक पूर्ववर्ती कारण हो और प्रत्येक उत्तरवर्ती कार्य, तो यह प्रथम प्रकार की कारणमाला है।[6] प्रत्येक पूर्ववर्ती कार्य और प्रत्येक

---

१. पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला।
—अलंकारसर्वस्व, सूत्र–५३।

२. कार्यकारणक्रम एवात्र चारुत्वहेतुः। —वही, सूत्र ५३ वृत्ति, पृ० २५८।

३. गुम्फः कारणमाला स्याद्यथाप्राक्प्रान्तकारणैः। —चन्द्रालोक ५।८७।

४. परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात् ·········॥ —साहित्यदर्पण १०।७६।

५. (क) गुम्फः कारणमाला स्याद् यथाप्राक्प्रान्तकारणैः।
—कुवलयानन्द १०४।

(ख) उत्तरोत्तरकारभूतपूर्वपूर्वैः पूर्वपूर्वकारणभूतोत्तरोत्तरैर्वा वस्तुभिः कृतो गुम्फः कारणमाला। —वही, १०४ पृ० १७५।

६. (क) पंक्तिरूपेण निबद्धानामर्थानां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन् उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन्संसृष्टत्वं शृंखला।
—रसगंगाधर, द्वितीय आनन, पृ० ५५०।

(ख) सैव शृंखला आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला, तत्र पूर्वं पूर्वं कारणं परं परं कार्यमित्येका, पूर्वं पूर्वं कार्यं परं परं कारणमित्यपरा। —वही, द्वितीय आनन, पृ० ५५१–५५२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि व्याघात के लक्षण तथा भेद-प्रभेद के सम्बन्ध में सभी आचार्यों में मतैक्य रहा है।

शृंखलाबंधमूलक:—

कारणमाला—आचार्य रुद्रट कारणमाला असलंकार के प्रवर्तक हैं। इन्होंने इसे वास्तवमूलक अलंकार वर्ग में वर्गीकृत किया है। आचार्य रुद्रट ने कारणमाला अलंकार की कल्पना कर उसके लक्षण के सम्बन्ध में कहा है—जहाँ अर्थों में पूर्ववर्ती अर्थ परवर्ती अर्थ का हेतु बन जाता है और यह क्रम समग्र रूप से चलता रहता है, वहाँ कारणमाला अलंकार माना जाता है।[1]

सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज कारणमाला को अहेतु अलंकार से भिन्न नहीं मानते। उनका स्पष्ट कथन है कि जो हेतुओं की परम्परा को कारणमाला कहा जाता है, वह भी अहेतु से भिन्न नहीं है, क्योंकि उन कारणों में पृथक्-पृथक् सामर्थ्य नहीं रहता।[2]

मम्मटाचार्य ने रुद्रट-कृत लक्षण को ही स्वीकार करते हुए कहा है कि जहाँ उत्तरोत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व अर्थ की कारणता होती है, तब कारणमाला होती है।[3]

राजानक रुय्यक ने कारणमाला का लक्षण मम्मट के अनुसार दिया है—जब पूर्व-पूर्व क्रमशः उत्तर-उत्तर के प्रति कारण बन जाता है, तो कारणमाला नामक

---

१. कारणमाला सेयं यत्र यथापूर्वमेति कारणताम्।
अर्थानां पूर्वार्थाद्भवतीदं सर्वमेवेति॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट), ७।८४।

२. (क) यस्तु कारणमालेति हेतुसंतान उच्यते।
पृथक्पृथगसामर्थ्यात्सोऽप्यहेतोर्न भिद्यते॥
एकोऽभिधायमानेषु हेतुत्वेषु भवेत्तयोः।
प्रतीयमानेष्वपरः कारणत्वेषु जायते॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण** ३।१९-२०।

(ख) इह कैश्चित्कारणमाला पृथगलंकार इत्युक्तम्, पूर्वस्योत्तरोत्तर प्रति हेतुर्भावोक्तिस्तल्लक्षणम्, स द्विविधोऽभिधीयमानः प्रतीयमानो वा, उभयथापि नाहेतोर्व्यतिरिच्यत इति।
—**वही**, तीसरा परिच्छेद, पृ० ३३३।

३. यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात्.........॥ —**काव्यप्रकाश**, १०।१२०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकार होता है।[1] रुय्यक ने इस सम्बन्ध में एक विशेषता भी बताई है कि इसमें कार्य-कारण का जो क्रम रहता है, वही इसकी सुन्दरता का कारण होता है।[2]

पीयूषवर्ष जयदेव ने भी रुद्रट-कृत लक्षण का ही अनुसरण किया है। किन्तु एक और भेद की भी कल्पना की है।[3]

विश्वनाथ ने रुद्रट एवं मम्मट-कृत लक्षण का ही अनुसरण किया है।[4] अप्पयदीक्षित ने जयदेव के ही लक्षण एवं उदाहरण को उद्धृत कर कारणमाला के दो भेदों के प्रति अपनी सहमति प्रकट की है। उनके अनुसार उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व का तथा पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर का हेतु बनने का क्रमबद्ध वर्णन कारण-माला है।[5] वस्तुतः कारणमाला का अलंकारत्व कार्यकारण की शृंखला में निहित है। कार्य-वाक्य या कारण-वाक्य का पूर्ववर्ती या परवर्ती होना महत्त्व नहीं रखता। दोनों में कार्य-कारण की माला समान रूप से रहती है, भेद केवल कार्य तथा कारण के पूर्व-भाव तथा पर-भाव का है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी शृंखलामूलक कारणमाला अलंकार के दोनों भेद स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार प्रत्येक पूर्ववर्ती कारण हो और प्रत्येक उत्तरवर्ती कार्य, तो यह प्रथम प्रकार की कारणमाला है।[6] प्रत्येक पूर्ववर्ती कार्य और प्रत्येक

---

१. पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला।
—अलंकारसर्वस्व, सूत्र–५३।

२. कार्यकारणक्रम एवात्र चारुत्वहेतुः। —वही, सूत्र ५३ वृत्ति, पृ० २५८।

३. गुम्फः कारणमाला स्याद्यथाप्राक्प्रान्तकारणैः। —चन्द्रालोक ५।८७।

४. परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात् ·········॥ —साहित्यदर्पण १०।७६।

५. (क) गुम्फः कारणमाला स्याद् यथाप्राक्प्रान्तकारणैः।
—कुवलयानन्द १०४।

(ख) उत्तरोत्तरकारभूतपूर्वपूर्वैः पूर्वपूर्वकारणभूतोत्तरोत्तरैर्वा वस्तुभिः कृतो गुम्फः कारणमाला। —वही, १०४ पृ० १७५।

६. (क) पंक्तिरूपेण निबद्धानामर्थानां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन् उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन्संसृष्टत्वं शृंखला।
—रसगंगाधर, द्वितीय आनन, पृ० ५५०।

(ख) सैव शृंखला आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला, तत्र पूर्वं पूर्वं कारणं परं परं कार्यमित्येका, पूर्वं पूर्वं कार्यं परं परं कारण-मित्यपरा। —वही, द्वितीय आनन, पृ० ५५१–५५२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उत्तरवर्ती कारण हो, तो यह दूसरी प्रकार की कारणमाला है। अप्पयदीक्षित और जगन्नाथ के पश्चात् कारणमाला के ये दोनों रूप मान्य हुए हैं।

इस प्रकार कारणमाला अलंकार का प्राण कारणों का क्रमबद्ध वर्णन या उनकी शृंखला ही है। जहाँ प्रत्येक पूर्ववर्ती का अपने उत्तरवर्ती के प्रति कारण बनने का क्रमबद्ध वर्णन हो और जहाँ प्रत्येक उत्तरवर्ती का अपने-अपने पूर्ववर्ती के प्रति हेतु बनने का क्रमबद्ध वर्णन हो वहाँ चमत्कार विशेष के कारण कारणमाला अलंकार माना जाता है।

एकावली अलंकार—आचार्य रुद्रट ने ही एकावली अलंकार की उद्भावना की है। उन्होंने इसे अपने वास्तवमूलक वर्ग में समाविष्ट किया है। कारणमाला की भाँति एकावली अलंकार भी शृंखला की धारणा पर आधारित है। रुद्रट ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—"जहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्षशाली अर्थों की परम्परा इस रूप में रखी जाती है कि प्रत्येक उत्तरवर्ती अर्थ पूर्ववर्ती अर्थ का विशेषण बन जाए, वहाँ एकावली अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं—एक स्थिति के कारण और दूसरा व्यवच्छेद के कारण।[1] स्पष्टतः यह कहा जा सकता है कि इसमें कहीं विधि मुख से और कहीं अपोह निषेधमुख से वर्णन होता है। इसमें अर्थों के विशेषण-विशेष्य-भाव के क्रम का सौन्दर्य निहित रहता है।

भोजराज ने इसे परिकर अलंकार में समाविष्ट कर दिया है।[2] इसी कारण उन्होंने इसका पृथक् रूप से निरूपण नहीं किया है।

आचार्य मम्मट ने एकावली का लक्षण रुद्रट के अनुसार ही किया है कि जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर वर्णित वस्तु विशेष रूप में स्थापित की जाती है

---

१. एकावलीति सेयं यत्रार्थपरम्परा यथालाभम्।
आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम्॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट), ७।१०।

२. (क) एकावलीति या सापि भिन्नापरिकरान्न हि।
त्रिधा सापि समुद्दिष्टा शब्दार्थोभयभेदतः॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ४।७६।

(ख) पूर्वं प्रति यत्रोत्तरस्य वस्तुनो वीप्सया विशेषणत्वेन स्थापनं निषेधो वा सैकावली, इयमपि परिकरादभिन्नैवेति, एकेनापरस्य परिष्करणमेकावल्यामपि लभ्यते इत्यनयोरभेदः।
—वही, चतुर्थ परिच्छेद, वृत्ति पृ० ५२२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अथवा निषिद्ध की जाती है, वह दो प्रकार का एकावली नामक अलंकार होता है।[1]

रुय्यक ने मम्मट कृत लक्षण को ही सूत्रबद्ध करके प्रस्तुत किया है।[2]

पीयूषवर्ष जयदेव के अनुसार एकावली का लक्षण इस प्रकार है—जहाँ अनेक पदार्थों की श्रेणी इस तरह निबद्ध की जाए कि पूर्व-पूर्व पद का उत्तरोत्तर पद के विशेष्य रूप में ग्रहण या त्याग किया जाए, वहाँ एकावली अलंकार होता है।[3]

विश्वनाथ ने मम्मट के लक्षण का अनुकरण किया है।[4] अप्पयदीक्षित पीयूषवर्ष जयदेव के अनुयायी प्रतीत होते हैं। इन्होंने पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर के विशेषण बनने के साथ उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व के विशेषण बनने में भी एकावली अलंकार स्वीकार किया है। इस प्रकार एकावली में यह विशेष्यविशेषण भाव दो प्रकार का होता है। जिस प्रकार एकावली (हार) में मोती माला के रूप में गुम्फित रहते हैं, उसी प्रकार एकावली अलंकार में पदार्थों के विशेष्यविशेषणभाव के ग्रहण या त्याग की अवली होती है। संक्षेप में गृहीतमुक्तरीति से अर्थों की परम्परा का वर्णन ही एकावली का स्वरूप है।[5] गृहीत-मुक्त-रीति का तात्पर्य है उत्तर-उत्तर-का पूर्व-पूर्व के प्रति विशेषण भाव तथा पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर के प्रति विशेषण भाव।

पण्डितराज जगन्नाथ ने एकावली और कारणमाला की मूल धारणा में समानता बताते हुए[6] कारणमाला की भाँति एकावली अलंकार के भी दो प्रकार स्वीकार

---

१. स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा॥ —**काव्यप्रकाश**, १०।८८।

२. यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली।
—**अलंकारसर्वस्व**, सूत्र ५४।

३. गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावली मता। —**चन्द्रालोक**, ५।८८।

४. पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम्।
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा।
—**साहित्यदर्पण**, १०।७७-७८।

५. गृहीतमुक्तरीत्यार्थश्रेणिरेकावलिर्मता। —**कुवलयानन्द**, १०५।

६. सैव शृंखला संसर्गस्य विशेष्य-विशेषणभावरूपत्वे एकावली। सा च पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति विशेषयत्वे विशेषणत्वे चेति द्विधा। तत्राद्यो उत्तरोत्तरविशेषणस्य स्थापकत्वापोहकत्वाभ्यां द्वैविध्यम्। स्वसम्बन्धेन विशेष्यतावच्छेदकनियामकत्वं स्थापकत्वम्। स्वव्यतिरेकेण विशेष्यतावच्छेदकव्यतिरेकबुद्धिजनकत्वमपोहकत्वम्।
—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन पृ० ५६०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

किये हैं। जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित-कृत एकावली अलंकार के लक्षण को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर के प्रति या तो, विशेष्य बनता हो या विशेषण, दोनों स्थितियों में एकावली अलंकार होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एकावली अलंकार के विकास की स्थिति कारणमाला के विकास की स्थिति के समान है। प्रथमतः केवल प्रत्येक उत्तरवर्ती अर्थ का अपने पूर्ववर्ती के प्रति विशेषण बनने की शृंखला की धारणा एकावली अलंकार थी में किन्तु बाद में पूर्ववर्ती और उत्तर-वर्ती दोनों के परस्पर विशेषण बनने की शृंखला के आधार पर उसके दो भेद स्वीकृत हुए। कारणमाला और एकावली में सूक्ष्म भेद यह है कि कारणमाला में पूर्व-पूर्व तथा उत्तर-उत्तर में कार्य-कारण की शृंखला रहती है, इसके विपरीत एकावली में पूर्व-पूर्व तथा उत्तर-उत्तर पदार्थों में विशेष्य-विशेषणभाव की शृंखला रहती है।

मालादीपक—मालादीपक का सर्वप्रथम संकेत आचार्य दण्डी ने किया। उन्होंने इसे दीपक का एक भेद ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ पूर्व-पूर्व वाक्य की अपेक्षा रखने वाले उत्तर-उत्तर वाक्य की माला की कल्पना की जाए, वहाँ मालादीपक अलंकार होता है।[1] इसमें सभी वाक्यों का एक पद से अन्वय दीपक की तरह ही अपेक्षित होता है, इसलिये मूलतः यह दीपक ही है। किन्तु पूर्व-पूर्व की अपेक्षा रखने वाले उत्तर उत्तर वाक्य की माला की कल्पना के कारण इसे मालादीपक कहते हैं।

उद्भट और रुद्रट ने इसकी चर्चा नहीं की है। भोजराज ने दण्डी की तरह मालादीपक को दीपक का ही एक भेद माना है।[2] किन्तु कुछ आचार्य दीपक सापेक्ष मालादीपक को स्वतन्त्र अलंकार भी मानते हैं।

---

१. इत्यादि दीपकत्वेऽपि पूर्वपूर्वव्यपेक्षिणी।
वाक्यमाला प्रयुक्तेति तन्मालादीपकं मतम् ॥ —**काव्यादर्श**, २।१०८।

२. (क) क्रियाजातिगुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना ।
सर्ववाक्योपकारश्चेद्दीपकं तन्निगद्यते ॥
अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरावली ।
संपुटं रसना माला चक्रवालं च तद्भिदाः ॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ४।७७–७८।

(ख) तदेतन्मालादीपकं नाम दीपकस्य भेदः।
—**वही**, वृत्ति, पृ० ५२९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य मम्मट ने मालादीपक को दीपक अलंकार सापेक्ष मानकर भी पृथक् रूप में उसकी परिभाषा दी है। उनके अनुसार जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु उत्तर-उत्तर वस्तु का उत्कर्ष-साधन करे, वहाँ मालादीपक अलंकार होता है।[१] उन्होंने मालादीपक का जो उद्धरण प्रस्तुत किया है, उसमें वाक्यों की माला में एक क्रिया का सर्वत्र अन्वय प्रदर्शित किया गया है। स्पष्टतः यह उदाहरण मालादीपक को दीपक का ही एक भेद प्रमाणित करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि दण्डी से मम्मट तक मालादीपक की धारणा अलंकार से पूर्णतः पृथक् नहीं हो सकी थी।

राजानक रुय्यक ने मालादीपक को सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्व देते हुए स्पष्ट कहा है कि एक पद से अन्वय के चमत्कार का अपेक्षा माला के रूप में एक विशेष सौन्दर्य होता है, इस आधार पर दीपक के प्रकरण का उल्लंघन करके यहाँ माला-दीपक का स्वरूप-निरूपण किया गया है।[२] उनके अनुसार पूर्व-पूर्व द्वारा उत्तरोत्तर में गुणों का निवन्धन होने पर मालादीपक होता है।[३] पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर के उत्कर्ष का हेतु होने पर एकावली अलंकार होता है, किन्तु उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व के उत्कर्षाधायक वनने पर मालादीपक अलंकार होता है।[४] रुय्यक ने माला-दीपक की परिभाषा पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार देकर भी उसमें माला का चमत्कार प्रधान मानकर स्वतन्त्र अलंकार माना है। रुय्यक के पश्चात् यह शृंखलामूलक अलंकार वर्ग में ही माना जाने लगा।

पीयूषवर्ष जयदेव ने आचार्य रुय्यक के मतानुसार मालादीपक अलंकार का वर्णन एकावली के अनन्तर किया है। इन्होंने दीपक तथा एकावली के योग को मालादीपक माना है।[५] क्योंकि इसमें भी एक क्रिया आदि से अनेक का सम्बन्ध (अन्वय) दीपक की तरह अपेक्षित होता है और साथ ही इसमें एकावली की तरह

---

१. (क) मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम्।
—**काव्यप्रकाश**, १०।१५७।

(ख) पूर्वेण पूर्वेण वस्तुना उत्तरमुत्तरं चेदुपक्रियते तन्मालादीपकम्।
—**वही**, वृत्ति, दशम उल्लास।

२. मालात्वेन चारुत्वविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तावोल्लंघनेनेह लक्षणकृतम्। गुणावहत्वमुत्कर्षहेतुत्वम्। —**अलंकारसर्वस्व**, वृत्ति, पृ० २६०।

३. पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम्। —**वही**, सूत्र ५५।

४. उत्तरोत्तरस्य पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावली, पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरो-त्कर्षनिबन्धनत्वे तु मालादीपकम्। —**वही**, वृत्ति, पृ० २६०।

५. दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमुच्यते। —**चन्द्रालोक**, ५।८६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उत्तर-उत्तर का पूर्व-पूर्व से गुणोत्कर्ष प्राप्त करने की धारणा का भी सद्भाव रहता है।

विश्वनाथ ने मालादीपक को दीपक अलंकार से पृथक् करके श्रृंखलामूलक अलंकार वर्ग में स्थान दिया है। उनके अनुसार जहाँ धर्मी रूप से वर्णित अनेक वस्तुओं का उत्तरोत्तर एकधर्माभिसम्बन्ध वर्णित होता है, वहाँ मालादीपक अलंकार होता है।[१]

अप्पदीक्षित ने जयदेव की ही भाँति मालादीपक में दीपक और एकावली का योग स्वीकार किया है। इसमें एक पद से अनेक वाक्य का अन्वय होने के कारण दीपक का तथा पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर के प्रति और उत्तर-उत्तर का पूर्व-पूर्व के प्रति विशेषणभाव के कारण एकावली का योग रहता है। इस प्रकार अप्पयदीक्षित ने मम्मट और रुय्यक की तरह उत्तरत्उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व का गुणाधायक होना रूप मालादीपक के साथ-साथ गृहीतमुक्तरीति से पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर का विशेषण-भाव (गुणाधायक होना) रूप दूसरा भेद भी स्वीकार किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने मालादीपक को स्वतन्त्र अलंकार न मानकर एकावली का एक भेद माना है। इनको भी रुय्यक की भाँति मालागत चमत्कार का आधिक्य स्वीकार किया है। जगन्नाथ दीपक अलंकार को सादृश्यगर्भित मानते हैं किन्तु माला-दीपक को नहीं। अतः वे इसे दीपक अलंकार का भेद मानने के पक्ष में नहीं हैं।[२]

सार अलंकार––सार अलंकार के उद्भावक आचार्य रुद्रट हैं। इन्होंने इसे वास्तवमूलक अलंकार वर्ग में समाविष्ट किया है। रुद्रट ने सार का लक्षण इस प्रकार दिया है—जहाँ समुदाय में से एक देश को क्रम से अलग करके गुणसम्पन्न होने के

---

१. ···············तन्मालादीपकं पुनः।
धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम्॥

—साहित्यदर्पण, १०।७६–७७।

२. अस्मिश्चैकावल्या द्वितीये भेदे पूर्वपूर्वैः परस्य परस्योपकारः क्रियमाणो यद्येकरूपः स्यात्तदायमेव मालादीपकशब्देन व्यवह्रियते प्राचीनैः। तथा चोक्तम्—'मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम्' इति। तत्र मालाशब्देन श्रृंखलोच्यते दीपकशब्देन दीप इवेति व्युत्पत्त्या एकदेशस्थं सर्वोपकारक-मुच्यते। तेनैकदेशस्थसर्वोपकारकक्रियादिशालिनी श्रृंखलेति पदद्वयार्थः एवं च दीपकालंकारप्रकरणे प्राचीनैरस्य लक्षणाद्दीपकविशेषोऽयमिति न भ्रमितव्यम्, तस्य सादृश्यगर्भतायाः सकलालङ्कारिकसिद्धत्वात्। इह च श्रृंखलावयवानां पदार्थानां सादृश्यमेव नास्तीति कथंकारं दीपकतावाचं श्रद्दधीमहि। ––रसगंगाधर, द्वितीयानन, पृ० ५६३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

कारण अन्त तक उसकी (उत्कृष्टता की) चरमसीमा निर्धारित की जाए, वहाँ सार नामक अलंकार होता है।[1] तात्पर्य यह है कि इसमें पदार्थों के समुदाय में से एक देश (अङ्ग) की अपेक्षा दूसरे में अधिक गुणोत्कर्ष, उससे भी तीसरे में अधिक गुणोत्कर्ष और इसी क्रम से अन्त में आने वाले में सर्वाधिक गुणोत्कर्ष दिखाया जाता है। इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक गुण के उत्कर्ष का क्रम (शृंखला) होना सार अलंकार में आवश्यक है।

सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज ने सार अलंकार का नामकरण उत्तर किया है। उन्होंने प्रथमतः इसके दो भेद किये हैं—धर्मरूप और धर्मिरूप। तदनन्तर प्रत्येक के शुद्ध और व्यतिरेकी रूप से चार भेद किये हैं, फिर सामान्यतः और विशेषतः ये दो भेद और किये हैं इस प्रकार उन्होंने कुल छः भेद किये हैं।[2]

मम्मट के अनुसार परावधि (अन्त) तक वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन सार है।[3]

राजानक रुय्यक ने सार की परिभाषा इस प्रकार दी है—पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर की उत्कृष्टता का निबन्धन सार है।[4] जयदेव ने अनेक उत्तम सारभूत वस्तुओं में भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन को सार अलंकार कहा है।[5] इसके अतिरिक्त इन्होंने उदार सार भेद को भी स्वीकार किया है—जहाँ भिन्न भी उत्कृष्ट गुण का अभिन्न रूप से वर्णन किया जाये, वहाँ उदारसार अलंकार होता है।[6] इस प्रकार पीयूषवर्ष ने इस अलंकार के सार और उदारसार रूप से दो भेद किये हैं।

---

१. यत्र यथासमुदायाद्यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद्भवेत्सारम्॥
—काव्यालंकार, (रुद्रट) ७।९६।

२. (क) पदार्थानां तु यः सारस्तदुत्तरमिहोच्यते।
स धर्मधर्मिरूपाभ्यां व्यतिरेकाच्च भिद्यते॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३।२३।

(ख) तत् त्रिधा। धर्मरूपं धर्मिरूपमुभयं च। आद्ययोः प्रत्येकं प्रकारद्वयम्। निर्धार्यमाणस्य शुद्धस्योपादानं, निर्धार्यानुत्तरव्यतिरेकिधर्मवत्तया वा। अन्त्यस्यापि सामान्यविशेषरूपतया रूपत्वमिति षट्प्रकारमुत्तरं इति। **—वही,** वृत्ति, पृ० ३३६।

३. उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः। **—काव्यप्रकाश, १०।१९०।**

४. उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः। **—अलंकारसर्वस्व**—सूत्र ५६।

५. सारो नाम पदोत्कर्षः सारताया यथोत्तरम्। **—चन्द्रालोक, ५।९०।**

६. उदारसारश्चेद भाति भिन्नोऽभिन्नतया गुणः। **—वही, ५।९१।**

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विश्वनाथ ने वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन को सार कहा है।[१] अप्पयदीक्षित ने जयदेव के अनुयायी होते हुए भी उनके सार और उदारसार भेदों को एक कर दिया है। उनके अनुसार जहाँ अनेक पदार्थों का वर्णन करते समय उत्तरोत्तर पदार्थ को पूर्व-पूर्व पदार्थ से उत्कृष्ट बताया जाए, वहाँ सार अलंकार होता है।[२] वह उत्कर्ष श्लाघ्य गुण का भी हो सकता है और अश्लाघ्य गुण का भी तथा दोनों को मिलाकर उभय गुण का भी। इस प्रकार अप्पयदीक्षित ने सार के तीन भेद सोदाहरण प्रस्तुत किये हैं—१. श्लाघ्यगुणोत्कर्ष २. अश्लाघ्यगुणोत्कर्ष और ३. उभयरूप।

पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के उत्कर्ष के साथ पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर अपकर्ष वर्णन में भी सार अलंकार स्वीकार किया है। अभिप्राय यह है कि उन्होंने शृंखला के उत्कर्ष रूप या अपकर्ष रूप होने पर सार अलंकार माना है। इनकी उत्तरोत्तर के अपकर्ष-वर्णन की धारणा अप्पयदीक्षित की उत्तरोत्तर में अश्लाघ्य गुणोत्कर्ष की धारणा से मिलती-जुलती है। अश्लाघ्यगुणोत्कर्ष को गुण का क्रमशः अपकर्ष माना जा सकता है। जगन्नाथ ने एक विषय तथा अनेक विषय रूप से पुनः सार अलंकार के दो-दो भेद माने हैं।[३]

इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक उत्तरोत्तर क्रम से वस्तुओं के गुणोत्कर्ष का वर्णन करना सार का एक रूप है तथा वस्तुओं का उत्तरोत्तर गुणापकर्ष प्रस्तुत करना उसका दूसरा रूप है। वस्तुओं के समुदाय में उत्तरोत्तर उत्कर्ष सार का स्वरूप है।

तर्कन्यायमूलक—

काव्यलिंग अलङ्कार—काव्यलिंग कार्यकारण सम्बन्ध पर आश्रित अलंकार है। सर्वप्रथम उद्‌भटाचार्य ने काव्यलिंग अलंकार के अस्तित्व की कल्पना कर उसके लक्षण का निरूपण किया। भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार नहीं माना क्योंकि इनमें कार्यकारणादि का अभिधान रहता है। दण्डी ने भामह के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा कि हेतु सूक्ष्म और लेश वाणी के उत्तम भूषण हैं। अग्नि-पुराणकार ने भी हेतु अलंकार को स्वीकार करते हुए कहा कि जिस वस्तु को हम सिद्ध करना चाहते हैं, उसके साधक का नाम हेतु है। इस प्रकार दण्डी आदि

---

१. उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते। —**साहित्यदर्पण**, १०।७८।

२. उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते। —**कुवलयानन्द**, १०८।

३. सैव संसर्गस्योत्कृष्टाप्रकृष्टभावरूपत्वे सारः। तत्रापि पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरस्योत्कर्षापकर्षाभ्यां द्वैविध्यम्। इमं चालंकारमेकानेकविषयत्वेन पुनर्द्विविधमामनन्ति। —**रसगंगाधर**, द्वितीय आनन, पृ० ५६५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में हेतु अलंकार था। दण्डी ने तो हेतु चक्र का एक प्रकरण ही लिख डाला है।[१] उद्भट ने इस हेतुचक्र का उपसंहार करते हुए हेतु अलंकार का नामकरण काव्यलिंग किया। उनके अनुसार जो एक वस्तु काव्य में श्रुत होकर अन्य वस्तु के स्मरण या अनुभव का हेतु हो जाती है, वहाँ काव्यलिंग अलकार होता है।[२] टीकाकार के प्रतिहारेन्दुराज ने इस अलङ्कार सम्बन्धी धारणा का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि तार्किकों के जो हेतु हैं, वे लोकप्रसिद्ध वस्तुओं के विषय में लिखे जाते हैं और उनमें पक्ष धर्मत्व और अन्वय-व्यतिरेक आदि का अनुसरण किया जाता है, अतः वे विरसता ले आते हैं, काव्यहेतु वैसा नहीं होता। क्योंकि वह अतिशय के कारण सब मनुष्यों के हृदयसंवादी सरस पदार्थ का वर्णन करता है। अतः केवल हेतु शब्द को परित्यक्त कर काव्यलिंग इस रूप में काव्यशब्द का ग्रहण किया गया है।[३]

काव्यलिंग का अर्थ है—काव्यहेतु। इस में एक वस्तु अन्य वस्तु की स्मृति या अनुभूति का हेतु बनाई जाती है। अतः काव्यलिंग इसका सार्थक अभिधान है। उद्भट कृत परिभाषा के अनुसार जहाँ एक वस्तु का वर्णन सुनकर या पढ़कर श्रोता या अध्येता के मन में अन्य वस्तु का स्मृति रूप ज्ञान अथवा अनुभव रूप ज्ञान उत्पन्न हो, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है।

आचार्य रुद्रट ने हेतु और हेतुमान् के अभेद को हेतु माना है।[४] भोजराज

---

१. (क) हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥ काव्यालङ्कार (भामह), २।८६
(ख) हेतुश्च सूक्ष्मलेशो च वाचामुत्तमभूषणम्।
कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ यथा॥ दण्डी—काव्यादर्श, २।२३५।
(ग) दूरकार्यस्तत्सहजः कार्यानन्तरजस्तथा।
अयुक्तयुक्तकार्यौ चेत्यसंख्याश्चित्रहेतवः॥वही, २।२५३।
(घ) सिपाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः। अग्निपुराण।

२. श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिंगं तदुच्यते॥ काव्यलङ्कारसारसंग्रह।

३. पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकानुसरणगर्भतया यथातार्किक प्रसिद्धा हेतवो लोकप्रसिद्धवस्तुविषयत्वेनोपनिबध्यमाना वैरस्यमावमावहन्ति न तथा काव्यहेतुः, अतिशयेन सर्वेषां जनानां योऽसौ हृदयसंवादी सरसः पदार्थस्तन्निष्ठतया उपनिबध्यमानत्वात्। अतः काव्यलिंगमिति काव्यग्रहणमुपात्तम्।
—काव्यलङ्कारसारसंग्रह टीका।

४. हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेधत्र।
सोऽलंकारो हेतुः स्यादन्येभ्य, पृथग्भूतः॥ काव्यालङ्कार (रुद्रट), ७।८२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

ने भी हेतु ही नाम स्वीकार किया है। उन्होंने दण्डी के हेतु-चक्र को कारक, ज्ञापक, अभाव और चित्र हेतु में संगृहीत कर दिया है और अभाव तथा चित्र हेतु के भेदों को भी उसी रूप में स्वीकार किया है।[1]

मम्मटाचार्य ने काव्यलिंग को स्वीकार कर प्राचीन आचार्यों के हेतु अलंकार को इसी में अन्तर्भूत कर दिया है। उनके अनुसार जहाँ हेतु का सम्पूर्ण वाक्यार्थ से अथवा पद के अर्थ से बोध कराया जाए, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है।[2]

रुय्यक के अनुसार जहाँ कारणरूप हेतु का वाक्यार्थ के रूप में अथवा पदार्थ के रूप में उपादान होता है, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है।[3]

पीयूषवर्ष जयदेव के अनुसार जहाँ नवीन अर्थ का बोधक पद, या वाक्य हो, वहाँ काव्यलिंग होता है।[4] विश्वनाथ ने मम्मटाचार्य के काव्यलिंग के लक्षण का अनुकरणमात्र किया है। किन्तु इन्होंने अर्थान्तरन्यास से काव्यलिंग का भेद दिखाने का प्रयत्न भी किया है कि कारण तीन प्रकार का होता है—ज्ञापक, निष्पादक (कारक) और समर्थक। इनमें से ज्ञापक हेतु अनुमान का विषय, है, कारक हेतु काव्यलिंग का विषय है और समर्थकहेतु अर्थान्तरन्यास का विषय है।[5]

अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ समर्थनीय अर्थ का किसी पदार्थ या वाक्य के द्वारा समर्थन किया जाए, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है।[6] स्पष्टतः अप्पयदीक्षित मम्मट की विचारधारा से सहमत प्रतीत होते हैं।

जगन्नाथ के अनुसार प्रकृत अर्थ के उपपादक के रूप में विवक्षित वह अर्थ विशेष जो सामान्य-विशेषभाव से युक्त न हो, काव्यलिंग अलंकार कहलाता है।[7]

---

१. क्रियायाः कारणं हेतुः कारको ज्ञापकश्च सः।
अभावश्चित्रहेतुश्च चतुर्विध इहेष्यते ॥ **सरस्वतीकण्ठाभरण** ३।१२।

२. काव्यलिंग हेतोर्वाक्यपदार्थता। **काव्यप्रकाश**, १०।१७४

३. हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगम्। **अलङ्कारसर्वस्व** ५७।

४. स्यात्काव्यलिंग वागर्थो नूतनार्थसमर्पकः। **चन्द्रालोक** ५।३७।

५. (क) हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते। **साहित्यदर्पण** १०।६२।
(ख) हेतुस्त्रिधाभवति—ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति। तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः काव्यलिंगस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य, इति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिंगात्।
वही, दशमोल्लास, पृ० ८०३।

६. समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंगं समर्थनम्। **कुवलयानन्द** १२१।

७. अनुमितिकारणत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्यां चानालिंगितः प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थः काव्यलिंगम्। **रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ५७१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

निष्कर्ष रूप में मान्य आचार्यों-मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों के मत में काव्यलिंग अलकार वहाँ होता है जहाँ सम्पूर्ण वाक्यार्थ को अथवा पदार्थ को हेतु बनाकर किसी अर्थ-विशेष का उपपादन किया जाता है।

अनुमान अलङ्कार—आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम काव्यलङ्कार के क्षेत्र में अनुमान अकङ्कार की अवतारणा की। उन्होंने इसके दो लक्षण तथा छः उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार जहाँ कवि परोक्ष साध्य वस्तु (कार्य) को बताकर पुनः उसके साधक (कारण) का उल्लेख करे अथवा इसके विपरीत जहाँ पहले साधक या कारण का उल्लेख कर बाद में साध्य या कार्य का उल्लेख करे, वहाँ अनुमान अलङ्कार होता है। रुद्रटकृत अनुमान का दूसरा लक्षण इस प्रकार है जहाँ बलवान् कारण को देखकर अनुत्पन्न कार्य को भी उत्पन्न अथवा भावी कह दिया जाए, वहाँ भी अनुमान अलंकार होता है।[1] रुद्रट ने दो उद्धरण प्रथम लक्षण-विषयक दिये हैं। शेष चार दूसरे लक्षण के दिये हैं जिनमें से दो भूत के और दो भावी के हैं।,

भोजराज ने प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों को अलंकार के रूप में स्वीकार कर उनका सभेद विवेचन किया है। भोजराज ने अनुमान अलंकार की मूल-धारणा में कोई परिवर्तन नहीं किया है, उन्होंने इसके अनेक भेदोपभेदों का निरूपण किया है। यथा— पहले पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट रूप से तीन भेद किये हैं। फिर अनुमान शब्द के भाव अर्थ में तथा करण अर्थ में दो प्रकार से सिद्ध होने के कारण इसके दो भेद करके छः उद्धरण दिये हैं। उनके अनुसार जहाँ लिंग से लिंगि का ज्ञान होता है, वहाँ अनुमान अलंकार होता है।[2]

आचार्य मम्मट ने साध्य तथा साधन का कथन अनुमान का लक्षण माना है।[3] मम्मट की मान्यता है कि साध्य-साधन के पौर्वापर्य कथन में कोई वैशिष्टय नहीं है, अतः परिभाषा में उसका उल्लेख व्यर्थ है।

राजानक रुय्यक के अनुसार साध्य के लिये साधन का निर्देश अनुमान है। दूसरे शब्दों में जहाँ अभिधान के माध्यम से पक्षधर्मी, अन्वयी अथवा व्यतिरेकी साधन

---

१. (क) वस्तु परोक्षं यस्मिन्साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य।
पुनरन्यदुपन्यस्येद्विपरीतं चैतदनुमानम् ॥ **काव्यालङ्कार (रुद्रट)**, ७।५६।
(ख) यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति।
भावीति वा तथान्यत्कथ्येत तदन्यदनुमानन् ॥ **वही**, ७।५९।

२. (क) लिङ्गाद्यल्लिङ्गिनो ज्ञानमनुमानं तदुच्यते।
पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतश्च यत् ॥ **सरस्वतीकण्ठाभरण**, ३।४७।
(ख) द्रष्टव्य, **वही**, पृ० ३८२-३८५।

३. अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ॥ **काव्यप्रकाश**, १०।११७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

का साध्य की प्रतीति के लिये निर्देश किया जाता है, वहाँ अनुमान अलंकार होता
है। इसका चमत्कारविशेष आर्थ या कवि कल्पित होता है। इस प्रकार रुय्यक ने
इस बात पर वल दिया है कि काव्य में उक्ति की विच्छित्ति अनुमान को अलङ्कारत्व
प्रदान करती है, अन्यथा दर्शन के अनुमान तथा काव्यानुमान में कोई अन्तर ही नहीं
रह जायेगा।[1]

पीयूषवर्ष जयदेव ने कार्यादि से कारणादि के निश्चय को अनुमान स्वीकार
किया है।[2]

विश्वनाथ ने अनुमान के लक्षण में विच्छित्ति पद का उल्लेख किया है। उनके
अनुसार साध्य-साधन का विच्छित्तिपूर्ण ज्ञान अनुमान अलंकार कहलाता है।[3]
अप्पयदीक्षित ने भोजराज के अनुसार इसे प्रमाणालंकारों में स्वीकार किया है और
इसका लक्षण न देकर केवल उदाहरण दिये हैं।[4] पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार
अनुमिति रूप ज्ञान विशेष के कारण को अनुमान कहते हैं।[5]

स्पष्ट है कि अनुमान के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई नवीन उद्भावना
अलंकारशास्त्र में नहीं की गयी है। दर्शन की अनुमान धारणा को ही सभी आचार्यों
ने स्वीकार किया है। साध्य-साधन के ज्ञान का विच्छित्तिपूर्ण वर्णन अनुमान अलङ्कार
माना जाता है।

वाक्यन्याय मूलक—

यथासंख्य अलङ्कार—यथासंख्य बहुत पुराना अलंकार है। इसे लगभग सभी
आचार्यों ने स्वीकार किया है। आचार्य भामह के अनुसार—जहाँ पूर्व निर्दिष्ट अनेक
भिन्न धर्म वाले अर्थों का क्रमशः अनुनिर्देश दिया जाए, वहाँ यथासंख्य अलंकार
होता है।[6] स्पष्ट है कि यथासंख्य अलङ्कार में एक बार अनेक अर्थों का निर्देश तथा

---

१. (क) साध्य-साधननिर्देशोऽनुमानम्। **अलङ्कारसर्वस्व**, सूत्र ५८।
(ख) यत्र शब्दवृत्तेन पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकवत्साधनं साध्यप्रतीतये।
निर्दिश्यते सोऽनुमानालंकारः। विच्छित्तिविशेषश्चात्रार्थादाश्रयणीयः।
अन्यथा तर्कानुमानात्कि वैलक्षण्यं स्यात्।
—**वही**, सूत्र ५८ वृत्ति, पृ० २६६।

२. अनुमानं च कार्यादिः कारणाद्यवधारणम्। **चन्द्रालोक**, ५।३६।

३. अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्।
—**साहित्यदर्पण**, १०।६३।

४. द्रष्टव्य, **कुवलयानन्द**, पृ० २७६-२७७।

५. अनुमितिकारणमनुमानम्। **रसगङ्गाधर**, द्वितीय आनन, पृ० ६०९।

६. भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम्।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते॥
भामह—**काव्यालंकार**, २।८९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

पुनः उन अर्थों का क्रमिक अनुर्निदेश होता है, पूर्व निर्दिष्ट अर्थों में जो क्रम रहता है, उसी क्रम से उनके पुनः निर्देश में जो चमत्कार रहता है, वही इसके अलङ्कारत्व का हेतु होता है।

आचार्य दण्डी ने आचार्य भामह की यथासंख्य अलंकार की धारणा को स्वीकार करके उसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—पूर्व कथित (वर्णित) पदार्थों का उसी क्रम से पीछे कहे हुए अर्थों के साथ अन्वय यथासंख्य अलङ्कार कहा जाता है। इसे 'संख्यान' और 'क्रम' भी कहा जाता है।[1] अग्निपुराणकार ने यथासंख्य या क्रम का स्वरूप तो पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणानुसार निरूपित किया है किन्तु उसे अलङ्कार के रूप में न स्वीकार कर गुण के रूप में स्वीकार किया है।[2]

उद्भट ने भामह के यथासंख्य-लक्षण को अक्षरशः स्वीकार किया है।[3] और प्रतिहारेन्दुराज ने उसकी यथोचित व्याख्या की है।

आचार्य रुद्रट के अनुसार जिस परिपाटी या क्रम से विविध अर्थों का निर्देश किया गया हो, उसी परिपाटी से उन अर्थों से प्रतिबद्ध अर्थों का निर्देश यथासंख्य अलङ्कार कहा जाता है।[4] रुद्रट की यथासंख्य की मान्यता मूलतः पूर्ववर्ती आचार्यों की क्रम-विषयक मान्यता से भिन्न नहीं है तथापि इन्होंने निर्दिष्ट तथा निर्दिश्यमान अर्थों के बीच उपमानोपमेयभाव के स्थान पर विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध की कल्पना की है और इसके द्विगुण और त्रिगुण के उद्धरण दिये है।

वामनाचार्य ने उपमानोपमेय के क्रम-सम्बन्ध को क्रम (यथासंख्य) कहा है। आचार्य कुन्तक ने यथासंख्य अलङ्कार के अलङ्कारत्व का खण्डन करते हुए युक्ति दी है कि यथासंख्य में उक्तिवैचित्र्य का अभाव रहता है, अतः उसे अलङ्कार नहीं स्वीकार किया जाना चाहिए।[5]

भोजराज के अनुसार यथासंख्य उभयालंकार है। जहाँ शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ-युगल का परिपाटी (क्रम) से निर्देश होता है वहाँ क्रम (यथासंख्य) अलङ्कार

---

१. उद्दिष्टानां पदार्थानामनुद्देशो यथाक्रमम्।
यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि॥
दण्डी—काव्यादर्श, २।२७३।

२. द्रष्टव्य, **अग्निपुराण**, ३४६।२२।

३. द्रष्टव्य—उद्भट, **काव्यालंकार सार संग्रह**—३।२।

४. निर्दिश्यन्ते यस्मिन्नर्था विविधा यथैव परिपाट्या।
पुनरपि तत्प्रतिबद्धास्तथैव तत्स्याद्यथासंख्यम्॥
काव्यलंकार (रुद्रट), ७।३४।

५. द्रष्टव्य—वक्रोक्तिजीवित पृ० ४७८–८०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

होता है।[1] क्रम की मूल धारणा में भोज कोई नवीनता नहीं ला सके हैं, हाँ शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ रूप में विभाजन की धारणा कुछ नवीन है। इन्होंने पद और वाक्य रूप से दो प्रकार की शब्द-परिपाटी काल और देश रूप से दो प्रकार की अर्थ-परिपाटी तथा शब्दप्रधाना और अर्थप्रधाना रूप से दो प्रकार की उभयपरिपाटी स्वीकार कर क्रम अलङ्कार के छः भेद किये है और उतने ही उनके उद्धरण दिये हैं।[2]

आचार्य मम्मट के अनुसार किसी क्रम से उक्त पदार्थों (क्रमिकों) का उसी क्रम से अन्वय क्रम अलंकार होता है ।[3] राजानक रुय्यक ने भी भामह के लक्षण का ही अनुसरण किया है—उद्दिष्ट अर्थों का क्रमशः अनुनिर्देश यथासंख्य अलंकार कहा है। इन्होंने इसके दो भेद किये हैं–शाब्द तथा आर्थ।[4] जयदेव के अनुसा रजाता जहाँ एक निश्चित क्रम से कथित कारक पदों या क्रिया पदों का उसी क्रम से कारक पदों या क्रिया के पदों साथ अन्वय(सम्बन्ध) किया जाये, वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है।[5] इस प्रकार जयदेव ने यथासंख्य के लक्षण में कारक-पद और क्रियापद के क्रमिक निर्देश पर वल दिया है। विश्वनाथ ने भामह के लक्षण का ही अनुकरण किया है। उनके अनुसार पूर्वोद्दिष्ट पदार्थों का क्रमशः पुनः कथन यथासंख्य अलंकार कहा जाता है।[6] अप्पयदीक्षित ने आचार्य मम्मट का ही लक्षण उद्धृत कर दिया है।[7] पण्डिराज जगन्नाथ ने भी निर्देश-क्रम से अर्थों के सम्बन्ध को यथासंख्य स्वीकार किया है।[8]

---

१. शब्दस्य यदि वार्थस्य द्वयोरप्यनयोरथ।
भणनं परिपाट्या यत् क्रमः स परिकीर्तितः ।।
—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ४।७६।

२. तत्र शब्दपरिपाटी द्विधा—पदतो वाक्यतश्च। अर्थपरिपाटी द्विविधा। कालतो देशतश्च। उभयपरिपाटी द्विधा—शब्दप्रधाना अर्थप्रधाना च।
—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, पृ० ५३१-५३३।

३. यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः। —**काव्यप्रकाश** १०।१६४।

४. (क) उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुनिर्देशो यथासंख्यम् ॥
—**अलङ्कारसर्वस्व**, सूत्र। ५६।

(ख) तच्च यथासंख्य शाब्दमार्थं चेति द्विधा। वही, पृ० २७२।

५. यथासंख्यं द्विधार्थाश्चेत्क्रमादेकैकमन्विताः। —**चन्द्रालोक**, ५।६२।

६. यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्। —**साहित्यदर्पण**, १०।७६।

७. द्रष्टव्य—**कुवलयानन्द**, १०६।

८. उपदेश क्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम्।
—**रसगङ्गाधर** द्वितीयानन, पृ० ६१६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

इस प्रकार स्पष्ट है कि यथासंख्य अलंकार के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी आचार्यों की मूल धारणा समान है कि पूर्वनिर्दिष्ट अर्थों में जो क्रम रहता है उसी क्रम से पीछे कहे जाने वाले अर्थों के साथ उन अर्थों का अन्वय होता है। पूर्वनिर्दिष्ट तथा पश्चात् निर्दिष्ट पदार्थों में उपमानोपमेय भाव, विशेषण विशेष्यभाव आदि सम्बन्ध भी हो सकते हैं किन्तु ये यथासंख्य के आवश्यक लक्षण नहीं माने जा सकते। यथासंख्य शब्द गुम्फ के विशेष क्रम की धारणा पर ही आधारित है।

पर्याय अलङ्कार—आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम पर्याय अलङ्कार की उद्भावना की है। उन्होंने इस अलङ्कार के दो लक्षण दिये हैं। उनके अनुसार पर्याय अलङ्कार का प्रथम लक्षण इस प्रकार है जिसमें विवक्षित वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ किन्तु उसके असदृश तथा उसके साथ उत्पाद्य (कार्य) या उत्पादक (कारण) सम्बन्ध नहीं रखने वाले पदार्थ का कथन होता है।[1] रुद्रट के अनुसार पर्याय के दूसरे भेद की परिभाषा इस प्रकार है—जहाँ अनेक आधारों में एक वस्तु का अथवा एक आधार में अनेक वस्तुओं का क्रम से होना वर्णित हो, वहाँ अन्य प्रकार का पर्याय अलङ्कार होता है, वस्तु सुखद अथवा दुःखद प्रकृति की हो सकती है।[2]

रुद्रट का पर्याय अलङ्कार का प्रथम भेद भामह, दण्डी, उद्भट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के पर्यायोक्त अलङ्कार की धारणा पर आधृत है। रुद्रट के पश्चात् उनके पर्याय के दोनों रूप पृथक्-पृथक् अलङ्कारों के रूप में स्वीकृत हुए। पूर्वाचार्यों की पर्यायोक्ति (पर्यायोक्त) जिसे रुद्रट ने पर्याय का एक भेद कहा था, पर्याय से स्वतन्त्र पर्यायोक्त संज्ञा से स्वीकृत हुआ तथा दूसरा भेद पर्याय अलङ्कार के रूप में स्वीकार किया गया।

भोजराज ने रुद्रटकृत प्रथम लक्षण के अनुसार मिष, उक्तिभंगी और अवसर को पर्याय अलङ्कार कहा है। फिर प्रत्येक के साकांक्ष और निराकांक्ष रूप से दो-दो भेद करके कुल छः भेद किये हैं।[3]

आचार्य मम्मट ने पर्यायोक्त तथा पर्याय का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। उन्होंने रुद्रट के पर्याय के द्वितीय भेद के

---

१. वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य।
यदजनकतमजन्यं वा तत्कथनं यत्स पर्यायः॥
—रुद्रट-काव्यालङ्कार, ७।४२।

२. यत्रैकमनेकस्मिन्ननेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात्।
वस्तु सुखादिप्रकृति क्रियेत वान्यः स पर्यायः॥ —वही, ७।४४।

३. मिषं यदुक्तिभङ्गिर्यावसरो यः स सूरिभिः।
निराकांक्षोऽथ साकाङ्क्षः पर्याय इति गीयते॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, ४।८०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आधार पर पर्याय के स्वरूप का निरुपण किया है। उनके अनुसार एक वस्तु का क्रम से अनेक आधारों में होना या किया जाना पर्याय कहलाता है। अनेक वस्तुओं का भी क्रम से एक आधार में होना या किया जाना पर्याय का दूसरा प्रकार है।[1] मम्मट ने पर्याय के चार उदाहरण दिये है—वास्तविक एकत्व में प्रयोजक रहित, वास्तविक एकत्व में प्रयोजक सहित, आरोपित एकत्व में प्रयोजक रहित और आरोपित एकत्व में प्रयोजक सहित।

राजानक रुय्यक ने रुद्रट के दोनों भेद स्वीकार किये है। उनके अनुसार एक का अनेक में और अनेक का एक में क्रमशः रहना पर्याय है।[2] पीयूष वर्ष जयदेव ने मम्मटाचार्य का अनुगमन किया है।[3] विश्वनाथ ने मम्मट और रुय्यक दोनों के लक्षणों को मिलाकर पर्याय का लक्षण बनाया है जहाँ एक वस्तु के अनेक में अथवा अनेक वस्तुओं के एक में क्रमशः अवस्थान अथवा क्रमशः सम्पादन का वर्णन होता है, वहाँ पर्याय अलङ्कार होता है।[4]

अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ एक पदार्थ का क्रम से अनेक पदार्थों के साथ सम्बन्ध वर्णित किया जाए, वहाँ पर्याय अलङ्कार होता है।[5] तथा एक आधार में अनेक आधेयों का क्रम से वर्णन होने पर भी पर्याय अङ्ककार होता है।[6] कुवलयानन्दकार ने प्रथम प्रकार के पर्याय के शुद्ध पर्याय, संकोच पर्याय और विकास पर्याय रूप से तीन भेद करके उनके उद्धरण दिये हैं।[7]

रसगङ्गाधरकार जगन्नाथ ने मम्मटाचार्य का अनुकरण किया है। उनके अनुसार क्रम से अनेक अधिकरण वाला एक आधेय प्रथम प्रकार का पर्याय अलङ्कार

---

१. (क) एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः। अन्यस्ततोऽन्यथा।
—**काव्यप्रकाश, १०।११७।**

(ख) एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन्भवति क्रियते वा स पर्यायः। अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः।
—**वही**, वृत्ति, पृ० ५५९–६०।

२. (क) एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन् क्रमेण पर्यायः।
—**अलङ्कारसर्वस्व–६०।**

(ख) एकस्मिन्नाधारेऽनेकमाधेयं स द्वितीयाः। —**वही, ६१।**

३. पर्यायश्चेदनेकत्र स्यादेकस्य समन्वयः। —**चन्द्रालोक, ५।९३।**

४. क्वचिदमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते॥—**साहित्यदर्पण, १०।७९, ८०।**

५. पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेकसंश्रयः। —**कुवलयानन्द–११०।**

६. एकस्मिन् यद्यनेकं वा पर्यायः सोऽपि संमतः। —**वही, १११।**

७. द्रष्टव्य—**वही**, पृ० १८१–१८२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

है और क्रम से अनेक आधेय वाला एक अधिकरण दूसरे प्रकार का पर्याय अलङ्कार है।[1]

स्पष्टतः मम्मट तथा रुय्यक के परवर्ती विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने उनके द्वारा स्वीकृत पर्याय अलङ्कार के लक्षण के अनुसार ही पर्याय अलङ्कार को परिभाषित किया है। भामहादि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत पर्यायोक्त अलङ्कार के स्थान पर रुद्रट ने पर्याय शब्द का प्रयोग कर उसके दो भेदों की कल्पना कर अनजाने ही अलंकार शास्त्र में दूसरे भेद के रूप में पर्याय नामक एक नवीन अलंकार की सृष्टि कर दी।

परिवृत्ति अलङ्कार—आचार्य भामह के समय में ही परिवृत्ति अलंकार के रूप में स्वीकार हो चुका था। आचार्य भामह के अनुसार यदि अन्य वस्तु के परित्याग से विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति हो और उसमें अर्थान्तरन्यास मिला हुआ हो, तो परिवृत्ति अलंकार होता है।[2] इस प्रकार भामह के मत में परिवृत्ति में दो बातें होनी चाहिये—१. अविशिष्ट के परित्याग से विशिष्ट की प्राप्ति और २. अर्थान्तरन्यास की सत्ता।

दण्डी ने परिवृत्ति को परिभाषित करते हुये कहा है कि अर्थों के विनियम को परिवृत्ति कहते हैं।[3] विनिमय के तीन रूप सम्भव हैं—१. समान से समान का विनिमय, २. न्यून से अधिक का विनिमय और ३. अधिक से न्यून का विनिमय। दण्डी का परिवृत्ति का लक्षण तो तीनों प्रकार के विनिमय को व्याप्त करता है किन्तु उन्होंने उद्धरण केवल न्यून से अधिक के आदान का ही दिया है। और स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि परिवृत्ति के किञ्चित् रूप का ही उदाहरण दिया जा रहा है। स्पष्टतः दण्डी के मन में अन्य रूपों की भी कल्पना थी।[4]

उद्भट ने दण्डी की परिवृत्ति परिभाषा को ही कुछ परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सम, न्यून तथा विशिष्ट से किसी वस्तु का परिवर्तन जो अर्थ (इष्ट) स्वभाव और अनर्थ (अनिष्ट) स्वभाव वाला होता है, परिवृत्ति कहा जाता है। लक्षण से सिद्ध हो जाता है कि परिवृत्ति तीन प्रकार से सम्भव है—

---

१. क्रमेणानेकाधिकरणमेकमाधेयमेकः पर्यायः। क्रमेणानेकाधेयकमेकमधिकरणमपरः। —**रसगङ्गाधर**, द्वितीयानन, पृ० ६२५।

२. विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा॥
—**काव्यलङ्कार**, (भामह), ३।४१।

३. अर्थानां यो विनिमयः परिवृत्तिस्तु सा स्मृता। —**काव्यादर्श**, २।३५१।

४. (क) क्रियते परिवृत्तेश्च किंचिद्रूपनिरुपणम्। —वही, २।३५५।
(ख) द्रष्टव्य—वही, २।३५६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

१. सम परिवृत्ति (सम से सम का विनिमय), २. न्यून परिवृत्ति (न्यून देकर अधिक का आदान अर्थ स्वभाव) और ३. विशिष्ट परिवृत्ति (अधिक देकर न्यून का ग्रहण अनर्थस्वभाव)।[1]

वामन ने दण्डी और उद्भट की धारणा को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार समान अथवा असमान अर्थ से अर्थ का परिवर्तन परिवृत्ति अलंकार कहा जाता है।[2]

रुद्रटाचार्य के अनुसार दो वस्तुओं के परस्पर एक ही साथ आदान-प्रदान करने को परिवृत्ति कहते हैं। कभी-कभी ये आदान-प्रदान प्रसिद्धि के कारण उपचरित भी होते हैं।[3] इस प्रकार रुद्रट तात्त्विक विनिमय या कुछ देकर कुछ लेने में परिवृत्ति मानने के साथ-साथ औपचारिक विनिमय में भी परिवृत्ति का सद्भाव स्वीकार करते हैं।

भोजराज ने वस्तुओं के विनिमय तथा वस्तुओं के व्यत्यय को परिवृत्ति माना है।[4] इस प्रकार भोज ने परिवृत्ति के लक्षण में वस्तुओं के विनिमय तथा व्यत्यय की धारणा प्रकट की है। व्यत्यय तथा विनिमय को मिलाकर उभयरूपात्मक परिवृत्ति बनती हैं। इन तीनों के मुख्य और अमुख्य भेद से कुल छः भेद हो जाते हैं—व्यत्ययवती मुख्या, व्यत्ययवती अमुख्या, विनिमयवती मुख्या, विनिमयवती अमुख्या, उभयवती मुख्या और उभयवती अमुख्या।[5]

---

१. समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्यचित् परिवर्तनम्।
अर्थानर्थस्वभावं यत् परिवृत्तिरभाणि सा॥
—काव्यालङ्कारसारसंग्रह, ५।३१।

२. समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्तिः।
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, (वामन), ४।३।१६।

३. युगपद्दानादाने अन्योन्यं वस्तुनोः क्रियेते यत्।
क्वचिदुपचर्येते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः॥
—काव्यालङ्कार, (रुद्रट), ७।७७।

४. व्यत्ययो वस्तुनो वस्तु यो वा विनिमयो मिथः।
परिवृत्तिरिहोक्ता सा: काव्यालंकारलक्षणे॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३।२६।

५. (क) सा त्रिधा व्यत्ययवती तथा विनिमयात्मिका।
तृतीया चोभयवती निर्दिष्टा काव्यसूरिभिः॥ —वही, ३।३०।

(ख) सर्वत्र मुख्यवृत्त्या गौणवृत्तिव्यपाश्रेण वा तथाभावोक्तिरिति षट्प्रकारत्वं दर्शयति—त्रिधापि चासौ मुख्यामुख्यभेदाद्विधाभूय षोढा संपद्यते। —वही, वृत्ति, पृ० ३४६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

मम्मट के अनुसार—जहाँ समान तथा असमान वस्तु के साथ पदार्थों का विनिमय दिखाया जाता है, वहाँ परिवृत्ति नामक अलंकार होता है। इन्होंने उद्भट की तरह सम, न्यून तथा विशिष्ट अर्थ से सम, विशिष्ट और न्यून अर्थ के विनिमय में परिवृत्ति अलंकार स्वीकार किया है।[1]

रुय्यक ने मम्मट कृत लक्षण को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि सम का सम के साथ, न्यून का अधिक के साथ और अधिक का न्यून के साथ विनिमय परिवृत्ति है।[2] इन्होंने भी सम परिवृत्ति, अधिक परिवृत्ति तथा न्यून परिवृत्ति भेद से तीन भेद स्वीकार किये हैं। पीयूषवर्ष जयदेव ने समपरिवृत्ति को छोड़कर न्यून तथा अधिक पदार्थ द्वारा आपस में विनिमय को परिवृत्ति कहा है।[3]

विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुकरण करते हुए परिवृत्ति का लक्षण किया है—सम, न्यून और अधिक के साथ सम, अधिक और न्यून का विनिमय परिवृत्ति अलंकार कहा जाता है।[4]

अप्पयदीक्षित ने जयदेव की तरह न्यून और अधिक का परस्पर विनिमय ही परिवृत्ति का क्षेत्र स्वीकार किया है।[5] उन्होंने इसके जो दो उद्धरण दिये हैं, उनमें न्यून के बदले अधिक का ग्रहण ही दिखाया गया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अप्पयदीक्षित को भामह की भाँति केवल न्यून देकर विशिष्ट ग्रहण में ही परिवृत्ति अलंकार स्वीकार होगा।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार दूसरे की किसी वस्तु को लेकर उसके बदले में अपनी किसी वस्तु का उसके लिये समर्पण परिवृत्ति कहलाता है।[6] यह प्रथमतः दो प्रकार की है—सम परिवृत्ति और विषम परिवृत्ति। समपरिवृत्ति के भी दो प्रकार है—उत्तम वस्तुओं से उत्तम वस्तु की परिवृत्ति और न्यून वस्तुओं से न्यून वस्तु की परिवृत्ति। इसी प्रकार विषम परिवृत्ति के भी दो प्रकार हैं—उत्तम वस्तुओं से न्यून की परिवृत्ति और न्यूनों से उत्तम की परिवृत्ति। इस प्रकार परिवृत्ति के चार भेद

---

१. परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः। —काव्यप्रकाश, १०।११३।

२. समन्यूनाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः।
—अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र–६२।

३. परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः। —चन्द्रालोक, ५।६३।

४. परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्॥ —साहित्यदर्पण, १०।८०।

५. परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः। —कुवलयानन्द–११२।

६. परकीययत्किंचिद्वस्त्वादानविशिष्टं परस्मै स्वकीययत्किंचिद्वस्तु समर्पणं परिवृत्तिः। —रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ० ६३६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

हो जाते हैं।[1] जगन्नाथ ने एक वस्तु का समर्पण कर अन्य वस्तु के ग्रहण में ही परिवृत्ति अलंकार माना है, केवल दूसरी वस्तु के ग्रहण के लिये एक वस्तु का त्याग मात्र ही पर्याप्त नहीं माना है।

स्पष्टतः परिवृत्ति के सम्बन्ध में दो प्रधान विचार धाराएँ प्रचलित रही हैं— १. न्यून वस्तु देकर विशिष्ट वस्तु का ग्रहण, २. सम, न्यून तथा अधिक वस्तुओं का क्रमशः सम, अधिक एवं न्यून के साथ विनिमय। अधिकांश आचार्यों ने सम का सम में, न्यून का अधिक से तथा अधिक का न्यून से विनिमय दिखाने में अपनी सहमति व्यक्त की है। वस्तुतः विनिमय की विवक्षा परिवृत्ति का प्राण है।

परिसंख्या अलङ्कार—परिसख्या का अलङ्कार के रूप में निरूपण सर्वप्रथम रुद्रट ने किया है। उनके अनुसार जहाँ प्रश्नपूर्वक अथवा बिना प्रश्न के अनेकत्र समान रूप से रहने वाली गुण, क्रिया या जाति रूप वस्तु का कहीं सद्भाव वर्णित हो और अन्यत्र उसका अभाव प्रतीत हो, वहाँ परिसंख्या अलङ्कार होता है।[2]

भोज ने परिसंख्या को उक्ति नामक शब्दालङ्कार के छः भेदों में से एक भेद परिसंख्योक्ति स्वीकार किया है। उन्होंने विधि-निषेध से शेष का ज्ञान परिसंख्या का लक्षण माना है।[3] इससे स्पष्ट हो जाता हे कि परिसंख्या के सम्बन्ध में भोज की धारणा रुद्रट की धारणा के तुल्य है। परिसंख्या को शब्दालङ्कार मानना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि विधि-निषेध से अन्य की प्रतीति अर्थ सापेक्ष होती है।

मम्मट ने रुद्रट स्वीकृत परिसंख्या सम्बन्धी मान्यता को स्वीकार कर उसके क्षेत्र को थोड़ा विस्तृत कर दिया है। उनके अनुसार जहाँ पूछी गई अथवा न पूछी गई, कोई वस्तु शब्दतः कथित होकर अपने जैसी किसी अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होती है, वहाँ परिसंख्या होती है।[4] उन्होंने वृत्ति में अपोह्यमान वस्तु के

---

१. सा च तावद् द्विविधा-समपरिवृत्तिर्विषमपरिवृत्तिश्चेति। समपरिवृत्तिः अपि द्विविधा—उत्तमैरुत्तमानां न्यूनैर्न्यूनानां चेति। विषमपरिवृत्तिरपि तथा—उत्तमैर्न्यूनानां न्यूनैरुत्तमानां चेति।

—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ६३६–६३७।

२. पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम्।
अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या॥

—**काव्यालङ्कार**, (रुद्रट), ७।७९।

३. तदिदं विधिनिषेधाभ्यां शेषाभ्यनुज्ञानं परिसंख्येत्युच्यते।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, द्वितीय परिच्छेद, पृ० १७२।

४. किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता॥

—**काव्यप्रकाश**, १०।१८५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

प्रतीयमान तथा वाच्य होने के आधार पर परिसंख्या के दो भेद किये हैं। इस प्रकार उन्होंने पृष्ट तथा अपृष्ट भेद के वाच्य और प्रतीयमान रूप से दो-दो भेद होने से परिसंख्या के चार भेद स्वीकार किये हैं।[1]

रुय्यक कृत परिसंख्या की परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक सरल तथा सुस्पष्ट है। उनके अनुसार एक वस्तु के अनेकत्र पाये जाने पर एकत्र नियमन परिसंख्या है।[2] स्पष्ट है कि किसी एक का निराकरण कर किसी दूसरे का संख्यान परिसंख्या है। यह परिसंख्या प्रश्नपूर्वक हो सकती है और बिना प्रश्नपूर्वक भी। इस प्रकार प्रथमतः दो प्रकार की है। दोनों में से प्रत्येक के वर्जनीय शब्द और वर्जनीय अर्थ के रूप में दो-दो भेद होते हैं। इस प्रकार परिसंख्या के चार भेद होते हैं।[3]

जयदेव ने रुय्यक कृत परिसंख्या के लक्षण का अनुवाद मात्र कर दिया है।[4] विश्वनाथ ने मम्मट का अनुकरण किया है। उनके अनुसार जहाँ प्रश्नपूर्वक अथवा बिना प्रश्न के किसी एक वस्तु के कथन से उसके तुल्य किसी दूसरी वस्तु का शब्दतः अथवा अर्थतः व्यवच्छेद होता है, वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है।[5]

अप्पयदीक्षित के अनुसार किसी पदार्थ का एक स्थान पर अभाव बताकर अन्य स्थान पर उस पदार्थ की सत्ता बताना परिसंख्या अलंकार होता है।[6] इन्होंने इसके शाब्द और आर्थ रूप से दो भेद किये हैं। इन्होंने पृष्ट तथा अपृष्ट का उल्लेख अपने लक्षण में नहीं किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट, रुय्यक आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के मतानुसार परिसंख्या का सामान्य लक्षण दिया है। उनके अनुसार किसी विशेष को सूचित

---

१. अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम्, तथोभयत्र व्यापोह्य-मानस्य प्रतीयमानता वाच्यं चेति चत्वारो भेदाः।

—वही, वृत्ति, पृ० ५६७।

२. एकस्यानेकत्र प्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या।

—अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र—६३।

३. सा चैषा प्रश्नपूर्विका तदन्यथा वेति प्रथमं द्विविधा। प्रत्येक च वर्जनीय-त्वेऽस्य शाब्दत्वार्थत्वाभ्यां द्वैविध्यमिति चतुः प्रभेदा परिसंख्या।

—अलङ्कारसर्वस्व, वृत्ति, पृ० २८१।

४. परिसंख्यानिषिध्यैक मन्यस्मिन्वस्तुयन्त्रणम्। —चन्द्रालोक, ५।९५।

५. प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत्।
ताद्दगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा॥

—साहित्यदर्पण, १०।८१।

६. परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन् वस्तुयन्त्रणम्। —कुवलयानन्द, ११३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

करने के लिये सामान्यतः प्राप्त वस्तु का निषेध परिसंख्या कहलाता है। यह परिसंख्या प्रथमतः दो प्रकार की होती है एक शुद्धा अर्थात् प्रश्नरहिता और दूसरी प्रश्नपूर्विका। इन दोनों ही प्रकारों के शाब्दी तथा आर्थी भेद से दो-दो प्रकार हो जाते हैं। इस प्रकार परिसंख्या के कल चार भेद होते हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परिसंख्या अलंकार के सामान्य रूप को सम्बन्ध में सभी आचार्य एकमत हैं कि अनेकत्र समान रूप से प्राप्त वस्तु का एकत्र स्थापन तथा अन्यत्र शाब्द या प्रतीयमान निषेध परिसंख्या अलंकार कहलाता है। वस्तु की एकत्र स्थापना तथा अपरत्र उसका निषेध प्रश्न किये जाने पर भी किया जा सकता है और प्रश्ननिरपेक्ष रूप में भी किया जा सकता है।

अर्थापत्ति अलङ्कार—दर्शनशास्त्र में प्रतिपादित अर्थापत्ति का स्वरूप ही काव्यशास्त्र में अलङ्कार के रूप में स्वीकृत हुआ है। आचार्य भरत ने अर्थापत्ति नामक लक्षण का उल्लेख किया था।[2] तदुपरान्त भोजराज के सरस्वतीकण्ठाकरण में अर्थापत्ति का उल्लेख प्राप्त होता है। उनके अनुसार जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीत पदार्थ उस प्रकार उत्पन्न नहीं होता और अन्यथानुपपत्ति के द्वारा अन्य पदार्थ का बोध कराता है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं।[3] इसके प्रत्यक्षादि प्रमाणपूर्वक होने से छः भेद बताये गये हैं।[4] मम्मटाचार्य ने अर्थापत्ति को स्वीकार नहीं किया है।

राजानक रुय्यक के अनुसार जहाँ दन्डायूपिकान्याय[5] से एक अर्थ का कथन

---

१. (क) सामान्यतः प्राप्तस्यार्थस्य कस्माच्चिद् विशेषाद्व्यावृत्तिः परिसंख्या।
—**रसगङ्गाधर**, द्वितीयानन, पृ० ६४१।

(ख) इयं तावद् द्विविधा—शुद्धा प्रश्नपूर्विका च। द्विविधाप्यार्थी शाब्दी चेति चतुर्विधा। —**वही**, द्वितीयानन, पृ०—६४४।

२. अर्थान्तरस्य कथने यत्राऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
वाक्यमाधुर्यसम्पन्ना सार्थापत्तिरुदाहृता ॥—**भरत नाट्यशास्त्र** १६।३२।

३. प्रत्यक्षादि प्रतीतोऽर्थो यस्तथा नोपपद्यते।
अर्थान्तरं च गमयत्यर्थापत्तिं वदन्ति ताम् ॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ३।५२।

४. सर्वप्रमाणपूर्वत्वादेकशोऽनेकश्च सा।
प्रत्यक्षपूर्विकेत्यादिभेदैः षोढा निगद्यते ॥—**वही**, ३।५३।

५. दण्डायूपिका वह तर्क प्रणाली है जिसके अनुसार आधेय रूप वस्तु उसी प्रकार स्वतः सिद्ध मानी जा सकती है, जिस प्रकार किसी डण्डे के गायब हो जाने पर उसमें बाँधे हुए मालपुए का गायब होना।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अन्य अर्थ को सिद्ध करता है, वहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार होता है।[1] दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है जिस प्रकार डन्डा खा लेने से मालपुआ का खा लिया जाना अर्थ बल से मालूम हो जाता है, उसी प्रकार किसी अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ होने से, तुल्य न्याय के आधार पर दूसरे अर्थ की प्रतीति हो जाना ही अर्थापत्ति अलङ्कार है। यह दो प्रकार का होता है—१. प्रकृत से अप्रकृत अर्थ की सिद्धि और २. अप्रकृत से प्रकृत अर्थ की सिद्धि। राजानक रुय्यक ने अनुमान अलङ्कार से अर्थापत्ति अलङ्कार की भिन्नता स्पष्ट करते हुए उल्लेख किया है कि तुल्य न्याय में सम्बन्ध नियत नहीं होता और सम्बन्ध के अभाव में अनुमान का उदय सम्भव नहीं हो सकता है। अर्थापत्ति मीमांसकों का न्याय है, उसी जाति की होने से इसका निरूपण वाक्यन्यायमूलक अलङ्कारों के सन्दर्भ में हुआ है।[2] स्पष्ट है कि दर्शन की अर्थापत्ति-विषयक मान्यता को ही स्वीकार कर आचार्यों ने उसी नाम से काव्यालङ्कार की कल्पना की है।

आचार्य मम्मट ने रुय्यक का अनुकरण मात्र किया है।[3]

रसगंगाधर के अनुसार तुल्य युक्ति के बल पर किसी एक अर्थ से किसी दूसरे अर्थ की आपत्ति (उपस्थिति) को अर्थापत्ति कहते हैं।[4] अर्थापत्ति के प्रथमतः चार प्रकार होते हैं—प्रकृत अर्थ से प्रकृत अर्थ की आपत्ति अप्रकृत से अपकृत अर्थ की आपत्ति, प्रकृत से अप्रकृत की आपत्ति और अप्रकृत से प्रकृत की आपत्ति। इन में से प्रत्येक के पुनः तीन-तीन प्रकार होते हैं, क्योंकि कहीं प्रथम अर्थ से दूसरे अर्थ की समता, कहीं न्यूनता और कहीं अधिकता रहेगी। इस प्रकार अर्थापत्ति के बारह भेद होते हैं। इन बारह भेदों के भी पुनः दो-दो भेद हो सकते

---

१. दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः।—**अलङ्कारसर्वस्व**–६४

२. (क) इयं च द्विविधा। प्राकरणिकाद प्राकरणिकस्यार्थस्यापतनमेकः प्रकारः। अप्राकरणिकात्प्राकरणिकस्यार्थापतनं द्वितीयः।

—**वही**, पृ० २८६–२८७।

(ख) न चेदमनुमानम्। समानन्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात्। असम्बन्धे चानुमानानुत्थानम्। अर्थापत्तिश्च वाक्यविदां न्याय इति तज्जातीयत्वेनेहाभिधानम्।—**वही**, पृ० २८६।

३. (क) दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते।—**साहित्यदर्पण**, १०।८३।

(ख) अत्र च क्वचित्प्राकरणिकादर्थादप्राकरणिकस्यार्थस्यापतनं क्वचिदप्राकरणिकार्थात् प्राकरणिकार्थस्येति द्वौ भेदौ। न चेदमनुमानम्, समानन्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात्।—**वही**, पृ० ८४५–४६।

४. केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः।

—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ६५०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

हैं, क्योंकि दोनों ही अर्थ कहीं भावरूप और अभावरूप रहेंगे। फलतः अर्थापत्ति के कुल भेद चौबीस हो जाते है।[1]

इस प्रकार स्वभावतः ही अर्थापत्ति के स्वरूप में एक रूपता ही रही है। इसका नाम-रूप तो प्राचीन है किन्तु अलङ्कार के रूप में उसकी स्वीकृति मात्र नवीन है।

विकल्प अलङ्कार—विकल्पालङ्कार की सर्व प्रथम कल्पना अलङ्कार सर्वस्व-कार रुय्यक ने की है। उनके अनुसार समान बल वाले विरोधी अर्थों की योजना में विकल्प अलङ्कार होता है।[2] रुय्यक की विकल्प-अलङ्कार-धारणा विकल्प की मनोदशा पर आधृत है। उन्होंने विकल्प को सादृश्यगर्भ अलङ्कार स्वीकार किया है तथा इसे समुच्चय अलङ्कार का प्रतिपक्षी बताया है।[3]

पीयूषवर्ष जयदेव तथा विश्वनाथ ने रुय्यक की विकल्पालङ्कार की धारणा को स्वीकार करते हुए उसमें कवि-चातुरी का उल्लेख किया है। इस प्रकार उनके अनुसार जहाँ कवि तुल्यबल वाले विरोधी पदार्थों का चातुरीपूर्ण निबन्धन करता है, वहाँ विकल्प अलङ्कार होता है।[4] अप्पयदीक्षित ने भी रुय्यक की धारणा को ही स्वीकार किया हे। उन्होंने तुल्य बल वाले पदार्थों के विरोध में विकल्प अलंकार माना है।[5] पण्डितराज जगन्नाथ ने विकल्पालङ्कार सम्बन्धी प्राचीन मान्यता को स्वीकार करके भी परिभाषा में थोड़ा परिष्कार किया है। उनके अनुसार दो विरोधी पदार्थों की पाक्षिक (जब एक प्राप्त हो, तब दूसरा प्राप्त न हो) प्राप्ति को विकल्पालङ्कार कहते हैं।[6] रुय्यक की भाँति उन्होंने भी विकल्प अलङ्कार को समुच्चय का प्रतिपक्षी माना है तथा उसका सौन्दर्य औपम्यगर्भ होने में माना है।[7]

---

१. सा च प्रकृतेन प्रकृतस्य अप्रकृतेनाप्रकृतस्य प्रकृततेनाप्रकृतस्य, अप्रकृतेन प्रकृतस्येति तावच्चतुर्भेदा प्रत्येकमर्थान्तिरस्य साम्यन्यूनाधिकयैर्द्वादिशविधा ततो भावाभावत्वाभ्यां चतुर्विंशतिभेदा।—**वही**, पृ० ६५०।

२. तुल्यबलविरोधो विकल्पः।—**अलङ्कारसर्वस्व**–६५।

३. (क) औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्।—**वही**, पृ० २८६।

(ख) तस्मात्समुच्चयप्रतिपक्षभूतो विकल्पाख्याऽलंकारः पूर्वैरकृतविवेकोऽत्र दर्शित इत्यवधातव्यम्।—**वही**, पृ० २६२।

४. (क) विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः।—**चन्द्रालोक**, ५।६६।

(ख) विकल्पतुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः।—**साहित्यदर्पण**, १०।८३।

५. विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पालंकृतिर्मता।—**कुवलयानन्द**–११४।

६. विरुद्धयोः पाक्षिकी प्राप्तिर्विकल्पः।

—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ६६१।

७. अयं च समुच्चयस्य प्रतिपक्षभूतो व्यतिरेक इवोपमायाः, अत्र च विकल्प्य-मानयारौपम्यमलंकारताबीजम्, तदादायैव चमत्कारस्योल्लासात्। अन्यथा तु विकल्पतामात्रम्।—**वही**, द्वितीयानन, पृ० ६६१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

स्पष्टतः जहाँ तुल्य बल वाले दो विरोधी पदार्थों के एक साथ एकत्र प्राप्त होने पर एक पक्ष के ग्रहण का निर्णय करना हो, वहाँ विकल्प अलङ्कार होता है। विकल्प की धारणा तो प्राचीन है, किन्तु अलङ्कार के रूप में उसकी स्वीकृति नवीन है।

समुच्चय अलङ्कार—आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम समुच्चय अलङ्कार की उद्भावना की। उन्होंने इसे वास्तव और औपम्य वर्गमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत दोनों स्थानों पर लिखा है। उनके अनुसार एक आधार में अनेक सुखावह आदि वस्तुओं का वर्णन समुच्चय अलङ्कार कहलाता है। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने सुखावह के साथ प्रयुक्त आदि शब्द से दुःखावह का अभिप्राय माना है। वास्तव वर्ग में रुद्रट ने समुच्चय अलङ्कार के तीन प्रकार स्वीकार किये हैं—१. अनेक सत् (सुन्दर) पदार्थों का एकत्र योग वर्णन २. अनेक असत् (असुन्दर) वस्तुओं का एकत्र योग वर्णन तथा ३. अनेक सत् (सुन्दर) तथा असत् (असुन्दर) वस्तुओं के योग का वर्णन।[1] औपम्यगर्भ समुच्चय अलङ्कार के सम्बन्ध में उनका कथन है कि समुच्चय अलङ्कार वह होता है, जहाँ अनेक उपमानोपमेयभूत अर्थ एक क्रिया आदि से सम्बद्ध रहते हैं।[2] इसकी व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने लिखा है कि जिसमें तीन चार या पाँच पदार्थों का वर्णन होता है, वह समुच्चय शोभाजनक होता है।[3]

भोजराज ने समुच्चय अलङ्कार को इस प्रकार परिभाषित किया है—अनेक द्रव्य, क्रिया, गुण आदि का एकत्र क्रिया, द्रव्य, गुण आदि में निवेश समुच्चय होता है।[4] आचार्य रुद्रट ने अनेक सत्-असत् पदार्थों के एकत्र योग की कल्पना समुच्चय में की थी, किन्तु भोज ने अनेक द्रव्य आदि के एक क्रिया, द्रव्य आदि से योग की कल्पना समुच्चय अलङ्कार में की। भोज ने समुच्चय के चार भेद किये हैं—द्विपदाश्रय,

---

१. (क) यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव।
ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधान्यः सदसतोर्योगः॥
—**काव्यालङ्कार** (रुद्रट), ७।१९।

(ख) व्यधिकरणे वा यस्मिन्गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन्।
उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात्तदन्योऽसौ॥—**वही**, ७।२७।

२. सोऽयं समुच्चयः स्याद्यत्रानेकोऽर्थ एकसामान्यः।
अनिवादिर्द्रव्यादिः सत्युपमानोपमेयत्वे॥—**वही**, ८।१०३।

३. त्रिचतुराः पञ्चषा वा यत्रार्था निर्दिश्यन्ते स समुच्चयः शोभामावहति।
—**वही**, ८।१०३ की वृत्ति, पृ० १२०।

४. द्रव्यक्रियागुणादीनां क्रियाद्रव्यगुणादिषु।
निवेशनमनेकेषामेकतः स्यात्समुच्चयः॥—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ४।६०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

बहुपदाश्रय, उभयाश्रय और अनुभयाश्रय । इसके अतिरिक्त उन्होंने इतरेतर योग, समाहार और अन्वाचय का भी इसमें ही समावेश बताया है ।[1]

आचार्य मम्मट की समुच्चय धारणा नवीन है । उनके अनुसार जहाँ प्रस्तुत कार्य के एक साधक के रहते हुए अन्य साधक के भी होने का वर्णन हो, वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है ।[2] यह समुच्चय भी सद्योग (शोभन वस्तुओं के समुच्चय) में, असद्योग (अशोभन वस्तुओं के योग) में तथा सदसद्योग (शोभन और अशोभन वस्तुओं के योग) में त्रिविध घटित होता है ।[3] गुण-क्रिया के युगपत् सद्भाव को भी मम्मट ने समुच्चय का दूसरा रूप स्वीकार किया है ।[4] यह दूसरे प्रकार का समुच्चय भी तीन प्रकार का है—१. गुणों का यौगपद्य २. क्रियाओं का यौगपद्य तथा ३. गुण-क्रिया का यौगपद्य ।[5] मम्मट की यह समुच्चय धारणा भोज की धारणा से आंशिक रूप से मिलती है ।

राजानक रुय्यक ने मम्मट की समुच्चय की धारणा को ही स्वीकार किया है । उनके अनुसार गुण तथा क्रिया का साथ-साथ रहना समुच्चय का प्रथम भेद है ।[6] यह गुण यौगपद्य, क्रिया यौगपद्य और गुण क्रिया-यौगपद्य रूप से त्रिविध होता है । उनके अनुसार किसी कार्य की सिद्धि में एक (कारण) के साधक रहने पर किसी दूसरे कारण का भी उसी (कार्य) का साधक होना द्वितीय प्रकार का समुच्चय है ।[7]

जयदेव ने समुच्चय का एक ही प्रकार माना है । उनके अनुसार एक सम्बन्ध

---

१. इतरेतरयोगो यः समाहारो य उच्यते ।
अन्वाचय इहान्यो यः सोऽपि नान्यः समुच्चयात् ।।—वही, ४।६१ ।
द्विपदाश्रयश्चापि स स्यात्स स्याद्वहुपदाश्रयः ।
उभयाश्रयश्च स स्यात् स स्यादनुभयाश्रयः ।।—वही, ४।६२ ।

२. तत्प्रसिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ।
समुच्चयोऽसौ.......................... ।।—**काव्यप्रकाश**, १०।१२६ ।

३. एष एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च पर्यवस्यतीति ।
—वही, दशमोल्लास, पृ० ५५५ ।

४. ....स त्वन्यो युगपत् या गुणक्रियाः ।—वही, १०।१२६ ।

५. गुणौ च क्रिये च गुणक्रिये च गुणक्रियाः ।
—वही, वृत्ति, दशमोल्लास, पृ० ५५७ ।

६. गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः ।—**अलङ्कारसर्वस्व**—६६ ।

७. एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्करत्वं च ।—**अलङ्कारसर्वस्व**, ६७ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

(कार्य) में अनेक गुण अनेक क्रिया आदि के एकत्र निबन्धन को समुच्चय कहते हैं।[१]

विश्वनाथ ने रुय्यक के मत का अनुसरण करते हुए समुच्चय के दोनों भेद स्वीकार किये हैं। उन्होंने एक कार्य के साधक के साथ **अन्य साधक** के योग का सत्-असत् तथा सदासत् के आधार पर भेद-निरूपण किया है। उनके अनुसार समुच्चय का दूसरा भेद इस प्रकार है—जहाँ दो गुणों या दो क्रियाओं या गुण और क्रिया का एक साथ ही एकत्र अवस्थान वर्णित होता है, वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है।[२] यह भेद भी गुण योग, क्रिया योग तथा गुण-क्रिया योग से त्रिविध होता है।

अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ एक वस्तु से सम्बद्ध अनेक पदार्थों का एक साथ गुम्फन किया जाता है, वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है। इसके अतिरिक्त जहाँ अनेक हेतुओं से किसी एक कार्य की उत्पत्ति सम्भव हो और कवि उस स्थान पर सभी हेतुओं का एक साथ इस तरह वर्णन करे जैसे प्रत्येक हेतु अपने आप को प्राथमिकता दे रहा हो, वहाँ भी समुच्चय अलङ्कार होता है।[३] इस प्रकार अप्पय-दीक्षित भी अनेक वस्तुओं के युगपद्भाव तथा एक कार्य के साधन में अनेक साधकों के आ जुटने में समुच्चय अलङ्कार मानते हैं।

जगन्नाथ को भी अनेक पदार्थों का युगपद् अन्वय तथा एक कार्य के सम्पादन में अनेक साधकों का आ जाना—दोनों स्थितियों में समुच्चय अलङ्कार स्वीकार है।[४]

---

१. भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः ।—**चन्द्रालोक**, ५।९७ ।

२. समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके ।
खले कपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥
गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये ।
—**काव्यप्रकाश**, १०।८४–८५ ।

३. (क) बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः ।—**कुवलयानन्द**, ११५ ।
(ख) अहं प्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयेऽपि सः ।—**वही**, ११६ ।

४. (क) युगपत्पदार्थानामन्वयः समुच्चयः ।—**रसगंगाधर**, पृ० ६७० ।
(ख) स तावद् द्विविधः धर्मिभेदधर्म्यैक्याभ्याम् । धर्म्यैक्येऽपि द्वैविध्यम् कारणत्वातिरिक्तसम्बन्धेनैकधर्म्यन्वये, कारणतया एकधर्म्यन्वये चेति । एवं त्रिविधेऽस्मिन्नाद्यभेदयोर्गुणानां क्रियाणां च, तृतीये रमणीयानाम-रमणीयानां रमणीयारमणीयानां समन्वयः ।
—**वही**, द्वितीयानन, पृ० ५७१ ।
(ग) एवमरमणीयरमणीयानामप्येककार्यजननार्थमापततां समुच्चयः सम्भ-वति ।—**वही**, द्वितीयानन, पृ० ५७८ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि रुय्यक द्वारा उद्भावित समुच्चय अलङ्कार-विषयक धारणा ही यत्किञ्चित् परिष्कार के साथ मम्मट रुय्यक आदि आचार्यों के द्वारा मान्य हुई है। गुण-क्रिया आदि के पृथक्-पृथक् तथा समन्वित योग के आधार पर तथा कार्य और साधक के सत् असत् तथा सदसद् योग के आधार पर समुच्चय के अनेक भेद किये जा सकते हैं।

समाधि अलङ्कार—समाधि अलंकार का सर्वप्रथम दर्शन भोज के सरस्वती-कण्ठाभरण में होता है। किन्तु इस अलंकार का बीज भामह और दण्डी आदि के समाहित अलङ्कार में ही निहित मिलता है। भामह, दण्डी आदि ने कारणान्तर की अनायास उपलब्धि से प्रारम्भ कार्य के सौकर्य की जो धारणा समाहित में व्यक्त की थी,[1] वह परवर्ती काल में समाहित से स्वतन्त्र समाधि अलंकार के नाम से स्वीकृत हुई। उद्भट द्वारा उद्भावित समाहित का एक अन्य लक्षण जो रसभाव की शान्ति के साथ सम्बद्ध माना गया, परवर्ती काल में समाहित संज्ञा से ही स्वीकार किया गया। संक्षेप में भामह, दण्डी आदि के समाहित को (कारणान्तर के योग से कार्य के सौकर्य-वर्णन रूप को) समाधि के नाम से तथा उद्भट के समाहित को (रस-भाव के प्रथम रूप को) समाहित के नाम से स्वीकार किया गया। इस प्रकार विकास-क्रम की दृष्टि से भामह के काव्यालंकार में ही समाधि-धारणा का सूत्रपात हुआ। किन्तु उस धारणा को दण्डी ने परिभाषित किया।

भोजराज ने समाधि का लक्षण इस प्रकार दिया है—अन्य धर्मों के अन्यत्र आरोप को समाधि कहते हैं। वे मीलित अलंकार को भी इसी के अन्तर्गत मानते हैं। उन्होंने समाधि का नाम समाध्युक्ति भी प्रयुक्त किया है।[2]

वस्तुतः वर्तमान प्रचलित समाधि अलंकार के प्रवर्तक आचार्य मम्मट माने जा सकते है। उनके अनुसार जहाँ इष्ट कारण के अतिरिक्त अन्य कारणों के योग से किसी कार्य के सुगमतापूर्वक किये जाने का वर्णन होता है, वहाँ समाधि अलङ्कार

---

१. (क) समाहिते राजमित्रे यथा क्षत्रिययोषिताम्।
रामप्रसक्त्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यत नारदः॥
—काव्यालङ्कार (भामह) ३।१०।

(ख) किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्॥—काव्यादर्श, २।२९८।

२. (क) समाधिमन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः।
निरुद्भेदोऽथ सोद्भेदः स द्विधा परिपठ्यते॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ४।४४।

(ख) समाधिमेव मन्यन्ते मीलितं (मेलितं) तदपि द्विधा।
धर्माणामेव चाध्यासे धर्मिणां वान्यवस्तुनि॥—**वही**, ४।४५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

होता है।[१] राजानक रुय्यक ने मम्मट कृत लक्षण तथा उदाहरण को स्वीकार कर लिया है।[२] पीयूषवर्ष जयदेव ने समाधि अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है—जहाँ अन्य कारण द्वारा कार्य-सिद्धि में सरलता हो, वहाँ समाधि अलङ्कार होता है।[३]

विश्वनाथ के अनुसार जहाँ भाग्य से कोई दूसरी वस्तु आ जाने के कारण कार्य सुकर हो जाए, वहाँ समाधि अलङ्कार होता है।[४] अप्पयदीक्षित ने जयदेव के लक्षण को ही उद्धृत किया है।[५] जगन्नाथ के अनुसार जहाँ एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य में जो अन्य आकस्मिक कारण के आ जाने से सुकरता होती है, उस को समाधि अलंकार कहते हैं। वह सुकरता कहीं कार्य की अनायास सिद्धि से होती है और कहीं कार्य की साङ्गसिद्धि के द्वारा।[६]

इस प्रकार समाधि अलङ्कार का मम्मट, रुय्यक, जयदेव, जगन्नाथ आदि द्वारा स्वीकृत स्वरूप—अन्य कारण की अनायास उपलब्धि से प्रारम्भ कार्य के सरलता से होने का वर्णन एक सा ही है।

लोकन्यायमूलकः—

प्रत्यनीक अलङ्कारः—प्रत्यनीक अलंकार की सर्वप्रथम उद्भावना आचार्य रुद्रट ने की। उन्होंने इसे औपम्यमूलक अलंकार वर्ग में समाहित किया है। उनके अनुसार जहाँ उपमेय के उत्कर्ष साधन के लिये अथवा उपमेय को उपमान कहने के लिये उसके विजिगीपु के रूप में उपमान को उक्ति मात्र से उपमेय का विरोधी कल्पित किया जाए वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है।[७] अभिप्राय यह है कि जहाँ उपमेय के गुणोत्कर्ष को देखकर उपमान भी उसे गुणों से जीतने की कामना से उसका विरोधी बन जाए, वहाँ विशेषभङ्गी से उपमेय के उत्कर्ष का प्रतिपादन होने से प्रत्यनीक अलङ्कार होता है। आचार्य रुद्रट ने अपने लक्षण में तीन बाते आवश्यक

---

१. समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः।—**काव्यप्रकाश**, १०।१२५।

२. कारणान्तरयोगात्कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः।—**अलङ्कारसर्वस्व**, ६८।

३. समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसंनिधेः।—**चन्द्रालोक**, ५।९८।

४. समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात्।—**साहित्यदर्पण**, १०।८५।

५. समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसंनिधेः।—**कुवलयानन्द**, ११८।

६. एककारणजन्यस्य कार्यस्याकस्मिकारणान्तरसमवधानाहितसौकर्यं समाधिः।
तच्च कार्यस्यानायासेन सिद्धया साङ्ग सिद्ध्या च।
—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ६८२।

७. वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीपया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्॥
—**काव्यालङ्कार** (रुद्रट) ८।९२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

बताई हैं—१. इसमें उपमान को उपमेय का विरोधी कहा जाता है। २. उपमान अपने गुणों से उपमेय को जीतने का इच्छुक होने से उसका विरोधी बताया जाता है तथा ३. उपमान को उपमेय का विरोधी बताने में कवि का उद्दिष्ट उपमेय की उत्तमता बताना होता है।

आचार्य मम्मट ने प्रत्यनीक के सम्बन्ध में आचार्य रुद्रट की मूल धारणा को स्वीकार करके भी उसका लक्षण स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार जहाँ प्रतिपक्षी का प्रतिकार करने में असमर्थ किसी व्यक्ति के द्वारा उससे सम्बन्ध रखने वाले आश्रित का ऐसा तिरस्कार किया जाता है, जिससे उस शत्रु का उत्कर्ष ही प्रकट होता है, वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है।[1] इस प्रकार मम्मट ने भी रुद्रट की भाँति इस अलंकार का उद्देश्य वर्णनीय अर्थ की स्तुति (उत्कर्ष) का प्रतिपादन करना स्वीकार किया है। रुय्यक ने भी लोकन्यायमूलक प्रत्यनीक अलङ्कार का यही स्वरूप प्रतिपादित किया है कि प्रतिपक्ष का प्रतिकार करने में असमर्थ होने पर उसके सम्बन्धी का तिरस्कार कहा जाता है।[2] जयदेव ने मम्मट के लक्षण के आधार पर प्रत्यनीक का लक्षण इस प्रकार दिया है—बलवान् शत्रु के पक्ष पर पराक्रम प्रत्यनीक कहा जाता है।[3]

विश्वनाथ के अनुसार जहाँ किसी प्रबल शत्रु के प्रतिकार में असमर्थ होने के कारण उसके किसी सम्बन्धी के प्रतिकार का वर्णन हुआ करता है, जिससे अन्ततः उस प्रबल शत्रु का ही उत्कर्ष प्रकट होता है, वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है।[4] अप्पयदीक्षित ने जयदेव के लक्षण को स्वीकार किया है कि जहाँ बलवान् शत्रु को पराजित करने में असमर्थ कोई पदार्थ उस शत्रुपक्ष के किसी अन्य पदार्थ को पराजित करता हुआ वर्णित किया जाए, वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है।[5] इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रत्यनीक का प्रकारान्तर भी स्वीकार किया है, जिसमें प्रतिपक्षी के स्वयं के तिरस्कार या बाधन का वर्णन किया जाता है।[6] इसके विपरीत मम्मट,

---

१. प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥—काव्यप्रकाश, १०।१९६।

२. प्रतिपक्षप्रतीकाराशक्तौ तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकम्।
—अलङ्कारसर्वस्व, ६९।

३. प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।—चन्द्रालोक, ५।९९।

४. प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः ॥—साहित्यदर्पण, १०।८६।

५. प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।—कुवलयानन्द, ११९।

६. (क) मम रूपकीर्तिमहरद्भुवि यस्तदनु प्रविष्टहृदयेयमिति।
त्वयि मत्सरादिव निरस्तदयः सुतरां क्षिणोति खलु तां मदनः ॥
—वही, पृ० १९२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

रुय्यक आदि आचार्यों ने केवल प्रतिपक्ष सम्बन्धी वाधन या प्रतिपक्ष सम्बन्धी तिरस्कृति में ही प्रत्यनीक अलंकार स्वीकार किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार प्रतिपक्ष से सम्बद्ध व्यक्ति या वस्तु के तिरस्कार को प्रत्यनीक कहते हैं।[1] वे प्रत्यनीक का अर्थ अनीक (प्रतिपक्षी) के सदृश मानते हैं। उनके अनुसार प्रतिपक्षी के सम्बन्धी तात्पर्य उसके उपजीव्य-उपजीवक मित्र इत्यादि का है। अतः प्रतिपक्षी से प्रतिशोध लेने में असमर्थ विपक्षी के द्वारा उसके आश्रित, आश्रयदाता, मित्र तथा उसके सदृश अन्य का तिरस्कार करने की स्थिति में प्रत्यनीक अलंकार होगा। पण्डितराज ने प्रत्यनीक अलंकार को हेतूत्प्रेक्षा से गतार्थ बताया है। उन्होंने प्रत्यनीक के उद्धरणों को हेतूत्प्रेक्षा के भी उद्धरण सिद्ध किये हैं।[2] हेतूत्प्रेक्षा में प्रत्यनीक के अन्तर्भाव मानने के पक्ष में प्रस्तुत पण्डितराज की युक्तियों के प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रतिपक्षी के साक्षात् प्रतीकार का वर्णन तो हेतूत्प्रेक्षा में गतार्थ हो जाता है किन्तु प्रतिपक्षी के सम्बन्धी का प्रतिकार प्रत्यनीक की विशेषता है।

स्पष्टतः प्रत्यनीक एक स्वतन्त्र अलंकार है। इसमें वर्ण्य का उत्कर्ष-निष्पादन कवि का उद्देश्य होता है।

प्रतीप अलंकार—आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम प्रतीप को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया। प्रतीप को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किये जाने के पूर्व उपमा के एक प्रकार के रूप में ही माना जा रहा था। प्रतीप अभिधान की अन्वर्थता भी उपमा से विपरीत स्वरूप की कल्पना में निहित है। उपमा में उपमेय की उपमान के साथ तुलना करने का सीधा क्रम होता है, प्रतीप में उस क्रम का विपर्यय हो जाता है। उपमा में उपमेय की अपेक्षा उपमान के गुणाधिक्य की धारणा निहित रहती है, जबकि प्रतीप में उपमान में गुणाधिक्य के अभाव की धारणा रहती है। दण्डी ने उपमा के भेद निरूपण के प्रसंग में विपर्यासोपमा का

पूर्व पृष्ठ की पाद टिप्पणी—

(ख) एवं बलवति प्रतिपक्षे प्रतिकर्तुमशक्तस्य तदीयबाधनं प्रत्यनीकमिति स्थिते साक्षात्प्रतिपक्षे पराक्रमः प्रत्यनीकमिति कैमुतिकन्यायेन फलति।—वही, पृ० १९२।

१. प्रतिपक्षसम्बन्धिनस्तिरस्कृतिः प्रत्यनीकम्।

—रसगंगाधर, द्वितीयानन, पृ० ६८६।

२. अनीकेन सदृशं प्रत्यनीकम्। सम्बन्धी च तदुपजीव्योपजीवकमित्यादि भेदादनेकविधः। हेतूत्प्रेक्षयैव गतार्थत्वान्नेदमलङ्कारान्तरं भवितुमर्हति।

—रसगंगाधर, द्वितीयानन, पृ० ६८६, ६८९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उदाहरण सहित विवेचन किया है,[१] वह वस्तुतः बाद में स्वीकृत प्रतीप अलंकार ही है। वामन ने विपर्यासोपमा को कल्पित उपमा से अभिन्न माना है। उनके अनुसार लोकप्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना देना कवि की कल्पना का व्यापार है, अतः यह कल्पितोपमा है।[२] वामन के परवर्ती रुद्रट ने विपर्यासोपमा तथा कल्पितोपमा के आधार पर ही प्रतीप को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने इसे औपम्य वर्ग में समाविष्ट किया है। उनके अनुसार जहाँ उपमेय की अतिशय स्तुति के लिये उसे उपमान के समान होने के कारण उसकी दुरवस्था पर अनुकम्पा या निन्दा प्रकट की जाए वहाँ प्रतीप नामक अलंकार होता है।[३]

आचार्य मम्मट ने रुद्रट की प्रतीप धारणा को अस्वीकार कर उसके दो रूपों को स्वतन्त्र रूप से परिभाषित किया है। उनके अनुसार उपमान का आक्षेप (निषेध या निन्दा) प्रतीप का एक रूप है तथा उपमान के अनादर के लिये उसे उपमेय के रूप में कल्पित कर लेना प्रतीप का दूसरा रूप है।[४] रुद्रट ने उपमेय की स्तुति के लिये उसी की निन्दा या उस पर अनुकम्पा प्रतीप का लक्षण माना था। मम्मट ने उपमेय के उत्कर्ष के लिये उपमान का आक्षेप स्वीकार किया, उपमान का आक्षेप उनकी नवीन कल्पना है।

आचार्य रुय्यक ने मम्मट की प्रतीप धारणा को ही सूत्रबद्ध किया है। उनके अनुसार उपमान का आलोचन (आक्षेप) अथवा उसे उपमेय बनाना प्रतीप अलंकार होता है।[५] जयदेव के अनुसार उपमेय से उपमान की हीनता बतलाने में प्रतीप अलंकार होता है।[६] विश्वनाथ के अनुसार जहाँ उपमेय रूप में प्रसिद्ध उपमान की कल्पना अथवा निष्फलता का प्रतिपादन किया जाता है, वहाँ प्रतीप अलंकार होता है।[७] अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना दिया जाए,

---

१. तवाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति ।
सा प्रसिद्धेर्विपर्या साद्विपर्या सोपमेष्यते ॥ —काव्यादर्श, २।१७ ।

२. इयमेव (विपर्यासोपमामेव) कल्पिता 'इत्याह वामनः' ।
—काव्यादर्श, कुसुमप्रतिमा टीका, पृ० ७६ ।

३. यत्रानुकम्प्यते सममुपमाने निन्द्यते वापि ।
उपमेयमतिस्तोतुं दुरवस्थमिति प्रतीपं स्यात् ॥
—काव्यालङ्कार (रुद्रट), ८।७६ ।

४. आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥ —काव्यप्रकाश, १०।२० ।

५. उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम् । —अलङ्कारसर्वस्व, ७० ।

६. प्रतीपमुपमानस्य हीनत्वमुपमेयतः । —चन्द्रालोक, ५।१०० ।

७. प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥
—साहित्यदर्पण, १०।८७ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

वहाँ प्रतीप अलंकार का प्रथम रूप होता है।[१] जहाँ किसी अन्य पदार्थ (उपमान) को उपमेय बनाकर वर्ण्य विषय का अनादर किया जाए, वहाँ प्रतीप का दूसरा भेद होता है।[२] जहाँ किसी ऐसे अवर्ण्य विषय को जो अति उत्कृष्ट गुण होने के कारण कहीं उपमान भाव की स्थिति को सहन नहीं करता, वर्ण्य विषय-सा (वर्ण्योपमेय) बना कर उसके उपमेयत्व की कल्पना की जाए और इस आधार पर उसका भी तिरस्कार किया जाए, वहाँ प्रतीप का तीसरा भेद होता है।[३] जहाँ कोई अन्य पदार्थ वर्ण्य विषय (उपमेय) के समान है, इस बात को निष्प्रयोजन बताकर उसे झूठा घोषित किया जाए, वहाँ चौथा प्रतीप होता है।[४] उपमान का कैमर्थ्य बताने पर भी प्रतीप अलंकार होता है।[५] इस प्रकार उन्होंने प्रतीप के पाँच भेद माने हैं—

१. उपमान की उपमेयत्व कल्पना, २. अन्योपमेयलाभ से प्रस्तुत उपमेय का अनादर, ३. उपमेय द्वारा उपमान का अनादर, ४. उपमेय की उपमित्यनिष्पत्ति और ५. उपमान का कैमर्थ्य। अप्पयदीक्षित ने प्रतीप के भेदों के विवेचन के अन्त में यह मत भी प्रकट किया है कि कुछ आलंकारिक अनन्वय, उपमेयोपमा और प्रतीप को अलग से अलंकार न मानकर उपमा में ही इनका अन्तर्भाव करते हैं। अन्य विद्वान् पञ्चम प्रकार के प्रतीप को आक्षेप अलंकार मानते हैं क्योंकि यहाँ उपमान का आक्षेप किया जाता है।[६]

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी प्रतीप के पाँच प्रकार में स्वीकार किये हैं—

१. लोकप्रसिद्ध उपमा से विपरीत रूप में वर्णित होने वाली उपमा प्रथम प्रकार का प्रतीप है।[७]

२. किसी गुणविशेष के कारण होने वाले उपमान के अद्वितीयता रूप उत्कर्ष का परिहार करने के लिये, द्वितीय तत्समकक्ष वस्तु को दिखलाकर उठाया जाता हुआ, सादृश्य प्रतीप का द्वितीय भेद है।

---

१. प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्व प्रकल्पनम्। —कुवलयानन्द—१२।

२. अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यस्यानादरश्च तत्। — वही, १३।

३. वर्ण्योपमेयलाभेन तथान्यस्याप्यनादरः। —वही, १४।

४. वर्ण्येनान्यस्योपमाया अनिष्पत्तिवचश्च तत्। —वही १५।

५. प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते। —वही १६।

६. केचिदनन्वयोपमेयोपमाप्रतीपानामुपमाविशेषत्वेन तदन्तर्भावं मन्यन्ते। अन्ये तु पञ्चमं प्रतीपप्रकारमुपमानाक्षेपरूपत्वादाक्षेपालंकारमाहुः।
—कुवलयानन्द १६ की वृत्ति, पृ० १४

७. प्रसिद्धौपम्यवैपरीत्येन वर्ण्यमानमौपम्यमेकं प्रतीपम्। तद्वैपरीत्यं च तदुपमानोपमेययोरुपमेयोपमानत्वकल्पनया, न तु प्रकारान्तरेण।
—रसगंगाधर, द्वितीयानन, पृ० ६६२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

३, किसी गुणविशेष के कारण होने वाले उपमेय के अद्वितीयता रूप उत्कर्ष का परिहार करने के लिये, द्वितीय तादृश वस्तु को दिखला कर वर्णित होने वाली समता प्रतीप का तृतीय भेद है।[1]

४. उपमान के विषय में इसका क्या प्रयोजन है—इस तरह की जिज्ञासा वर्णित होने पर प्रतीप का चतुर्थ प्रकार होता है।[2]

५. सादृश्य के विघटन का वर्णन होने पर प्रतीप का पंचम प्रकट कहा जाता है।[3]

स्पष्टत: प्रतीप के दो प्रमुख भेद हैं—उपमान की उपमेय के रूप में कल्पना और उपमान का आक्षेप। इन भेदों के कई और भी उपभेद कल्पित हुए हैं—वर्ण्य के साथ अन्य उपमान की अनिष्पत्ति का कथन, अन्योपमेय लाभ से प्रस्तुत उपमेय का अनादर उपमान का न्यग्भाव। सामान्यत: मम्मट और रुय्यक की प्रतीप धारणा को ही परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है।

मीलित अलंकार—आचार्य रुद्रट मीलित अलंकार के प्रादुर्भावक हैं। उन्होंने इसका लक्षण इस प्रकार किया है जिसमें नित्य अथवा आगन्तुक समान चिह्न वाली अन्य वस्तु से हर्ष, कोप आदि स्वाभाविक आङ्गिक चिह्नों का तिरस्कार किया जाता है, उसे मीलित कहते हैं।[4] रुद्रट ने नित्य मीलित तथा आगन्तुक मीलित रूप से दो भेद स्वीकार कर उसके दो उदाहरण दिये हैं। इस प्रकार मीलित में एक वस्तु के रूप का उसी के सदृश अन्य वस्तु के रूप में तिरोहित हो जाने के वर्णन पर बल दिया गया है। उन्होंने मीलित अलंकार को अपने वास्तवमूलक वर्ग में समाविष्ट किया है।

भोजराज ने मीलित अलंकार को इस प्रकार परिभाषित किया है, जहाँ वस्तु विशेष से वस्त्वन्तर का तिरस्कार होता है, वहाँ मीलित होता है। उन्होंने पिहित अपिहित, तद्गुण और अतद्गुण को भी इसी के अन्तर्गत माना है।[5] इस प्रकार भोज

---

१. उपमानोपमेययोरन्यतरस्य किंचिद् गुणप्रयुक्तमद्वितीयतोत्कर्षम् प्रतिहतुं द्वितीयप्रदर्शनेनोल्लास्यमानं सादृश्यमपरं द्विविधम्।

—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ६६३।

२. उपमानस्य कैमर्थ्यं चतुर्थम्। —वही, पृ० ६६३।

३. सादृश्यविटघनं पञ्चमम्। —वही, पृ० ६६३।

४. (क) तन्मीलितमिति यस्मिन्समानचिह्नेन हर्षकोपादि।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि॥

—**काव्यालंकार**, (रुद्रट), ७।१०६।

(ख) द्रष्टव्य, —वही, ७।१०७—१०८।

५. वस्त्वन्तरतिरस्कारो वस्तुना मीलितं स्मृतम्।
पिहितापिहिते चैव तद्गुणातद्गुणौ च तत्॥

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ३।४१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

ने मीलित का व्यापक स्वरूप प्रतिपादित कर अलंकारशास्त्र में स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित तद्गुण आदि अलंकारों को भी मीलित के क्षेत्र में सन्निविष्ट कर दिया। अभिधीयमान तथा प्रतीयमान गुण वाली वस्तु से मीलित अलंकार होने के आधार पर उपर्युक्त पिहित आदि चारों मीलित भेदों में से प्रत्येक के दो-दो भेद हो सकते हैं।[1]

मम्मट ने रुद्रट कृत लक्षण को इस प्रकार परिष्कृत किया है—जहाँ किसी वस्तु के स्वाभाविक अथवा आगन्तुक चिह्न से सादृश्य के कारण एक वस्तु के रूप का अन्य वस्तु के द्वारा तिरोधान वर्णित होता है, वहाँ मीलित अलंकार होता है।[2] मम्मट ने लक्षण में रुद्रट की भाँति 'हर्ष, कोपादि भावों का उल्लेख न करके भी स्वाभाविक तथा आगन्तुक चिह्न वाले मीलित अलंकार के उदाहरणों में अनुराग तथा भय के चिह्नों का ही तिरोभाव दिखाया है।[3]

राजानक रुय्यक ने मीलित अलंकार को निमीलित नाम से स्वीकार किया है। उनके अनुसार एक वस्तु द्वारा वस्त्वन्तर का तिरोधान मीलित अलंकार है।[4] स्वाभाविक अथवा आगन्तुक समान चिह्न द्वारा किसी वस्तु से दूसरी वस्तु का निगूहन (तिरोधान) मीलित अलंकार कहा जाता है। इसी आधार पर उन्होंने इस अलंकार का सामान्य से भेद—निरूपण किया है। सामान्य अलंकार का स्वरूप तो सामान्य गुणों से योग के कारण दो वस्तुओं में भेद का उपलक्षित न होना है किन्तु मीलित में उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु द्वारा निकृष्ट गुण वाली वस्तु का तिरोधान होता है, अतः सामान्य तथा मीलित में महान् भेद है।[5] रुय्यक की मीलित की धारणा मम्मट की धारणा के तुल्य है। दोनों के उद्धरणों में भी समानता है।

---

१. अत्र मीलितमभिधीयमानगुणेन प्रतीयमानगुणेन च वस्तुना संभवति।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण** पृ० ३७२।

२. समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्॥

—काव्यप्रकाश, १०।१३०

३. द्रष्टव्य—**काव्यप्रकाश**, दशम उल्लास, पृ० ५८५, ५८६।

४. वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहनं मीलितम् (निमीलितम्)।

—**अलंकारसर्वस्व**—७१।

५. (क) सहजेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद्वस्त्वन्तरेण वस्त्वन्तरं निगूह्यते तदन्वर्थमभिधानं मीलितम्। न चायं सामान्यालंकार एव, तस्य हि साधारणगुणयोगाद्भेदानुपलक्षणं रूपम्। अस्य तूत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानमिति महाननयोर्विशेषः।

—**वही**, ७१

(ख) तिरोधायकत्वादेव च मीलितव्यपदेशः। —**वही**, पृ० ३१०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

जयदेव के अनुसार जहाँ भेद युक्त वस्तु भी अति सादृश्य के कारण भिन्न रूप से लक्षित न हो, वहाँ मीलित अलंकार होता है।[1] विश्वनाथ ने भी तुल्य चिह्न वाली वस्तु से वस्त्वन्तर का निगूहन मीलित अलंकार का लक्षण माना है।[2] उन्होंने समान लक्षण वस्तु के सहज तथा आगन्तुक रूप से दो भेद स्वीकार किये हैं।

अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ सादृश्य के कारण दो वस्तुओं का भेद ही परिलक्षित न हो, वहाँ मीलित अलंकार होता है।[3]

जगन्नाथ ने मीलित अलंकार को इस प्रकार परिभाषित किया है—अत्यन्त समानता के कारण स्पष्ट उपलब्ध हो रही किसी वस्तु के लिङ्गों से भिन्न रूप में प्रतीत न होने वाले किसी अन्य वस्तु के लिङ्गों के द्वारा अपने कारण का अनुमान न करना मीलित अलंकार कहलाता है।[4] इन्होंने भी आगन्तुक तथा साहजिक रूप से मीलित अलंकार के दो भेद स्वीकार किये हैं।

स्पष्टतः कहा जा सकता है कि मीलित अलंकार के स्वरूप लक्षण तथा भेद निरूपण के सम्बन्ध में सभी आचार्य लगभग एक मत हैं कि समान चिह्न वाली वस्तु में, चाहे वह चिह्न आगन्तुक हो या सहज, अन्य वस्तु के स्वरूप के तिरोहित हो जाने का वर्णन ही मीलित अलंकार कहा जाता है।

सामान्य अलंकार—सामान्य अलंकार के स्वरूप की कल्पना सर्वप्रथम मम्मटाचार्य ने की। मम्मट के अनुसार जहाँ दो वस्तुओं में गुण-साम्य की विवक्षा से वर्णनीय (प्रस्तुत) वस्तु का अप्रस्तुत वस्तु के साथ ऐकात्म्य (एकरूपता) का निरूपण किया जाता है, वहां सामान्य अलंकार होता है।[5] आचार्य रुद्रट ने सामान्य अलंकार को

---

१. मीलितं बहुसादृश्याद्‌भेदवच्चेन्न लक्ष्यते। —**चन्द्रालोक**, ५।३३।

२. मीलितं वस्तुनो गुप्ति केनचिन्तुल्यलक्षमणा।

—**साहित्यदर्पण**, १०।८९।

३. मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते।

—**कुवलयानन्द**—१४६।

४. (क) स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद्वस्तुनो लिङ्गैरतिसाम्याद् भिन्नत्वेनागृह्यमाणानां वस्त्वन्तरलिङ्गानां स्वकारणाननुमापकत्वं मीलितम्।

—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ७६७।

(ख) संग्रहश्च—भेदाग्रहेण लिङ्गानां लिङ्गैः प्रत्यक्षवस्तुनः।
अप्रकाशो ह्यनध्यक्षवस्तुनस्तन्निमीलितम्॥

—**वही**, द्वितीयानन पृ० ७६७।

५. प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम्॥

—**काव्यप्रकाश**, १०।२०२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

तद्गुण के दो भेदों में से एक भेद के रूप में स्वीकार किया था।[१] किन्तु आचार्य मम्मट ने रुद्रट के तद्गुण के प्रथम भेद को सामान्य अलंकार के रूप में स्वतन्त्र रूप से मान्यता दी तथा द्वितीय भेद को तद्गुण के रूप में स्वीकार किया।

आचार्य रुय्यक ने भी मम्मट कृत लक्षण को आधार बनाकर सामान्य अलंकार का लक्षण प्रस्तुत किया है—जहाँ प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के साथ सामान्य गुणों के योग के कारण एक रूपता (ऐकात्म्य प्रतीति) का वर्णन होता है, वहाँ सामान्य अलंकार होता है।[२] उन्होंने अपह्नुति अलंकार से सामान्य का भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि अपह्नुति में किसी का शब्दतः वर्णन करके अन्य के रूप में उसे प्रतिष्ठित किया जाता है, इसके विपरीत सामान्यालंकार में किसी एक का निषेध कर किसी दूसरे की स्थापना नहीं होती है।[३] जयदेव ने सादृश्य के कारण भेद लक्षित न होने को सामान्य अलंकार माना है।[४]

विश्वनाथ की सामान्य सम्बन्धी धारणा मम्मट तथा रुय्यक के लक्षण पर आधृत है। उनके अनुसार जहाँ सदृश गुणों के योग से प्रकृत वस्तु अन्य वस्तु से अभिन्न रूप में निरूपित होती है, वहाँ सामान्य अलंकार होता है।[५]

अप्पयदीक्षित ने जयदेव के लक्षण में प्रयुक्त 'भेद' शब्द के स्थान पर 'विशेष' शब्द का प्रयोग कर प्रस्तुत लक्षण बनाया है—जहाँ सादृश्य के कारण विशेष के परिलक्षित न होने का वर्णन होता है, वहाँ सामान्य अलंकार होता है।[६] मीलित तथा सामान्य अलंकार के भेद को स्पष्ट करते हुए वृत्ति में अप्पयदीक्षित ने कहा है कि मीलित में एक वस्तु दूसरी वस्तु से इतनी धुलमिल जाती है कि उनके भिन्न स्वरूप का आभास लुप्त हो जाता है, इसके विपरीत सामान्य में दो वस्तुओं के भिन्न

---

१. यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम्।
संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः स इति॥
काव्यालंकार (रुद्रट), ६।२२।

२. प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम्।
—अलङ्कारसर्वस्व,—७२।

३. न चेयमपह्नुतिः। किंचिन्निषिध्य कस्यचिदप्रतिष्ठापनात्।
—वही, वृत्ति, पृ० ३११।

४. सामान्यं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते।
—चन्द्रालोक, ५।३४।

५. सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः॥
—साहित्यदर्पण, १०।८९।

६. सामान्यं यदि सादृश्याद्विशेषो नोपलक्ष्यते।
—कुवलयानन्द, १४७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

स्वरूप का आभास होता है किन्तु उन को एक दूसरे से भिन्न सिद्ध करने वाला व्यावर्तक धर्म परिलक्षित नहीं होता ।[१]

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार बलवान् सजातीय पदार्थ के ज्ञान के कारण प्रत्यक्ष वस्तु का भी सजातीय पदार्थ से भिन्न रूप में ज्ञान न होना सामान्यालंकार होता है ।[२]

स्पष्टतः सामान्य अलंकार में दो वस्तुएँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत प्रत्यक्ष रहती हैं, किन्तु उनके बीच व्यावर्तक धर्म के अभाव के कारण (गुणसाम्य के कारण) दोनों का पृथक्-पृथक् ग्रहण नहीं हो पाता ।

तद्गुण अलङ्कार—तद्गुण अलंकार के दर्शन सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट के **काव्यालंकार** में ही होते हैं । उन्होंने इसके दो भेद प्रस्तुत किये हैं । प्रथम भेद में उनके अनुसार जहाँ समान गुण वाले ऐसे पदार्थों का, जिनका योग होने पर पृथक्-पृथक् रूप लक्षित हो सके, संसर्ग होने पर नानात्व परिलक्षित न हो, वहाँ तद्गुण होता है ।[३] मम्मट ने रुद्रट के इस भेद को सामान्य अलंकार के अभिधान से स्वतन्त्र अलंकार के रूप में मान्यता प्रदान की और तब से यह रूप सामान्य अलंकार का माना जाता है ।

तद्गुण के दूसरे भेद को आचार्य रुद्रट ने इस, प्रकार परिभाषित करते हुए कहा है—जहाँ कोई वस्तु अपने से असमान गुण वाली तथा अधिक गुण वाली वस्तु के संसर्ग में आकार उसके गुण को ही ग्रहण कर ले, वहाँ तद्गुण होता है ।[४]

भोज ने इसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना है । उन्होंने मीलित, अलंकार के स्वरूप-निरूपण के क्रम में तद्गुण मीलित, अतद्गुणमीलित आदि भेदों का विवेचन किया है । स्पष्ट है कि भोज ने तद्गुण को मीलित अलंकार में ही समाविष्ट स्वीकार किया है ।[५]

---

१. मीलितालंकारे एकेनापरस्य भिन्नस्वरूपानवभासरूपं मीलनं क्रियते, सामान्यालंकारे तु भिन्नस्वरूपावभासेऽपि व्यावर्तनविशेषो नोपलक्ष्यत इति भेदः । —**कुवलयानन्द**, १४७ वृत्ति, पृ० २४१ ।

२. प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीयग्रहणकृतं तद्भिन्नत्वेनाग्रहणं सामान्यम् । —**रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ७७० ।

३. यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम् ।
संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः स इति ॥
—**काव्यालंकार**, (रुद्रट), ९।२२ ।

४. असमानगुणं यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु ।
संसृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद्गुणः स इति ॥
—**काव्यालंकार** (रुद्रट), ९।२४ ।

५. द्रष्टव्य—**सरस्वतीकण्ठाभरण** ३।४१ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ कोई न्यून गुण वाली प्रस्तुत वस्तु अत्यन्त उज्जवल गुण वाली अप्रस्तुत वस्तु के सम्पर्क में आने पर अपने गुण का त्याग कर दूसरी वस्तु के गुण को ग्रहण करती है, वहाँ तद्गुण अलंकार होता है।[1]

राजानक रुय्यक के अनुसार जहाँ परिमित गुण वाली वस्तु अपने गुण को छोड़कर अधिक उत्कृष्ट वस्तु के गुण को स्वीकार कर लेती है, वहाँ तद्गुण नामक अलंकार होता है।[2] रुय्यक ने मीलित और तद्गुण का भेद भी इसी स्थल पर स्पष्ट कर दिया है कि तद्गुण मीलित नहीं है क्योंकि मीलित में प्रस्तुत वस्तु वस्त्वन्तर से आच्छादित रूप में प्रतीत होती है किन्तु तद्गुण में प्रस्तुत का स्वरूप आच्छादित न होकर वस्त्वन्तर के गुण से उपरंजित रूप में प्रतीत होता है।[3]

जयदेव के अनुसार जहाँ अपने गुण का त्याग करके अन्य के गुण का ग्रहण हो, वहाँ तद्गुण अलंकार होता है।[4]

विश्वनाथ ने रुय्यक के लक्षण के अनुकरण पर तद्गुण अलंकार का लक्षण बनाया है। उनके अनुसार जहाँ कोई वस्तु अपने गुण का परित्याग करके अपने समीपस्थ उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के गुण का ग्रहण कर लेती है, वहाँ तद्गुण अलंकार होता है।[5] विश्वनाथ ने भी संक्षेप में मीलित और तद्गुण के भेद का उल्लेख किया है।[6]

रसगंगाधरकार जगन्नाथ ने मम्मट के लक्षण का अनुकरण किया है। उनके

---

१. स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत्।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः॥
—काव्यप्रकाश, १०।२०४।

२. स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्गुणः।
—अलंकारसर्वस्व, ७३।

३. न चेदं मीलितम्। तत्र प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरेणाच्छादितत्वेन प्रतीयते। इह त्वनपह्नुतस्वरूपमेव प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरगुणोपरक्ततया प्रतीयत इत्यस्त्यनयोर्भेदः।
—वही, वृत्ति, सूत्र—७३।

४. तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यतः स्वगुणोदयः।
—चन्द्रालोक, ५।१०२।

५. सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः।
—साहित्यदर्पण, १०।८६।

६. मीलिते उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानम्, इह तूभयोस्तुल्यगुणतया भेदाग्रहः।
—वही, दशमोल्लास, पृ० ८५६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अनुसार अपने गुण का त्याग करके निकटस्थ अन्य वस्तु के गुण का ग्रहण तद्गुण कहलाता है।[1]

इस प्रकार तद्गुण अलंकार स्वरूप-विधान की दृष्टि से मीलित और सामान्य का सजातीय कहा जा सकता है। मीलित में एक वस्तु दूसरी वस्तु के द्वारा तिरोहित हो जाती है, सामान्य में वस्तु परिलक्षित होने पर भी अपना वैशिष्टय खोकर दूसरी वस्तु से एक रूप प्रतीत होने लगती है और तद्गुण में एक वस्तु अपने गुण का त्याग कर अन्य वस्तु के गुण को ग्रहण कर लेती हैं।

अतद्गुण अलंकार—भोज ने मीलित अलंकार के तद्गुण भेद के साथ अतद्-गुण भेद का भी उल्लेख किया है। तद्गुण के विपर्यय रूप अतद्गुण की कल्पना भोज के मन में थी किन्तु उन्होंने तद्गुण एवं अतद्गुण दोनों को स्वतन्त्र अलंकार स्वीकार नहीं किया।

सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने तद्गुण के विपरीत धर्म वाले अतद्गुण की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की। उनके अनुसार जहाँ न्यून गुण वाली अप्रस्तुत वस्तु बहुल गुण वाली प्रस्तुत वस्तु के सम्पर्क में आने पर भी अपने गुण का त्याग तथा दूसरे के गुण का ग्रहण न करे, वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है।[2] अतद्गुण का दूसरा रूप इस प्रकार है जहाँ किसी भी कारण से प्रस्तुत (प्रकृत) वस्तु के द्वारा अप्रस्तुत (अप्रकृत) के रूप का ग्रहण नहीं किया जाता है, वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है।[3] इस प्रकार मम्मट ने अतद्गुण के दो भेद किये हैं—१. सम्भावना होने पर भी अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के रूप का अग्रहण तथा २. सम्भावना होने पर भी प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत के रूप का अग्रहण।

राजानक रुय्यक के अनुसार कारण रहने पर भी उत्कृष्ट गुण वाले प्रकृत अथवा अप्रकृत के गुण का अनुहरण न करना अतद्गुण अलंकार कहा जाता है।[4]

---

१. स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः।
—**रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ७६१।

२. तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद् गुणः।
—**काव्यप्रकाश**, १०।२०५।

३. तेन यत् अप्रकृतस्य रूपं प्रकृतेन कुतोऽपि निमितान्नानुविधीयते सोऽतद्-गुण इत्यपि प्रतिपत्तव्यम्। —**वही**, वृत्ति, पृ० ६०१।

४. (क) सति हेतौ तद् गुणाननुहारोऽतद्गुणः।
—**अलंकारसर्वस्व**—७४।

(ख) यदा पुनरुत्कृष्टगुणपदार्थसन्निधानाख्ये हेतौ सत्यपि तद्रूपस्योत्कृष्ट-गुणस्याननुहरणं न्यून गुणेनानुवर्तनं भवति सोऽतद्गुणः। यदि वा तस्याप्रकृतस्य रूपाननुहारः सत्यननुहरणहेतौ सोऽतद्गुणः।
—**वही**, वृत्ति, पृ० ३१४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

जयदेव के अनुसार जहाँ कोई पदार्थ अपने से सम्बद्ध अन्य वस्तु के गुण को ग्रहण न करे, वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है।[१]

विश्वनाथ ने मम्मट का ही अनुकरण किया है। उनके अनुसार जहाँ कारण होने पर भी प्रकृत वस्तु अप्रकृत वस्तु के गुण का अनुहार नहीं करती, वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है।[२] इसी स्थल पर विश्वनाथ ने अतद्गुण की विशेषोक्ति तथा विषम अलंकार से भिन्नता को भी स्पष्ट कर दिया है कि तद्गुण में गुण के अग्रहण का एक विशेष चमत्कार रहा करता है, जबकि विशेषोक्ति में इस प्रकार का कोई चमत्कार विवक्षित नहीं होता। इसी प्रकार विषम अलंकार में कार्य के गुण तथा क्रिया से कारण के गुण तथा क्रिया क्रमशः विरुद्ध हो जाते हैं, इसके विपरीत अतद्गुण में कार्य कारण की गुण-क्रिया में परस्पर विरोध रूप कोई अर्थ अपेक्षित नहीं होता।[३]

अप्पयदीक्षित ने जयदेव का लक्षण ही उद्वृत कर दिया है,[४] किन्तु उदहारण स्वनिर्मित दिये हैं। उन्होंने उल्लास और अवज्ञा अलङ्कारों से अतद्गुण की भिन्नता बताते हुए लिखा है कि उल्लास तथा अवज्ञा में गुण शब्द दोष का प्रतिपक्षी है, जबकि तद्गुण तथा अतद्गुण दोनों गुण शब्द रूप, रस, गन्ध आदि गुणों का वाचक है। इन अलङ्कारों में अन्य वस्तु के गुण के ग्रहण या अग्रहण का तात्पर्य है अन्य वस्तु के गुण से अनुरंजित होना या न होना। अवज्ञा तथा अतद्गुण विशेषोक्तित के ही भेद हैं क्योंकि इनमें विशेषोक्ति का सामान्य लक्षण घटित होता है। यद्यपि ये दोनों अलंकार विशेषोक्ति में अन्तर्भावित हो जाते हैं तथापि उल्लास तथा तद्गुण के विरोधी होने के कारण इन्हें अलग से अलङ्कार माना गया है।[५]

जगन्नाथ के अनुसार तद्गुण का विपर्यय अतद्गुण है। अभिप्राय यह है कि

---

१. सङ्गतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम्।

—चन्द्रालोक, ५।१०५।

२. तद्रूपानुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः।

—साहित्यदर्पण, १०।९०।

३. अत्र च गुणाग्रहणरूपविच्छित्तिविशेषाश्रयाद्विशेषोक्तेर्भेदः, वर्णान्तरोत्पत्त्यभावाच्च विषमात्।

—साहित्यदर्पण, दशम परिच्छेद, वृत्ति, पृ० ८६२।

४. संगतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम्। कुवलयानन्द—१४४।

५. उल्लासावज्ञालक्षणयोर्गुणशब्दो दोषप्रतिपक्षवाची।···तद्गुणातद्गुणयोः पुनर्गुणशब्दो रूपरसगन्धादिगुणवाची। यद्यप्यवज्ञालंकृतिरतद्गुणश्च विशेषोक्तिविशेषावेव,········तथाप्युल्लासतद्गुणप्रतिद्वन्द्विना विशेषालङ्कारेणालंकारान्तरतया परिगणिताविति ध्येयम्।

वही, वृत्ति पृ० २३८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अपने गुण का त्याग न करने के करने के कारण निकटस्थ अन्य के गुण का अग्रहण अतद्गुण अलङ्कार कहलाता है।[1] जगन्नाथ ने अतद्गुण को विशेषोक्ति का ही भेद सिद्ध किया है।[2]

इस प्रकार तद्गुण का विपर्यय अतद्गुण अलंकार कहा जाता है क्योंकि तद्गुण में तो वस्तु अपने गुण का त्याग कर अन्य वस्तु के गुण का ग्रहण कर लेती है, इसके विपरीत अतद्गुण में वस्तु अपने गुण का परित्याग न करने के कारण समीपस्थ अन्य वस्तु के गुण का ग्रहण नहीं करती।

उत्तर अलंकार—आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम उत्तर अलंकार की उद्भावना की है। उन्होंने उत्तर अलंकार को दो स्थानों पर लिखा है वास्तवमूलक अलंकार वर्ग में तथा औपम्यमूलक अलङ्कार वर्ग में । उन्होंने वास्तवमूलक उत्तर का लक्षण इस प्रकार दिया है—जहाँ उत्तर वचन के श्रवण से पूर्ववचन अर्थात् प्रश्न का उन्नयन हो, वहाँ उत्तर अलंकार का एक रूप और जहाँ प्रश्न से उत्तर का उल्लेख हो, वहाँ उत्तर का दूसरा रूप होता है।[3] तदनुसार उन्होंने दो उदाहरण भी दिये हैं। औपम्यगर्भ उत्तर के लक्षण में रुटट का कथन है कि जहाँ वक्ता उपमेयभूत वस्तु के सम्दन्ध में पूछे जाने पर उसके सदृश उपमानभूत वस्तु बताये, वहाँ उत्तर नामक अलंकार होता।[4]

भोजराज ने उत्तर के सम्बन्ध में विलक्षण धारणा प्रकट की है। उनके अनुसार पदार्थों का सार-निर्धारण अर्थात् प्रसिद्ध वस्तुओं में से किसी का सर्वोत्कृष्ट रूप में निर्धारण उत्तर है।[5] भोजराज ने शब्दालंकारों में 'प्रश्नोत्तर'[6] और अर्थालंकारों में 'उत्तर' नाम से दो अलंकारों की चर्चा की है किन्तु ये दोनों अलङ्कार

---

१. तद्विपर्ययोऽतद् गुणः। **रसगंगाधर**, द्वितीयानन, पृ० ७६३।

२. अतो विशेषोक्तेरतद्गुणो भिन्न इति तु न युक्तम्।

वही, द्वितीयानन, पृ० ७६६।

३. उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युत्तरं यत्र॥

—काव्यालंकार, (रुद्रट), ७।९३।

४. यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम्।
कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम्॥ **वही**, ८।७२।

५. पदार्थानां तु यः सारस्तदुत्तरमिहोच्यते।
स धर्मधर्मिरूपाभ्यां व्यतिरेकाच्च भिद्यते॥

—**सरस्वतीकंठाभरण**, ३।२३।

६. यस्तुपर्युयोगस्य निर्भेदः क्रियते पदैः
विदग्धगोष्ठयां वाक्यैर्वा तं हि प्रश्नोत्तरं विदुः॥ **वही**, २।१३६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

लक्षण प्रचलित उत्तरालंकार से पृथक् हैं। प्रश्न-निरपेक्ष उत्तर का उपर्युक्त स्वरूप उत्तर अलंकार नहीं माना जा सकता। वस्तुतः (अर्थालंकार वर्गान्तर) यह उत्तर अलंकार तो सार अलंकार ही कहा जा सकता है।

मम्मट ने रुद्रट की उत्तरालंकार की धारणा को ही कुछ परिष्कार के साथ स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ उत्तर के श्रवणमात्र से प्रश्न की कल्पना (उन्नयन) कर ली जाती है और अनेक बार प्रश्न होने पर अनेक बार असम्भावित उत्तर होता है, वहाँ उत्तर नामक अलंकार होता है।[1] इस प्रकार मम्मट ने उत्तर से प्रश्न के उन्नयन की धारणा तो रुद्रट के अनुसार स्वीकार की है किन्तु प्रश्न के साथ उत्तर के निबंधन में मम्मट की मान्यता है कि एक तो प्रश्न और उत्तर का असकृत् (अनेक बार) निबंधन होना चाहिए और दूसरा प्रश्न के साथ उसका दिया जाने वाला उत्तर भी असम्भाव्य अर्थात् विदग्ध जनोचित होना चाहिए। मम्मट ने उत्तर अलंकार के प्रथम भेद को काव्यलिङ्ग और अनुमान से भिन्न बताते हुए कहा है कि उत्तर अलंकार काव्यलिङ्ग नहीं है क्योंकि उत्तर-वाक्य हेतुरूप नहीं हो सकता। यह उत्तर अलंकार अनुमान भी नहीं है क्योंकि एक धर्मी में स्थित साध्य और साधन का इसमें निर्देश नहीं किया जाता।[2]

राजानक रुय्यक ने **काव्यप्रकाश,** के लक्षण को ही आधार बनाया है।[3] उनके अनुसार जहाँ प्रश्न न होने पर भी उसकी कल्पना उत्तर से कर ली जाती है अथवा जहाँ प्रश्न होने पर अनेक बार असम्भाव्य उत्तर होता है, वहाँ उत्तर नामक अलंकार होता है।[4] रुय्यक ने अनुमान तथा परिसंख्या अलंकारों से उत्तर का भेद स्पष्ट करते

---

१. उत्तरश्रुतिमात्रतः।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति।
असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्। **काव्यप्रकाश,** १०।१९८-१९९।

२. न चैतत् काव्यलिङ्गं उत्तरस्य तादूप्यानुपपत्ते। न हि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको हेतुः। नापीदमनुमानम् एकधर्मिनिष्ठतया साध्यसाधनयोरनिर्देशाद् इत्यलंकारान्तरमेवोत्तरं साधीयः
काव्यप्रकाश. दशम उल्लास वृत्ति, पृ० ५७२।

३. उत्तरात्प्रश्नोन्नयनमसकृदसंभाव्यमुत्तरं चोत्तरम्।
—अलंकारसर्वस्व, ७५।

४. यत्रानुपनिबध्यमानेऽपि प्रश्न उपनिबध्यमानादुत्तरादुन्नीयते, तदेकमुत्तरम्।
न चेदमनुमानम्। पक्षधर्मतादेरनिर्देशात्।
·········असकृन्निबन्धे द्वितीयमुत्तरम्।
न चेयं परिसंख्या। व्यवच्छेद्यव्यच्छेदक परत्वाभावात्।
वही, वृत्ति, पृ० ३१६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

हुए कहा है कि प्रथम प्रकार का उत्तर अनुमान नहीं माना जा सकता क्योंकि उत्तरालंकार में पक्ष धर्मता आदि का निर्देश नहीं होता है। द्वितीय उत्तर भेद को परिसंख्या अलंकार नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें निषेध्यपरता तथा निषेधकपरता नहीं होती है।

जयदेव के अनुसार जहाँ प्रश्नोत्तर रूप वाक्य में गुप्त प्रश्न का उत्तर दिया जाये, वहाँ उत्तरालंकार होता है।[1] ये प्रथम भेद को ही उत्तर अलङ्कार मानते है, दूसरे भेद की इन्होंने चर्चा नहीं की है।

विश्वनाथ ने मम्मट और रुय्यक का अनुकरण किया है। उनके अनुसार उत्तर द्वारा प्रश्न के उन्नयन में अथवा प्रश्न होने पर अनेक असम्भाव्य उत्तर के वैचित्र्य में उत्तरालंकार होता है।[2] विश्वनाथ ने परिसंख्या, अनुमान और काव्यलिङ्ग उत्तरालकार का भेद निदेश किया है। परिसंख्या में अन्यथावृत्ति की आवश्यकता होती है, उत्तर में परिसंख्या की अपेक्षा का कोई तात्पर्य नहीं होता। अनुमान अलंकार में साध्य और साधन दोनों का निर्देश अनिवार्य हुआ करता है, उत्तरालंकार के प्रथम भेद में केवल उत्तर का ही निर्देश अपेक्षित होता है। उत्तरालंकार को काव्यलिङ्ग रूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि उत्तरालंकार में जो प्रश्न उपनिबद्ध हुआ करता है, वह उत्तर का कारक हेतु नहीं हुआ करता।[3]

अप्पयदीक्षित के अनुसार किसी अभिप्राय से गूढ़ उत्तर दिया जाना उत्तर का एक भेद है।[4] इसमें उत्तर का साभिप्राय तथा गूढ़ होना अपेक्षित माना गया है। इन्होंने चित्रोत्तर को उत्तर का दूसरा भेद मानते हुए कहा है कि जहाँ प्रश्न तथा अन्य उत्तर से मिश्रित उत्तर दिया जाए, वहाँ चित्रोत्तर अलंकार होता है।[5] पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा चित्र नामक अलंकार शब्द-प्रयोग के चमत्कार की प्रधानता के कारण शब्दालंकार माना जाता रहा है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की उत्तर अलंकार सम्बन्धी

---

१. प्रश्नोत्तरं क्रमेणोक्तौ स्यूतमुत्तरमुत्तरम्। **चन्द्रालोक**, ५।१०८।

२. उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नेयो यदि।
यच्चासकृदसंभाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम्॥ **साहित्यदर्पण**, १०।८२।

३. अत्रान्यव्यपोहे तात्पर्याभावात् परिसंख्यातो भेदः। न चेदमनुमानम्, साध्य-साधनयोर्द्वयोर्निर्देश एव तस्याङ्गीकारात्। न च काव्यलिङ्गम्, उत्तरस्य प्रश्नं प्रत्यजनकत्वात्। वही, दशम परिच्छेद, वृत्ति, पृ० ८४४।

४. किंचिदाकूतसहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम्। —**कुवलयानन्द**, १४९।

५. प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते। वही, १५०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

धारणा को समन्वित करके स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रश्न को प्रतिबद्ध कर देने वाले ज्ञान के विषयीभूत अर्थ का नाम उत्तर है।[1] उत्तरालंकार दो प्रकार का होता है—(१) उन्नीत प्रश्न उत्तर और (२) निबद्धप्रश्न उत्तर। उन्नीत प्रश्न उत्तरालंकार में एक बार दिया गया उत्तर सुन्दर होता है किन्तु निबद्ध प्रश्न उत्तरालंकार में प्रश्न तथा उत्तर के अनेक बार आने पर सुन्दरता होती है। उत्तरा-के उपर्युक्त दोनों भेदों में से प्रत्येक के चार-चार भेद हो जाते हैं—(१) प्रश्न साभिप्राय उत्तर निरभिप्राय (२) उत्तर साभिप्राय, प्रश्न निरभिप्राय (३) प्रश्नोत्तर दोनों साभिप्राय और ४. प्रश्नोत्तर दोनों निरभिप्राय। इस प्रकार उत्तरालंकार के कुल आठ भेद हो जाते हैं।[2]

कवि प्रतिभा से निबद्ध प्रश्न तथा उसका उत्तर चमत्कारपूर्ण होने के कारण तथा उत्तर सुनकर प्रश्न के उन्नयन में उक्तिवैचित्र्य के कारण उत्तर को अलंकार माना गया है। उत्तर अलंकार के ये रूप मान्यता प्राप्त हैं—उत्तर सुनकर प्रश्न का उन्नयन, अनेक प्रश्नों तथा उनके वैदग्ध्यपूर्ण उत्तरों का एक साथ निबन्धन और साभिप्राय गूढ़ उत्तर।

गूढार्थप्रतीतिमूलकः—

सूक्ष्म अलंकार—सूक्ष्म अलंकार अत्यंत प्राचीन है। आचार्य भामह ने हेतु के अलंकारत्व का निषेध किया है। उनका कथन है कि इसमें वक्र-उक्ति का अभाव होता है और वक्रोक्ति के बिना अलंकारता सम्भव नहीं है।[3] भामह के निषेध-कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके पूर्ववर्ती कुछ आचार्य सूक्ष्म को अलङ्कार मान चुके थे। भामह के उत्तरवर्ती आचार्य दण्डी ने न केवल इसे अलङ्कार के रूप में ही स्वीकार किया है, अपितु इसे वाणी का उत्तर आभूषण भी कहा है।[4] उनके अनुसार इंगित तथा आकार से लक्षित होने वाले अर्थ को सूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म कहा जाता है। स्पष्टतः जहाँ इंगित तथा आकार से अर्थ का अनुमान किया जा सके, वहाँ सूक्ष्म

---

१. प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतोऽर्थ उत्तरम्।
रसगङ्गाधर, द्वितीयानन, पृ० ७८४।

२. तच्चोत्तरं द्विविधम्—उन्नीतप्रश्नम् निबद्धप्रश्नं च। उन्नीतप्रश्ने सकृदुत्तरस्य चारुत्वम् निबद्धप्रश्ने तु प्रश्नोत्तरयोरसकृदुपन्यासे तदितिप्राञ्चः। अयं चोत्तरालंकारो द्विविधोऽपि प्रश्नोत्तरस्योन्यतरस्योभयोश्च साभिप्रायत्वेन च चतुर्विध इत्यष्टधा। वही, द्वितीयानन, पृ० ७८८-७९१।

३. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥
—काव्यलङ्कार (भामह), २।८६।

४. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्। —काव्यादर्श, २।२३५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकार होता है ।[१] उद्भटाचार्य ने भामह के मत का अनुसरण करते हुए सूक्ष्म का अलंकारत्व अस्वीकार कर दिया ।

आचार्य रुद्रट ने सूक्ष्म को नवीन रूप से परिभाषित किया है । उन के अनुसार जहाँ युक्तिविहीन अर्थ वाला शब्द अपने अर्थ से सम्बद्ध युक्तियुक्त अन्य अर्थ का बोध करा देता है, वहाँ सूक्ष्म नामक अलङ्कार माना जाता है ।[२] वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने वक्रोक्ति के अभाव के कारण सूक्ष्म के अलंकारत्व का खण्डन किया है ।[३]

भोजराज ने अर्थालंकार के अन्तर्गत सूक्ष्म अलंकार का निरूपण किया है । उनकी सूक्ष्म-धारणा दण्डीं की सूक्ष्म-धारणा के समान है । उनके अनुसार भी इंगित तथा आकार से अर्थ के अनुमेय होने में सूक्ष्म अलंकार होता है ।[४] उन्होंने इसके तीन भेद किये हैं—(१) इंगित लक्ष्य (२) आकार लक्ष्य और (३) उभय लक्ष्य । पुनः इन भेदों के वाच्य और प्रतीयमान रूप से प्रत्येक के दो-दो भेद किये हैं । इस प्रकार उन्होंने कुल छः भेद माने हैं और तदनुसार छः उदाहरण दिए हैं ।[५]

मम्मटाचार्य ने सूक्ष्म अलंकार के सम्बन्ध में दण्डी के लक्षण को आधार बनाकर उस का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—जहाँ किसी (ज्ञापक) हेतु से लक्षित हुआ कोई सूक्ष्म पदार्थ किसी धर्म के द्वारा अपने से भिन्न व्यक्ति पर प्रकट किया जाता है, उसे सूक्ष्म अलंकार कहते ।[६]

रुय्यक ने मम्मट के लक्षण को इस प्रकार संक्षिप्त करके प्रकट किया है—संलक्षित सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन सूक्ष्म अलंकार होता है ।[७] पीयूषवर्ष जयदेव ने सूक्ष्मालंकार की चर्चा नहीं की है ।

---

१. इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात्सूक्ष्म इति स्मृतः । वही, २।२६० ।

२. यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसम्बद्धम् ।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत्संजायते सूक्ष्मम् ॥
—काव्यालंकार (रुद्रट), ७।९८ ।

३. द्रष्टव्य—वक्रोक्तिजीवित, पृ० ४८१ ।

४. इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सूक्ष्मः सूक्ष्मगुणात्तु सः ।
सूक्ष्मात्प्रत्यक्षतः सूक्ष्मोऽप्रत्यक्ष इति भिद्यते ॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३।२१ ।

५. वाच्यः प्रतीयमानश्च सूक्ष्मोऽत्र द्विविधो मतः ।
इङ्गिताकारलक्ष्यत्वं लक्ष्यसामान्यमेतयोः ॥ वही, ३।२२ ।

६. कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ।
—काव्यप्रकाश, दशमोल्लास, १०।१२२-१२३ ।

७. संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम् । —अलङ्कारसर्वस्व, ७६ ।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

विश्वनाथ ने सूक्ष्मालंकार के सम्बन्ध में मम्मट और रुय्यक का अनुकरण किया है। उनके अनुसार जहाँ आकार अथवा चेष्टा से पहचान में आने वाली कोई सूक्ष्म वस्तु किसी और युक्ति से प्रकाशित की जाती है, वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है।[१] अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ किसी अन्य व्यक्ति के आशय को जानने वाला उसके प्रति साभिप्राय चेष्टा करे वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है।[२] इस प्रकार अप्पयदीक्षित ने इङ्गित और आकार के भेद को न समझकर केवल चेष्टा को ही सूक्ष्म अलङ्कार बताया है।

स्पष्टतः सूक्ष्म अलंकार के सम्बन्ध में प्रायः आचार्यों में एकमत रहा है। सूक्ष्म के सम्बन्ध में यह लक्षण बहुमान्य रहा है कि आकृति या इङ्गित से अर्थ के अनुमेय होने का वर्णन सूक्ष्मालंकार है।

व्याजोक्ति अलंकार—व्याजोक्ति अलंकार के सर्वप्रथम दर्शन वामन कृत **काव्यालंकार सूत्र**, ग्रन्थ में होते हैं। परन्तु यह एक पुराना अलंकार है। दण्डी का लेश अलंकार ही पीछे व्याजोक्ति नाम से अभिहित हुआ। दण्डी के अनुसार जहाँ किसी प्रकार प्रकट हो गई वस्तु को किसी बहाने से छिपाने का प्रयास किया जाता है, वहाँ लेश अलंकार होता है।[३] प्रकाशित वस्तु को छिपाने के लिये ही व्याज कथन का सहारा लिया जाता है, बहाना बनाकर तथ्य को छिपाया जाता है, अतः दण्डी का लेश ही व्याजोक्ति के रूप में माना गया। वामन के अनुसार व्याज से कही हुई बात का सत्य के साथ सारुप्य व्याजोक्ति है।[४] तात्पर्य यह है कि बहाना बनाकर सत्य को छिपा लेने तथा बहाने से कही हुई बात को सत्य-सी बताने का प्रयत्न व्याजोक्ति है। वामन ने व्याजोक्ति का दूसरा नाम मायोक्ति भी निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार दण्डी कृत लेश अलंकार के लक्षण के समान ही वामन के व्याजोक्ति लक्षण में व्याज से तथ्य का छिपाना अपेक्षित माना गया है।

भोजराज ने इस अलङ्कार की चर्चा नहीं की है। आचार्य मम्मट ने व्याजोक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है—जहाँ स्पष्ट रूप में प्रकट हुए वस्तु-स्वरूप का कपट से निगूहन वर्णित किया जाता है, वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है।[५] इस

---

१. संलक्षित सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा।
कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ॥ —**साहित्यदर्पण**, १०।९१

२. सूक्ष्म पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम्। —**कुवलयानन्द**, १५१।

३. लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्।
उदाहरण एवास्य रूपमाविर्भविष्यति। —**काव्यादर्श**, २।२६५।

४. (क) व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः।
—**काव्यालङ्कार** सूत्र, ४।३।२५।

(ख) मायोक्तिरित्याहुः। **वही**, वृत्ति।

५. व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्। —**काव्यप्रकाश**, १०।१८४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

स्थल पर उन्होंने अपह्नुति अलंकार से व्याजोक्ति अलङ्कार का अन्तर भी स्पष्ट कर दिया है कि व्याजोक्ति अलंकार अपह्नुति नहीं हो सकता क्योंकि इसमें प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों मे स्थित साम्य का अभाव होता है।[१]

राजानक रुय्यक के अनुसार प्रकट हो जाने वाली किसी वस्तु का गोपन व्याजोक्ति अलंकार कहा जाता है।[२] अपह्नुति केवल अपह्नव करने के लिये सादृश्य में में मानी जाएगी, अतः व्याजोक्ति का पृथक् निर्देश किया गया है।[३]

जयदेव के अनुसार जहाँ गुप्त वृत्त की शङ्का को किसी छल से निवृत्त कर दिया जाता है, वहाँ व्याजोक्ति नामक अलङ्कार होता है।[४] इस प्रकार जयदेव को केवल आकार का गोपन व्याजोक्ति में इष्ट प्रतीत होता है। विश्वनाथ के अनुसार जहाँ किसी उद्भिन्न अथवा प्रकट हुई भी वस्तु के किसी बहाने से निगूहन का अभिप्राय अन्तर्भूत रहता है, वहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार होता है।[५] इसी स्थल पर उन्होंने अपह्नुति और व्याजोक्ति का भेद भी स्पष्ट कर दिया है कि व्याजोक्ति में छिपाने वाला व्यक्ति विषय (उपमेय) का निर्देश नहीं किया करता किन्तु प्रथम प्रकार की अपह्नुति में उपमेय (विषय) का निर्देश करके फिर उसके अपह्नव के साथ अन्य की स्थापना की जाती है।[६]

अप्पयदीक्षित की व्याजोक्ति धारणा मूलतः मम्मट रुय्यक आदि आचार्यों

---

१. न चैषाऽपह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासम्भवात्।

—**काव्यप्रकाश**, १०।१८४ वृत्ति, पृ० ५६५।

२. उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः। —**अलंकारसर्वस्व**—७७।

३. नन्वपह्नुतिग्रन्थे यथा सादृश्याय योऽपह्नवः सापह्नुति, तथापह्नवायापि यत्सादृश्यं साप्यपह्नूतिः इति स्थापितम्। व्याजोक्तौ चोत्तरः प्रकारो विद्यते, तत्कथमियमलंकारान्तरेण कथ्यते। सत्यम्। उद्भटसिद्धान्ताश्रयेण तत्त्रोक्तम्। न हि तन्मते व्याजोक्त्याख्यमलङ्करणमस्ति। इह तु तस्य संभवात्तद्व्यतिरिक्तापह्नुतिरिति पृथगयमलंकारों निर्दिष्टः।

—**वही**, वृत्ति पृ० ३२१।

४. व्याजोक्तिः शङ्कमानस्य छद्मना वस्तुगोपनम्।

—**चन्द्रालोक**, ५।११०।

५. व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः।

—**साहित्यदर्पण**, ९२।

६. नेयं प्रथमापह्नुति, अपह्नवकारिणो विषयस्यानभिधानात्।

—**वही**, वृत्ति, पृ० ८६४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

की धारणा से अभिन्न है। उनके अनुसार जहाँ किसी दूसरे हेतु को बताकर उसके द्वारा आकार का गोपन किया जाता है वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है।[1]

स्पष्टतः वहाँ किसी प्रकार प्रकट हो गई वस्तु को किसी बहाने छिपाने का वर्णन किया जाता है, वहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार माना जाता है।

वक्रोक्ति अलंकार—वक्रोक्ति अलंकार का विवेचन शब्दालङ्कार प्रकरण में किया गया है।

रसादिप्रतीतिमूलकः—

रसवत् अलंकार—आचार्य भामह के समय से ही रसवदादि अलंकारों का विवेचन चला आ रहा है। रस-सम्प्रदाय के आचार्यों ने भी रस आदि को काव्य की आत्मा मानकर रस के गौण हो जाने के स्थल पर रसवदादि अलंकार का सद्भाव स्वीकार किया है। अलंकार के क्षेत्र में आचार्यों ने रसवदादि अलंकार वर्ग में रसवत् के साथ भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, प्रेय, ऊर्जस्वि तथा समाहित को समाविष्ट किया है।

भामह के अनुसार जिसमें शृंगार आदि रस स्पष्टता से दिखाये गये हों, वह रसवत् अलंकार कहा जाता है।[2] स्पष्ट है कि भामह रसमय वाक्य को रसवत् अलंकार का उदाहरण स्वीकार करते हैं। दण्डी ने भी भामह के मत को स्वीकार कर रसपेशल वाक्य को रसवत् अलंकार स्वीकार किया है।[3] उद्भट ने भामह के लक्षण को ही अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। उन्होंने रसोत्पत्ति की प्रक्रिया का निरूपण भी रसवत् अलंकार के सन्दर्भ में कर दिया है।[4] इस प्रकार भामह, दण्डी तथा उद्भट के अनुसार रसवत् अलंकार का अर्थ रसयुक्त या रसमय अलंकार रहा है। आचार्य रुद्रट ने रसवदादि अलंकारों का नामाल्लेख नहीं किया है, यद्यपि रसों का वर्णन १२ वें से लेकर १५ वें अध्याय तक विस्तार से किया है।

भोजराज ने रसादिक का विवेचन पाँचवें परिच्छेद में किया है। वे दण्डी के

---

१. व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम्।
—कुवलयानन्द—१५३।

२. रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा।
—काव्यालङ्कार, (भामह) ३।६।

३. ·········रसवद्रसपेशलम्। दण्डी–काव्यादर्श, २।२७५।

४. (क) रसवद् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम्।
—काव्यालङ्कारसारसंग्रह।

(ख) द्रष्टव्य—काव्यालंकारसारसंग्रह, ४।४।५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

ग्रन्थ से पूर्णतया परिचित प्रतीत होते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि रसोक्तियाँ नानालंकारों की संसृष्टि के प्रकार हैं। नानालंकार शब्द का ग्रहण इसलिये है कि गुणों और रसों का भी अलंकारों में संग्रह हो जाए, क्योंकि गुण और रस भी काव्य की शोभा करने वाले हैं, अतः अलंकार हैं। रसों को अलंकार अयुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उत्कर्ष से युक्त रसभावादि रूप ऊर्जस्वि, रसवत् प्रेय का दण्डी ने अलंकारों में उपदेश किया है।[१]

आनन्दवर्धनाचार्य ने रसवत् अलंकार के क्षेत्र की व्यवस्था करते हुए स्पष्ट कहा है कि जहाँ किसी अन्य वाक्यार्थ की प्रधानता हो और रसादिक अङ्ग हों, वहाँ रसवत् अलंकार होता है।[२] तात्पर्य यह है कि जब रस अप्रधान हो जाने पर अलंकारमात्र में पर्यवसित हो जाता है, तब रसवत् अलंकार कहा जाता है।

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने रसमय वाक्य में रसवत् अलंकार मानने वाले मत का खण्डन करते हुए कहा है कि रस अलंकार्य है, अतः अलंकार उससे भिन्न होना चाहिए। उनके अनुसार जो अलंकार रस-तत्त्व के विधान से रस के समान ही

---

१. (क) नानालंकारसंसृष्टेः प्रकाराश्च रसोक्तयः।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।११।

इत्युक्तं तत्र 'अलंकारसंसृष्टेः' इतीयत्येव वक्तव्ये नानालंकारग्रहणं गुणरसानामुपसंग्रहार्थम्। तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेनालंकारत्वात्। यदाह—काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।

—**वही**, ५ परिच्छेद, पृ० ७०३।

(ख) अयुक्तं त्विदमुक्तं रसानामलंकारतेति। तेषां गुणानामिवालकारव्यपदेशाभावात्। नायुक्तम्। युक्तोत्कर्षणामूर्जस्विरसवत्प्रेयसामलंकारेषूपदेशात्। —**वही**, ५ परिच्छेद, पृ० ७०४।

२. (क) रसादिरूपव्यंग्यस्य गुणीभावे रसवदलंकारविषयः······।

—**ध्वन्यालोक**, पृ० ४६७।

(ख) प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गानि रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥

—**ध्वन्यालोक**, २।५।

(ग) रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलंकारत्व साधनम्॥—**वही**, २।५ वृत्ति अंश।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

आह्लादकारी हो, वह रस के तुल्य अलंकार रसवत् होता है।[१] स्पष्ट है कि कुन्तक के मतानुसार किसी भी अलंकार को रसतुल्य आनन्ददायक मानकर रसवत् कहा जा सकता है।

आचार्य मम्मट ने अलंकार-प्रकरण में रसवत् अलंकार की पृथक् गणना नहीं की है, ध्वनि-निरूपण के प्रसंग में वस्तु तथा अलंकार की प्रधानता के स्थल में वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि का सद्भाव स्वीकार किया है। उन्होंने रसवदादि अलंकारों की चर्चा करते हुए कहा है कि जहाँ पर रसादि प्रधान रूप से स्थित रहता है, वहाँ वह अलंकार्य होता है और अन्य स्थलों पर जहाँ वाक्यार्थ प्रधान होता है तथा ये रसादि अङ्ग रूप होते हैं, उस गुणीभूतव्यंग्य काव्य में रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित आदि अलंकार होते हैं।[२]

राजानक रुय्यक ने ही सर्वप्रथम रसवदादि अलंकारों की अलंकार-वर्ग में गणना की है। अलंकारवादी होने के कारण रस जैसे तत्त्व को भी विशेष अलंकार के रूप में स्वीकार कर लेना रुय्यक के लिये अस्वाभाविक नहीं था। उनके अनुसार रस, भाव, तदाभास (रसाभास एवं भावाभास) तथा तत्प्रशम (भावप्रशम) का निबन्धन होने पर रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित अलंकार होते हैं।[३] रुय्यक का स्पष्ट कथन है कि ध्वनिकार से पूर्व आचार्य उद्भटादि वाक्यार्थभूत रसादि को रसवदादि अलंकार मानते थे और अंगभूत रसादि को उदात्तालंकार का विषय मानते थे। किन्तु जब आनन्दवर्धनाचार्य ने रसादि को अलंकार नहीं, अलंकार्य सिद्ध कर दिया तब अंगभूत रसादि रसवदादि अलंकार हो गये और वाक्यार्थभूत रसादि के रसादि-

---

१. द्रष्टव्य—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, ३।११–१२ वृत्ति।
रसेन वर्तते तुल्य रसवत्त्वविधानतः।
योऽलंकारः स रसवत्तद् विदाह्लादनिर्मितेः॥
—वक्रोक्तिजीवित, पृ० १७५।

२. (क) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः॥
—काव्यप्रकाश, ४।२६।

(ख) प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालंकार्यः...... । अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्रगुणीभूतव्यंग्ये रसवत्प्रेय–ऊर्जस्वि–समाहितादयोऽलंकाराः।
—काव्यप्रकाश–४।२६, वृत्ति; पृ० ११८।

३. रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धे रसवत्प्रेयऊर्जस्वि समाहितानि।
—अलंकारसर्वस्व, सूत्र–८३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

ध्वनि में समाहित होने से उदात्तालंकार के लिये स्थान नहीं रह गया, क्योंकि इस उदात्तालंकार का विषय रसवदादि अलंकार में समाहित है।[1] इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि सर्वप्रथम रुय्यक ने आनन्दवर्धन के मत का अनुसारण करते हुए रसवदादि अलंकारों की स्थापना की।

पीयूषवर्ष जयदेव ने रसवदादि अलकारों की चर्चा करते हुए कहा है कि रस-मूलक रसवदालंकार, भावमूलक प्रेयोलंकार, रसभावाभासमूलक ऊर्जस्वी अलंकार तथा भावशन्तिमूलक समाहित अलंकार तथा भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता—इस प्रकार इन सात को भी कुछ विद्वान् अलंकार मानते हैं।[2] उनके कथन से स्पष्ट होता है वे स्वयं इन्हें मान्यता प्रदान नहीं करते हैं।

विश्वनाथ ने रस के गौण हो जाने में रसवत् अलंकार स्वीकार किया है। इनकी धारणा आनन्दवर्धन की रसवत्–धारणा से भिन्न नहीं है।[3]

अप्पयदीक्षित ने सौ अलंकार की समाप्ति करके लिखा है कि सात रसवदादि और आठ प्रमाणालंकार भी विद्वानों ने स्वीकार किये हैं।[4] इन्होंने भी विश्वनाथ की

---

१. तत्र यस्मिन्दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवद्यालंकाराः, तत्राङ्गभूतरसादि-विषये द्वितीय उदात्तालंकारः। यन्मते त्वङ्गभूते रसादिविषये रसवदाद्य-लंकाराः अन्यस्य रसादिध्वनिना व्याप्तत्वात्तत्रोदात्तालंकारस्य विषयो नावशिष्यते, तद्विषयस्य रसवदादिना व्याप्तत्वात्।

—**अलङ्कारसर्वस्व**, सूत्र ८३ वृत्ति, पृ० ३४६–३४७।

२. रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः ।
रसवत्प्रेयऊर्जस्वत्समाहितमयाभिधाः ॥
भावानामुदयः सन्धिः शवलत्वमिति त्रयः।
अलङ्कारानिमान् सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः ॥

—**चन्द्रालोक**, ५।११७–११८।

३. रसभावो तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालंकृतयस्तदा ॥
रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमिति क्रमात्। —**साहित्यदर्पण**, १०।९५–९६।

४. (क) इत्थं शतमलङ्कारा लक्षयित्वा निर्दशिताः।
प्राचामाधुनिकानां च मतान्यालोच्य सर्वतः ॥

—**कुवलयानन्द**, १६९।

(ख) रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः। चत्वरो रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि च समाहितम्। भावस्य चोदयः सन्धि शवलत्वमिति त्रयः। अष्टौ प्रमाणालङ्काराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात्। एवं पञ्चदशान्यानप्यलङ्का-रान् विदुर्बुधाः। —**वही**, १७०–१७१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

तरह रस के अन्य वस्तु का अङ्ग हो जाने पर रसवत् अलंकार का लक्षण माना है।

आचार्य मम्मट की भाँति जगन्नाथ ने रसवत् का अलंकारत्व ही स्वीकार नहीं किया है। वे रसवत् को विशिष्ट अलंकार स्वीकार करना आवश्यक नहीं समझते।

भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुय्यक आदि अलंकारवादी आचार्यों ने रसमय वाक्य को रसवत् अलङ्कार मानकार रस को विशेष अलङ्कार में सीमित कर दिया है, इसके विपरीत आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रस के अङ्गभूत होने पर ही रसवत् अलङ्कार स्वीकार किया है।

प्रेय अलंकार—आचार्य भामह ने प्रेय अलङ्कार का लक्षण न देकर केवल उसका उदाहरण दिया है।[1] इस उदाहरण के आधार पर प्रियोक्ति को भामह—अभिमत प्रेय–लक्षण स्वीकार किया जा सकता है।

आचार्य दण्डी ने स्पष्टतः प्रिय कथन अथवा किसी प्रियतर वस्तु के वर्णन को प्रेय अलङ्कार माना है।[2] उद्भट ने प्रेय का सम्बन्ध भाव से जोड़ते हुए कहा है कि जिस काव्य में रत्यादि स्थायीभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव का वर्णन हो, वह काव्य प्रेयस्वत् होता है।[3] इस प्रकार उद्भट ने भाव के निबन्धन में प्रेय अलङ्कार माना है। आचार्य रुद्रट ने बाहरवें से पन्द्रहवें अध्याय तक रसों का विस्तृत वर्णन किया है, सम्भवतः उन्होंने उसी वर्णन से रसवदादि अलङ्कारों को भी गतार्थ मान लिया है। सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज ने रसादि का विवेचन पाँचवें परिच्छेद में किया है। वे दण्डी के ग्रन्थ से परिचित प्रतीत होते हैं।[4]

आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार भाव का गौण होना प्रेय है।[5] कुन्तक ने

---

१. प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते॥
—**काव्यालंकार** (भामह), ३।५।

२. प्रेयः प्रियतराख्यानम्............। दण्डी—**काव्यादर्श**, २।२७५।

३. रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत् प्रेयस्वदुदाहृतम्॥
—उद्भट—**काव्यालंकारसारसंग्रह**, ४।२।

४. द्रष्टव्य—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५ परिच्छेद, पृ० ७०३–७०४।

५. (क) द्रष्टव्य—**ध्वन्यालोक**, २।५, २।२७।
(ख) ......अङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता। यः पुनरङ्गी रसो भावो वा सर्वालङ्कारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति।
—**वही**, २।५ वृत्ति, पृ० १२०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

प्रियतर कथन–रूप प्रेय को अलङ्कार्य मानकर उसके अलङ्कारत्व का खण्डन किया है। रसवत् की तरह भाव-निबन्धन-रूप प्रेय को भी वे अलङ्कार नहीं मानते।[1] आचार्य मम्मट ने रसवत् की तरह की गणना स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में नहीं की है।[2]

राजानक रुय्यक ने रसनिबन्धन में रसवत् की तरह भाव-निबन्धन में प्रेय अलङ्कार स्वीकार किया है।[3] पीयूषवर्ष जयदेव ने रसवत् की तरह प्रेय की चर्चा मात्र की है।[4]

विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन के मत का अनुसरण करते हुए भाव के गौण होने में प्रेय अलङ्कार स्वीकार किया है।[5] प्रेय का यही लक्षण अप्पयदीक्षित को भी मान्य है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि प्रेय को ही भाव अलङ्कार कहा जाता है।

आचार्य मम्मट की भाँति पण्डितराज जगन्नाथ ने रसवत् की तरह प्रेय को पृथक् अलङ्कार के रूप में स्वीकार नहीं किया है।[6]

इस प्रकार प्रेय को दो रूपों में वर्णित किया गया है—१. प्रियतर कथन—यह चाटूक्ति भी हो सकता है एवं प्रियजन के प्रति हार्दिक उद्गार भी तथा २. देवता, गुरु आदि विषयक रति, जो भाव में परिणत हो जाती है।

ऊर्जस्वि—आचार्य भामह ने ऊर्जस्वी का भी कोई लक्षण नहीं दिया। उन्होंने उसके उद्धरण में ओजस्वी वाणी का निबन्धन दिखाया है। इस उदाहरण में वीर कर्ण की गर्वोक्ति है कि मैं दो बार निशाना नहीं मारता।[7] आचार्य दण्डी के अनुसार गर्व व्यक्त करने वाली उक्ति को ऊर्जस्वी अलङ्कार कहते हैं।[8] आचार्य उद्भट के अनुसार कामक्रोधादि के कारण अनौचित्य-प्रवर्तित रस तथा भाव के आभास का

---

१. **वक्रोक्तिजीवित**, ३।११।२ वृत्ति।

२. द्रष्टव्य—**काव्यप्रकाश**, ४।२६ की वृत्ति, पृ० ११८।

३. ······भाव······निवन्धे······प्रेयः। —**अलङ्कारसर्वस्व**–सूत्र ८३।

४. द्रष्टव्य—**चन्द्रालोक**, ११७–११८।

५. द्रष्टव्य—**साहित्यदर्पण**, १०।९५–९६।

६. (क) प्रेयोलङ्कार एव भावालङ्कार उच्यते। —**कुवलयानन्द**, पृ२७०।
(ख) द्रष्टव्य—**वही**, १७०–१७१।

७. **काव्यालंकार**—(भामह), ३।७।

८. ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारम्········। —**काव्यादर्श**, २।२७५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

निबन्धन ऊर्जस्वी होता है।[1] इस प्रकार उद्भट ने ऊर्जस्वी का सम्बन्ध रसाभास एवं भावाभास से जोड़ा है।

भोजराज ने दण्डी की २।२७५ कारिका को उद्धृत करके **युक्तोत्कर्षं तु तत् त्रयम्** पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि जब प्रेय, रसवद् तथा ऊर्जस्वि युक्तोत्कर्ष होते हैं, तब वे अलङ्कार होते हैं, परन्तु जब वे युक्तोत्कर्ष नहीं होते वे क्रमशः प्रेयः, भाविक और और्जित्य गुण बन जाते हैं।[2]

ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य को ऊर्जस्वी अलङ्कार में रसाभास तथा भावाभास का अङ्ग हो जाना अभिमत है।[3]

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने दण्डी कृत कारिका (२।२७५) को खण्डशः उद्धृत करके रसवत् प्रेय ऊर्जस्वी अलङ्कारों का खण्डन किया है। उनके अनुसार ये तीनों अलङ्कार न होकर अलकार्य हैं।[4]

आचार्य मम्मट के अनुसार रसाभास तथा भावाभास के अङ्ग होने पर ऊर्जस्वी अलङ्कार होता है।[5] राजानक रुय्यक ने उद्भट की तरह रसाभास तथा भावाभास के निबन्धन में ऊर्जस्वी अलङ्कार की सत्ता स्वीकार की है।[6] पीयूषवर्ष जयदेव ने ऊर्जस्वी के सम्बन्ध में अपने पूर्ववर्ती मनीषियों के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि रसभावाभासमूलक ऊर्जस्वी अलङ्कार होता है।[7] विश्वनाथ तथा अप्पयदीक्षित को आनन्दवर्धन का ही मत अभीष्ट है।[8] पण्डितराज जगन्नाथ ने ऊर्जस्वी अलङ्कार का पृथक् विवेचन नहीं किया है।

---

१. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्विकथ्यते॥
—**काव्यालङ्कारसारसंग्रह**, ४।६।

२. युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयमित्यनेनायुक्तोत्कर्षाणां त्रयाणामप्यूर्जस्विप्रभृतीनां गुणत्वमेव नालङ्कारत्वमित्यवस्थापयति। तथाहि और्जित्यं भाविकत्वं प्रेय इति गुणेषूपदिश्यते, कुतः पुनरिदमेकदोर्जस्वि—रसवत्—प्रेयसामलङ्कारत्वमन्यदा गुणत्वम्। —**सरस्वतीकण्ठाभरण** ५।१७२ वृत्ति, पृ० ७०५।

३. द्रष्टव्य—**ध्वन्यालोक**, २।५।

४. द्रष्टव्य—**वक्रोक्तिजीवित**, ३।११।२।

५. **काव्यप्रकाश**, ४।२६ वृत्ति, पृ० ११८।

६. द्रष्टव्य—**अलंकारसर्वस्व**-सूत्र ८३।

७. द्रष्टव्य—**चन्द्रालोक** ५।११७–११८।

८. (क) द्रष्टव्य—**साहित्यदर्पण**, १०।९५–९६।
(ख) द्रष्टव्य—**कुवलयानन्द**, १७०–१७१।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

इस प्रकार ऊर्जस्वी के दो रूप हमारे समक्ष आते हैं—१ अहंकार युक्त उक्ति २. रसाभास तथा भावाभास का अन्य अर्थ के प्रति अङ्ग हो जाना।

समाहित—आचार्य भामह ने अपरिभाषित समाहित का जो उदाहरण दिया है उससे ज्ञात होता है कि अभीष्ट-सिद्धि के सहायक की अनायास उपलब्धि होने पर समाहित होता है।[1] दण्डी के अनुसार जहाँ किसी कार्य को आरम्भ करने वाले किसी व्यक्ति के समक्ष दैवयोग से उस कार्य को सिद्ध करने में समर्थ अन्य साधन की जो समुपस्थिति हो जाती है, वहाँ समाहित अलङ्कार होता है।[2] यहाँ ध्यातव्य है कि दण्डी की समाहित अलङ्कार की संकलपना को परवर्ती आचार्यों–मम्मट, रुय्यक, शोभाकरमित्र, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि–ने एक नये समाधि अलङ्कार के रूप में प्रस्तुत किया है और उसके उदाहरण के रूप में दण्डी-कृत उदाहरण (२।२९९) को उद्धृत किया है।

उद्भटाचार्य ने रस-भाव के प्रशम के निबन्धन में समाहित अलङ्कार स्वीकार किया है।[3]

आचार्य रुद्रट ने समाहित और समाधि दोनों की चर्चा नहीं की है। वामनाचार्य ने समाहित अलङ्कार का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस वस्तु के सादृश्य का ज्ञान हो, उसका सम्पन्न हो जाना समाहित है।[4]

भोजराज के अनुसार कार्यारम्भ करने पर दैवकृत-अदैवकृत आकस्मिकी बुद्धिपूर्वा अथवा दोनों प्रकार की जो सहायता की प्राप्ति है, उसको समाहित कहते

---

१. समाहितं राजमित्रे यथा क्षत्रिययोषिताम्।
रामप्रसक्त्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यत नारदः॥
—काव्यालंकार (भामह), ३।१०।

२. किंचिदारम्भमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्॥ —काव्यादर्श, २।२९८।

३. रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम्॥—काव्यालंकारसारसंग्रह ४।७।

४. (क) यत्सादृश्यं तत्सम्पत्तिः समाहितम्।
—काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति, ४।३।२९।

(ख) यस्य वस्तुनः सादृश्यं गृह्यते, तस्य वस्तुनः सम्पत्तिः समाहितम्।
—वही, वृत्ति।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

हैं। इस प्रकार उन्होंने छः प्रकार का समाहित स्वीकार करके उसके इतने ही उदाहरण भी दिये हैं।[1]

आनन्दवर्धनाचार्य ने रस-भाव के प्रशम के गौण होने में समाहित अलङ्कार स्वीकार किया है।

आचार्य मम्मट ने दण्डी-कृत समाहित अलङ्कार की कल्पना को समाधि अलङ्कार के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—जहाँ अभीष्ट कारण के अतिरिक्त अन्य कारणों के योग से किसी कार्य के सुगमतापूर्वक किये जाने का वर्णन होता है, वहाँ समाधि अलङ्कार होता है और भाव के प्रशम के गौण होने में समाहित अलङ्कार स्वीकार किया है।[2]

राजानक रुय्यक ने रस-भाव के प्रशम के निबन्धन में समाहित अलङ्कार माना है।[3] जयदेव के अनुसार जहाँ निर्वेदादि भावों में से किसी भाव की शान्ति किसी अन्य भाव की पोषक हो, वहाँ समाहित अलङ्कार होता है।[4]

विश्वनाथ[5] तथा अप्पयदीक्षित[6] ने आनन्दवर्धनाचार्य के मत को ही स्वीकार किया है।

---

१. (क) कार्यारम्भे सहायाप्तिर्दैवाद्दैवकृतेह या।
आकस्मिकी बुद्धिपूर्वाभयी वा तत्समाहितम्॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण** ३।३४।

(ख) द्रष्टव्य—**वही**, पृ० ३६०–३६३।

२. (क) समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः।
—**काव्यप्रकाश**, १०।१२५।

(ख) साधानान्तरोपकृतेन कर्त्रा यदक्लेशेन कार्यमारब्धं समाधीयते स स समाधिर्नाम। —**वही**, वृत्ति, १०।१२५।

(ग) द्रष्टव्य—**वही**—अत्र भावस्य भावप्रशमः—पृ० २२४–२२५।

३. (क) रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धे रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितानि।
—**अलंकारसर्वस्व**, ८३।

(ख) द्रष्टव्य—**वही**, पृ० ३५१।

४. द्रष्टव्य—**चन्द्रालोक**, ११७–११८।

५. द्रष्टव्य—**साहित्यदर्पण**, ९५–९६।

६. (क) द्रष्टव्य—**कुवलयानन्द**, १७०।

(ख) तस्य (भावस्य) अपराङ्गत्वे समाहितम्।
—**वही**, वृत्ति, पृ० २६९।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

इस प्रकार समाहित के सम्बन्ध में तीन मत मनीषियों द्वारा प्रतिष्ठापित किये गये—

१. कार्य की सिद्धि में सहायक का अनायास उपस्थित हो जाना।

२. रस-भाव के प्रशम का निबन्धन—यह मत रस-सिद्धान्त के अनुयायियों को मान्य नहीं हो सका।

३. रस-भाव के प्रशम का गौण हो जाना।

समाहित के विषय में प्रचलित भामह–दण्डी द्वारा प्रतिपादित प्रथम मत के आधार पर ही परवर्ती आचार्यों ने समाधि नामक पृथक् अलङ्कार की कल्पना की है और तृतीय मत को समाहित अलङ्कार के रूप में मान्यता प्रदान की है।

भावोदय भावसन्धि और भावशबलता अलंकार—सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने ही भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता के सद्भाव का संकेत रसादि–ध्वनि–निरूपण के क्रम में आदि पद से किया।[1] रसादि पद से उन्होंने रस के साथ रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता को ग्रहण किया था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जहाँ ये रसादि प्रधान रहते हैं, वहाँ वे अलङ्कार्य होते हैं, किन्तु जहाँ वाक्यार्थ की प्रधानता होती है और रस आदि उसके अंग होकर आते हैं, वहाँ व्यंग्यार्थ के गुणीभूत हो जाने के कारण रस, भाव, रसाभास, भावाभास तथा भावशान्ति आदि का पर्यवसान क्रमशः रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित आदि अलङ्कार के रूप में होता है। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि आचार्य मम्मट ने इस सन्दर्भ में अलङ्कार शब्द का प्रयोग काव्यालङ्कार के विशेष अर्थ में नहीं किया है। यही कारण है कि उन्होंने रसादि के गुणीभूत स्वरूप को अलङ्कार कहने पर भी उनका विवेचन अलङ्कार-निरूपण के सन्दर्भ में न करके गुणीभूतव्यंग्य के अपराङ्गभेद (अपरस्याङ्गभेद) के विवेचन-क्रम में किया है।[2] उन्होंने स्पष्ट कहा

---

१. (क) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः ॥

—**काव्यप्रकाश**, ४।२६।

(ख) आदिग्रहणाद्–भावोदय–भावसन्धि भावशबलत्वानि। प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालंकार्यः, यथोदाहरिष्यते। अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यंग्ये रसवत्प्रेय–ऊर्जस्वि–समाहितादयोऽलंकाराः। ते च गुणीभूतव्यंग्याभिधाने उदाहररिष्यन्ते।

—**वही**, वृत्ति, पृ० ११८।

२. अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गं रसादि अनुरणनरूपं वा। —**वही**, ५।४५ वृत्ति, पृ० २२२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

है कि ये गुणीभूत रस आदि रसवद् आदि अलङ्कार भी कहे गये हैं। यद्यपि भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को किसी के द्वारा अलङ्कार रूप में वर्णन नहीं किया गया तथापि कोई कहता हो, यह सम्भावना करके यहाँ कहा गया है।[1]

भावोदय के अन्य भाव का अङ्ग हो जाने पर भावोदय अलङ्कार होता है। भावसन्धि के अन्य के अङ्ग हो जाने पर भावसन्धि अलङ्कार तथा भावों की शबलता के अपराङ्ग हो जाने पर भावशबलता अलंकार होता है।

राजानक रुय्यक ने स्पष्टतः भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को पृथक् अलंकारों के रूप में परिगणित किया है। भाव की उद्गमावस्था को उदय कहते हैं। दो विरोधी भावों का स्पर्धापूर्वक सन्निवेश सन्धि है। अनेक भावों का पूर्व-पूर्व भावों का मर्दन करते हुए वर्णन शबलता है। ये रसवदादि से पृथक् अलंकार हैं।[2]

जयदेव ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित तथा भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता—इन सात अलंकारों के सम्बन्ध में संकेत मात्र किया है।[3]

विश्वनाथ के अनुसार भावोदय, भावसन्धि एवं भावशबलता वे अलंकार हैं जिन्हें क्रमशः भाव की उदयावस्था, सन्ध्यवस्था और मिश्रणावस्था के उपनिबन्धन में देखा जा सकता है।[4] विश्वनाथ रसवदादिकों के सम्बन्ध में ध्वनिकार आदि प्रामाणिक आचार्यों के मत से सर्वथा सहमत प्रतीत होते हैं कि अङ्गभूत रसादिक अपने व्यञ्जक शब्द और अर्थ से उपकृत होकर प्रधान रस के व्यञ्जक शब्द और

---

१. एते च रसवदाद्यलंकाराः। यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलतत्वानि नालंकारतया उक्तानि, तथापि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्।

—वही, वृत्ति, पृ० २२६।

२. (क) भावोदयसन्धिशबलताश्च पृथगलंकाराः।

—अलंकारसर्वस्व, सूत्र ८४।

(ख) भावस्योक्तरूपस्योदय उद्गमावस्था, संधिः द्वयोर्विरुद्धयोः स्पर्धिभावेनोपनिबन्धः, शबलता बहूनां पूर्वपूर्वोपमर्देनोपनिबन्धः। एते च पृथग्रसवदादिभ्यो भिन्नत्वेनालंकाराः। **—वही**, वृत्ति सूत्र ८४।

३. रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः, रसवत्प्रेयऊर्जस्वत्समाहितमयाभिधाः, भावानामुदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रयः अलंकारानिमान् सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः। **—चन्द्रालोक**, ११७–११८।

४. भावस्य चोदये संधौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः।

—साहित्यदर्पण, १०।९६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अर्थ के उपकार के द्वारा ही प्रधान रस का उपकार करते हैं, अतएव मुख्य वृत्ति से ही उनमें अलंकार पद का प्रयोग होता है। समासोक्ति में नायिका आदि के व्यवहार का आरोप ही अलंकार कहलाता है, उस आरोप से उत्पन्न आस्वाद को अलंकार नहीं कहा जाता। इसीलिये ध्वनिकार ने स्पष्ट कहा है कि जहाँ रसादिक किसी अन्य वाक्यार्थ में अङ्गभूत हों, वहाँ वे अलंकार होते हैं।[१]

अप्पयदीक्षित ने भी रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि तथा समाहित इन चार अलंकारों के अतिरिक्त भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता इन तीन अलंकारों की सोदाहरण चर्चा की है।[२]

स्वभावप्रतीतिमूलक—

स्वभावोक्ति अलङ्कार—यह एक प्राचीन अलङ्कार है। आचार्य भामह को सम्भवतः स्वाभावोक्ति की अलङ्कार के रूप में स्वीकृति अभीष्ट नहीं थी। उनका कथन है—स्वाभावोक्ति अलङ्कार है, ऐसा कुछ लोगों का कथन है।[३] भामह के इस कथन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को अलङ्कार मात्र का जीवातुभूत मानने के कारण उन्होंने उसके अभाव में स्वभावोक्ति का अलंकारत्व अस्वीकार किया होगा। तथापि भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा मान्य स्वभावोक्ति का लक्षण तथा उदाहरण इस प्रकार दिया है—किसी पदार्थ का

---

१. अभियुक्तास्तु–स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरङ्गभूतैं रसादिभिरङ्गिनो रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलंकृतिव्यपदेशो लभ्यते। समासोक्तौ तु नायिकादिव्यवहारमात्रस्यैवालंकृतिता न त्वास्वादस्य, तस्योक्तरीतिविरहात्, इति मन्यन्ते। अतएव ध्वनिकारेणोक्तम्—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः। काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः। —वही, १०।९६ वृत्ति, ध्वन्यालोक २।५।

२. (क) भावस्य चोदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रयः।

—**कुवलयानन्द**, १७१।

(ख) भावस्योद्गमावस्था भावोदयः। द्वयोर्विरुद्धयोर्भावयोः परस्परस्पर्धाभावो भावसन्धिः। बहूनां भावानां पूर्वपूर्वोपमर्दनोत्पत्तिर्भावशबलता। एतेषामितराङ्गत्वे भावोदयाद्यास्त्रयोऽलंकाराः।

—**वही**, वृत्ति १७०–१७१।

३. स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते।

—**काव्यालङ्कार** (भामह), २।९३।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उसी अवस्था में रहना स्वभाव कहा जाता है, उसका वर्णन स्वभावोक्ति है। जो वस्तु जैसी हो, उसका यथारूप वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार है।[१]

आचार्य दण्डी ने न केवल स्वभावोक्ति के अलंकारत्व को ही स्वीकार किया अपितु उसे 'आद्यालंकृति' कहकर अलंकारों में प्रधान स्थान दिया है। उनके अनुसार स्वभावोक्ति का दूसरा नाम 'जाति' है। उनके अनुसार पदार्थों के नाना अवस्था वाले रूप को प्रकट करती हुई अलंकृति स्वभावोक्ति और जाति नामों से व्यवहृत होती है।[२] उन्होंने जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य की स्वभावोक्ति के चार उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[३] तदनन्तर अन्त में उन्होंने कहा है कि शास्त्रों में तो इसी का साम्राज्य है, किन्तु काव्यों में भी यह अभीष्ट है।[४]

आचार्य उद्भट के अनुसार क्रिया में लगे हुए मृगशावक आदि के हेवाक (चेष्टा) के वर्णन को स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं।[५] उद्भट कृत स्वभावोक्ति के लक्षण में कुछ वैशिष्ट्य दिखलाई पड़ता है। प्रथमतः उद्भट क्रिया-संप्रवृत्त (साध्यावस्था में रहने वाले) पदार्थ का वर्णन ही स्वभावोक्ति में अपेक्षित मानते हैं। इसके विपरीत पूर्ववर्ती आचार्यों ने सिद्ध और साध्य का विवेक अपेक्षित नहीं माना था। दूसरी बात यह है कि उद्भट क्रिया-प्रवृत्त पदार्थ की केवल शारीरिक चेष्टाओं का यथातथ्य वर्णन ही स्वभावोक्ति के लिये पर्याप्त नहीं मानते, वे उसमें वर्ण्य की इच्छा उत्कण्ठा आदि मानसिक क्रिया का वर्णन अपेक्षित मानते हैं। तीसरी बात यह है कि वे सजीव पदार्थों के वर्णन में ही स्वभावोक्ति स्वीकार करते हैं क्योंकि सजीव पदार्थ के ही हेवाक (इच्छादि मानसिक चेष्टा) का वर्णन सम्भव हो सकता है।

वामनाचार्य ने वस्तु-स्वभाव के स्फुट वर्णन को काव्य के अर्थव्यक्ति नामक गुण से अभिन्न मानकर अलंकार रूप में स्वभावोक्ति का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया है।

आचार्य रुद्रट ने वास्तव वर्ग में संगृहीत अनेक अलंकारों में स्वभावोक्ति को को जाति के नाम से पृथक् अलंकार के रूप में परिगणित किया है। उन्होंने भामह

---

१. (क) अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥ —**वही**, २।९३।
(ख) द्रष्टव्य—**वही**, २।९४।

२. नानावस्थां पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥ —**काव्यादर्श**, २।८।

३. द्रष्टव्य—**वही**, २।९–१२।

४. शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीक्षितम्।—**वही**, २।१३।

५. क्रियायां संप्रवृत्तस्य हेवाकानां निवन्धनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता॥
—**काव्यालंकारसारसंग्रह**, ३।८।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

और दण्डी-कृत लक्षण का अनुगमन किया है। उनके अनुसार जिस वस्तु का संस्थान (स्वाभाविक रूप), अवस्थान तथा क्रिया आदि जैसा हो, उसका वैसा ही वर्णन जाति होता है। उसमें शिशु, मुग्ध, युवती, कातर, पक्षी, सम्भ्रान्त, हीन आदि पात्रों की काल-विशेष तथा अवस्था-विशेष में विशेष प्रकार की चेष्टा का वर्णन रम्य होता है।[१] रुद्रट कृत जाति के लक्षण में भी सजीव पदार्थों मनुष्य, पशु-पक्षी की ही चेष्टा का वर्णन अपेक्षित स्वीकार किया गया प्रतीत होता है।

भोजराज ने दण्डी की तरह जाति या स्वभावोक्ति को अर्थालंकारों में मुख्य माना है। इसलिये उनमें इसका स्थान सर्वप्रथम है।[२] भोजराज ने जाति को शब्दालंकारों में भी परिगणित किया है किन्तु शब्दालंकार वाली जाति तो भाषाओं की भिन्न जातियों का निर्देशमात्र है।[३] भोज ने अर्थालंकारों में परिगणित जाति का लक्षण इस प्रकार दिया है—वस्तु के अपने-अपने स्वभावों से नाना अवस्थाओं में जो रूप उत्पन्न होते हैं, उन्हें जाति कहते हैं।[४] इस प्रकार जाति के लक्षण में भोज ने रुद्रटाचार्य की भाँति नाना अवस्थाओं में वस्तु के जायमान रूप का वर्णन अपेक्षित माना है और वह जायमान रूप के स्वभाव से ही उत्पन्न होना चाहिये। जाति के लक्षण के अनन्तर भोज ने अर्थव्यक्ति गुण से जाति का भेद वर्णित किया है। उनके अनुसार अर्थव्यक्ति में वस्तु के सार्वकालिक स्वरूप का वर्णन होता है किन्तु जाति में वस्तु के अवस्था-विशेष में उत्पन्न होने वाले रूप का वर्णन होता है।[५]

आचार्य मम्मट ने शिशु आदि की स्व-आश्रित क्रिया या रूप का वर्णन स्वभावोक्ति का लक्षण स्वीकार किया है।[६]

---

१. संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः॥
शिशुमुग्धयुवतिकातरतिर्यक्सम्भ्रान्तहीनपात्राणाम्।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या॥
—काव्यालंकार (रुद्रट), ७।३०-३१।

२. द्रष्टव्य—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३।२।

३. द्रष्टव्य—वही, २।२-१७।

४. नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः।
स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते॥ —वही, ३।४।

५. अर्थव्यक्तेरियं भेदमियता प्रतिपद्यते।
जायमानप्रियं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम्॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३।५।

६. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।
—काव्यप्रकाश, १०।१११।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

राजानक रुय्यक के अनुसार सूक्ष्म वस्तु के स्वभाव का यथावत् वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार है।[1] रुय्यक ने स्वभावोक्ति लक्षण में सूक्ष्म शब्द जोड़कर यह धारणा व्यक्त की है कि काव्य में वस्तु के स्वभाव का वर्णन मात्र अलंकार नहीं होता है, वह तो अलंकार्य है। वस्तु-स्वभाव का वर्णन काव्य का शरीर है जिसे अलंकार अलंकृत करते हैं। कोई भी काव्य ऐसा नहीं है, जिसमें वस्तु के स्वभाव का वर्णन नहीं पाया जाता हो। इसीलिये सूक्ष्म पद का प्रयोग किया गया है। अतः कवि-प्रतिभा से वस्तु-स्वभाव का सूक्ष्म तथा यथावत् वर्णन करना स्वभावोक्ति अलंकार है।[2]

वाग्भट प्रथम ने भी स्वभावोक्ति को सर्वप्रथम अलंकार माना है। उनके अनुसार सक्रिय अथवा निष्क्रिय पदार्थ के स्वभाव की उक्ति जाति है। वह हीन, भयभीत और अर्भकादिक में विशेष रम्य होती है।[3]

काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र ने स्वभाव के आख्यान को जाति स्वीकार किया है।[4] उन्होंने वृत्ति में स्वभाव का अर्थ ताद्वस्थ्य किया है। टीकाकार ने ताद्वस्थ्य को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के समान कविप्रतिभा से प्रतीत (विषयीकृत) वस्तु-स्वभाव जहाँ वर्णन किये जाते हैं, वह जाति अलंकार का विषय होता है। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक प्राणी को प्रतीत होने वाले रूपादिक स्वभावोक्ति के विषय नहीं हैं, किन्तु जो केवल कविप्रतिभोत्थित होते हैं, वे ही स्वभावोक्ति के विषय होते हैं।[5]

---

१. सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

—**अलंकारसर्वस्व**, सूत्र–७९।

२. इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालंकारः। तत्त्वे सति सर्वं काव्यमलंकारि स्यात्। न हि तत्काव्यमस्ति यत्र वस्तुस्वभाववर्णनं न विद्यते। तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम्। सूक्ष्मः कविमात्रस्य गम्यः। अतएव तन्निर्मित इव यो वस्तुस्वभावस्तस्य यथावदन्यूनानतिरिक्तत्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलंकारः।

—**वही**, सूत्र ७९–वृत्ति, पृ० ३२६–३२७।

३. स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सक्रियस्याक्रियस्य वा।
जातिर्विशेषतो रम्या हीनत्रस्तार्भकादिषु॥

—**वाग्भटालङ्कार**, ४।४७।

४. स्वभावाख्यानं जातिः—**काव्यानुशासन** (हेमचन्द्र)।

५. सा अनुभवैकगोचरा अवस्था यस्य स इत्यस्य भावस्तादवस्थ्यमिति। कविप्रतिभया निर्विकल्पकप्रत्यक्षकल्पया विषयीकृता वस्तुस्वभावा यत्रोपवर्ण्यन्ते स जातेर्विषयः॥

—**वही**, वृत्ति।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

पीयूषवर्ष जयदेव के अनुसार जात्यादि में जो स्वभाव वर्णन रहता है, उनके वर्णन को स्वभावोक्ति कहते हैं।[1]

वाग्भट द्वितीय ने वाग्भट प्रथम-कृत स्वभावोक्ति के लक्षण का अनुसरण करते हुए कहा है कि यथास्थित वस्तु के स्वरूप वर्णन को जाति कहते हैं और वह त्रस्त, अर्भक, दीन, तिर्यक्, युवती आदि में विशेषतः रम्य होती है।[2]

विश्वनाथ ने मम्मट तथा रुय्यक के स्वभावोक्ति के लक्षणों को आधार बनाकर स्वभावोक्ति की परिभाषा प्रस्तुत की है। यथा 'स्वक्रिया-रूपवर्णन' की धारणा लेकर 'दुरुहार्थ' का प्रयोग किया है। उनके अनुसार दुरुह अर्थात् सूक्ष्म कविजनमात्र संवेद्य पदार्थों के स्वरूप अथवा उनकी क्रियाओं के वर्णन को स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं।[3]

अप्पयदीक्षित के अनुसार किसी पदार्थ की जाति, गुण, क्रिया के अनुसार उसके स्वभाव का वर्णन करने पर स्वभावोक्ति अलंकार होता है।[4]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अवस्था-विशेष में वस्तु के जायमान रूप का, क्रिया-संलग्न अर्थ के स्वरूप का कविप्रतिभाजन्य चमत्कारपूर्ण एवं यथार्थ-वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार कहा जाता है। यह अर्थ व्यक्ति गुण से भिन्न है क्योंकि अर्थव्यक्ति गुण में वस्तु के सिद्ध या सार्वकालिक स्वरूप का स्फुट वर्णन होता है, किन्तु स्वभावोक्ति में अवस्था-विशेष में जायमान वस्तु का स्फुट वर्णन होता है।

भाविक अलङ्कार—यह एक प्राचीन अलंकार है। आचार्य भामह ने भाविकत्व अथवा भाविक को प्रबन्ध विषयक गुण कहा है। उनके अनुसार प्रबन्धविषयक वह गुण जिसमें भूत और भावी पदार्थ प्रत्यक्ष से दीखते हैं, भाविकत्व कहलाता है। अर्थ की चित्रता, उदात्तता और अद्भुतता, कथा की अभिनेयता तथा शब्दों की स्वच्छता

---

१. स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिषु च वर्णनम्। —**चन्द्रालोक**, ५।११२।

२. यथास्थितवस्तुस्वरूपवर्णनमग्राम्य जातिः। सा च त्रस्तार्भकदीनतिर्यग्युवति-प्रभृतिषु विशेषतो रम्या। —**वाग्भट द्वितीय—काव्यानुशासन**।

३. (क) स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रिया रूपवर्णनम्।
—**साहित्यदर्पण**, १०।९२।

(ख) दुरुहयोः कविमात्रवेद्ययोः अर्थस्य डिम्भादेः स्वयोस्तदेकाश्रययोश्चेष्टास्वरूपयोः। —**वही**, वृत्ति १०।९२, पृ० ८६५।

४. स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्।
—**कुवलयानन्द**, १६०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उसके निष्पादक कहे जाते हैं।[1] इस प्रकार अर्थ की विचित्रता, उदात्तता तथा अद्भुतता, कथा की सुबोधता तथा शब्द की अनाकुलता से भूत और भावी अर्थ का प्रत्यक्षवत् वर्णन भाविक अलंकार स्वीकार किया गया है। यद्यपि इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वे भाविक को अलंकार मानते थे, क्योंकि उन्होंने अलंकार-विवेचन के सन्दर्भ में भाविक का स्वरूप-निरुपण किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं कहा है कि सुधियों ने भाविकत्व अलंकार भी कहा है।[2]

आचार्य दण्डी ने भी भामह की तरह भाविक को प्रबन्धगत गुण ही स्वीकार किया है किन्तु दण्डी की भाविक के स्वरूप की धारणा भामह की धारणा से भिन्न है। दण्डी के अनुसार समस्त काव्य-प्रबन्ध में व्याप्त होने वाले गुण को भाविकत्व कहते हैं। काव्य-ग्रन्थों की समाप्ति-पर्यन्त स्थित रहने वाले कवि के अभिप्राय को भाव कहा जाता है, रचना के गुण भूत भाविक के लिये यह अपेक्षित माना है कि रचना ने आने वाली सब कथावस्तुएँ परस्पर उपकारी हों, व्यर्थ विशेषणों का प्रयोग न हो, वर्ण्य-विषयों का उचित अवसर पर वर्णन हो, अर्थ-प्रतिपादन समर्थ पद-विन्यास से गूढ़ वर्ण्य-विषय की स्पष्ट अभिव्यंजना होती हो।[3] इस प्रकार दण्डी ने भाविक का सम्बन्ध कवि के अभिप्राय से जोड़कर सम्पूर्ण काव्य में कवि के अभिप्राय की स्पष्ट अभिव्यञ्जना के गुण को भाविक कहा है। रचना की समाप्ति पर्यन्त कवि का भाव-विशेष व्यञ्जित होता रहता है और कथावस्तु आदि सभी काव्याङ्ग कवि के उस विशेष अभिप्राय को अभिव्यक्त करने में सहायक होते हैं।

परवर्ती काल में भामह-कृत भाविकत्व लक्षण ही थोड़े परिष्कृत रूप में

---

१. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते॥
—काव्यालङ्कार (भामह), ३।५३–५४।

२. भाविकत्वं च निजगुरलंकारं सुमेधसः॥ —वही, ३।४।

३. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धिः सस्थितः॥
परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम्।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना॥
व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गम्भीरस्यापि वस्तुनः।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः॥
—काव्यादर्श, २।३६४–३६६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

स्वीकार हुआ। उद्भट ने भाविकत्व के स्थान पर भाविक शब्द का प्रयोग किया। इन्होंने भाविक का लक्षण तो भामह से ही लिया, किन्तु उसे प्रबन्ध गुण के रूप में नहीं माना। उनके अनुसार जहाँ भूत और भावी पदार्थ प्रत्यक्षवत् दिखाई दें और जिन पदार्थों का वर्णन हो, वे अत्यद्भूत हों और वाणी की अनाकुलता (विस्पष्टता) से वर्णन किये गये हों, वहाँ भाविक अलङ्कार होता है।[१] उद्भट ने भाविक का स्वरूप-निरुपण अलङ्कार के ही प्रसङ्ग में किया है। भाविक के साधक तत्त्वों के विषय में भी उन्होंने भामह की धारणा को परिष्कृत करके स्वीकार किया है। भामह ने अर्थ का विचित्र, उदात्त तथा अद्भुत होना स्वीकार किया था किन्तु उद्भट ने उसके स्थान पर केवल अर्थ का अत्यद्भुत होना स्वीकार किया। उन्होंने कथा की स्वविनीतता (सुबोधता) विशेषण को तो नहीं माना है किन्तु शब्द की अनाकुलता की धारणा को अवश्य स्वीकार किया है।

आचार्य वामन तथा रुद्रट ने भाविक अलङ्कार की चर्चा नहीं की है।

भोजराज ने दण्डी की तरह भाविक का सम्बन्ध भाव या अभिप्राय से माना है, किन्तु उन्होंने कवि के अपने अभिप्राय-वर्णन के साथ अन्य की भावना के वर्णन को और अन्यापदेश को भाविक अलङ्कार का प्रकार माना है।[२] संक्षेपतः भोजराज के अनुसार भाविक अलङ्कार तीन प्रकार का होता है—**१.** जहाँ अपना अभिप्राय प्रकट किया जाए, २. **अन्यभावना**—जहाँ कहा जाये कुछ और भावना कुछ हो और ३. **अन्यापदेश**—जहाँ अन्य के बहाने से अन्य की बात की जाए। तदनुसार ही भोजराज ने उद्धरण दिये हैं।[३]

आचार्य मम्मट ने भामह और उद्भट के लक्षण का अनुसरण किया है। उनके अनुसार जहाँ भूत तथा भविष्यकाल में होने वाले पदार्थों को प्रत्यक्ष के समान वर्णित किया जाता है, वहाँ भाविक अलङ्कार होता है।[४] उन्होंने अर्थ में विचित्र, उदात्त तथा अद्भुत तत्व का, कथा की सुबोधता का तथा शब्द की अनाकुलता का उल्लेख

---

१. प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः।
अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम्॥
—**काव्यालङ्कारसारसंग्रह**, ६।१२।

२. स्वाभिप्रायस्य कथनं यदि वाप्यन्यभावना।
अन्यापदेशो वा यस्तु त्रिविधं भाविकं विदुः॥
—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ४।८६।

३. द्रष्टव्य—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, पृ० ५४८–५४९।

४. प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः।
तद्भाविकम्। —**काव्यप्रकाश**, १०।११४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

भाविक अलङ्कार के लक्षण में नहीं किया है। मम्मटाचार्य ने दण्डी की तरह भाविक की व्युत्पत्ति भाव या कवि के अभिप्राय से ही स्वीकार की है।[१]

राजानक रुय्यक के अनुसार अतीत और अनागत पदार्थों की प्रत्यक्षायमाणता भाविक अलङ्कार है।[२] सूत्रवृत्ति में अधिक स्पष्ट करते हुए रुय्यक का कथन है कि भूत और भावी पदार्थों का अलौकिक होने के कारण अत्यन्त अद्भुत होने से तथा आकुल सम्बन्ध से रहित अर्थात् प्रसन्न शब्द रचना से समर्पित होने के कारण प्रत्यक्ष-सा हो जाना भाविक है। कविगत भाव श्रोता में प्रतिविम्ब रूप में होता है अतः इस अलंकार में भावना का बारम्बार मन में अनुसन्धान होता है, इसलिये इसे भाविक कहा जाता है।[३] उन्होंने इसको (प्रत्यक्षायमाणता अर्थात् भाविक को) भ्रान्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, काव्यलिंग, रसवत् और स्वभावोक्ति से भिन्न बताते हुए विस्तृत विवेचन किया है। उनके अनुसार भाविक अलंकार-इतिवृत्त, अलंकार तथा गुणादि सभी से भिन्न है। काव्य में इसका प्रचुर प्रयोग भी दिखाई पड़ता है।[४]

पीयूषवर्ष जयदेव ने भाविक के दो रूप स्वीकार किये हैं भाविक और भाविकच्छवि। उनके अनुसार भूत और भावी पदार्थों को प्रत्यक्षवत् वर्णन करने पर भाविक अलंकार होता है।[५] तथा दूर में स्थित पदार्थ को निकट बतलाने पर भाविकच्छवि अलंकार होता है।[६] सारांश यह है कि उनके मत में भूत-भविष्यत् का वर्तमान रूप में वर्णन होने पर भाविक अलंकार और दूरवर्ती का समीप में वर्णन होने पर भाविकच्छवि अलंकार होता है।

विश्वनाथ ने भाविक के लक्षण में राजानक रुय्यक के लक्षण का अनुसरण किया है। उनके अनुसार जहाँ किसी भूत अथवा भावी अद्भुत पदार्थ का ऐसा चित्रण

---

१. भूताश्च भाविनश्चेति द्वन्द्वः। भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीतिभाविकम्।
—काव्यप्रकाश, वृत्ति १०।११४।

२. अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्।—अलंकारसर्वस्वसूत्र–८०।

३. अतीतानागतयोर्भूतभाविनोरर्थयोरलौकिकत्वेनात्यद्भुतत्वाद्व्यस्तसम्बन्ध-रहितशब्दसन्दर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। कविगतो भावः आशयः श्रोतरि प्रतिबिम्बत्वेनास्तीति भावो भावना वा पुनः पुनश्चेतसि निवेशनं सोऽत्रास्तीति। —वही, वृत्ति–सूत्र ८०, पृ० ३२८।

४. (क) द्रष्टव्य—वही, वृत्ति सूत्र–८०, पृ० ३२८–३३६।
(ख) तस्मादयं सर्वोत्तीर्ण एवालंकारः। लक्ष्ये चायं प्रचुरप्रयोगो दृश्यते।
—वही, वृत्ति, पृ० ३३६।

५. भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षाद्दर्शनवर्णनम्। —चन्द्रालोक, ५।११३।

६. देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः। —वही, ५।११४।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

किया जाता है जिससे वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने लगता है, वहाँ भाविक अलंकार होता है।[१] यह प्रसाद गुण नहीं है, अद्भुत रस नहीं है, अतिशयोक्ति, भ्रांतिमान्, स्वभावोक्ति, अलंकार से सर्वथा भिन्न है। भाविक वहाँ नहीं होता, जहाँ किसी प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने वाली वस्तु का वर्णन किया जाता है अपितु यह वहाँ होता है, जहाँ कवि के वर्णना-वैचित्र्य से भूत अथवा भावी वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति हुआ करती है।[२]

अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ भूतकाल या भविष्यत् काल की वस्तु का साक्षात्कार (वर्तमान) के ढंग से वर्णन किया जाये, वहाँ भाविक अलंकार होता है।[३] पीयूषवर्ष जयदेव के अनुयायी होते हुए भी अप्पयदीक्षित ने भाविकच्छावि की कोई चर्चा नहीं की है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भाविक अलंकार धारणा के विकास में एक क्रम रहा है। भामह तथा दण्डी ने उसे प्रबन्ध-गुण कहा तथा उसके लक्षण में अनेक विशेषणों का प्रयोग किया। उद्भट ने उसका वाक्यालंकार के रूप में निरूपण किया। मम्मट ने अर्थ की अद्भुतता का शब्द की अनाकुलता आदि विशेषणों को हटाकर केवल भूत और भावी अर्थ का कवि-कौशल से ऐसा वर्णन कि वह प्रत्यक्ष-सा हो उठे, भाविक का लक्षण माना। यही लक्षण परवर्ती आचार्यों को शब्दान्तर के साथ मान्य हुआ।

उदात्त अलंकार—उदात्त अलंकार सर्वप्रथम भामह के ग्रन्थ में प्राप्त होता है, वस्तुतः यह उन से भी पुराना है। भरत के उदार गुण के कई तत्त्वों में से एक तत्त्व दिव्य-भाव-परीत है। मानुषोचित व्यापार का भी दिव्य रूप से वर्णन उदार का अंग बताया गया है। भरत के उदार-गुण-लक्षण के प्राप्त पाठान्तर में उदात्त शब्द का प्रयोग है। इसके अतिरिक्त गुण कीर्तन लक्षण में और अतिशय लक्षण में आशयोत्कर्ष वर्णन वाञ्छनीय माना गया है।[४] भामह ने उदात्त अलंकार के सम्बन्ध

---

१. अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्॥ —**साहित्यदर्पण**, १०।९३।

२. द्रष्टव्य—**वही**, वृत्ति १०।९३, पृ० ८६८–८६९।

३ भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम्। —**कुवलयानन्द**, १६१।

४. (क) कीर्त्यमानैर्गुणैर्यत्र विविधार्थसमुद्भवैः।
दोषा न परिकथ्यन्ते तज्ज्ञेयं गुणकीर्तनम्॥
भरत—**नाट्यशास्त्र**, १६।९।

(ख) बहून् गुणान् कीर्तयित्वा सामान्यजनसंभवान्।
विशेषः कीर्त्यते यत्र ज्ञेयः सोऽतिशयो बुधैः॥ —**वही**, पृ० ३०६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

में यही धारणा व्यक्त की है। भामह के अनुसार चारित्रिक औदात्य वर्णन में तथा समृद्धि युक्त वस्तु-वर्णन में उदात्त अलंकार होता है। भामहाचार्य ने दो प्रकार का उदात्त[1] कहकर उनके लक्षण न दे कर केवल उदाहरण दे दिये हैं—१. पिता का वचन पालन करते हुए राम प्राप्त राज्य को छोड़कर वन चले गये।[2] २. इसी उदात्त को दूसरे दूसरी व्याख्या के द्वारा अन्य प्रकार से कहते हैं—जो नाना रत्नादि से युक्त हो, वह उदात्त कहलाता है।[3] इस प्रकार चरित्रगत तथा वस्तुगत वैभव के वर्णन के आधार पर उदात्त के दो रूप मान्य हुए।

आचार्य दण्डी ने उपर्युक्त दोनों रूपों को स्वीकार कर लिखा है कि किसी आशय (अभिप्राय) अथवा ऐश्वर्य की सर्वोत्तम महत्ता को मनीषी लोग उदात्त नाम का अलंकार कहते हैं।[4] यह अलंकार दण्डी के अपने गुण उदारत्व से तुलनीय है।[5] दण्डी ने महाशयता का उदाहरण तो राम का ही दिया है, किन्तु ऐश्वर्य वर्णन का उदाहरण रावण का दिया है।[6]

उद्भट के अनुसार समृद्धियुक्त वस्तु और महात्माओं का चरित जब इतिवृत्तत्व को न प्राप्त हो अपितु उपलक्षणता को प्राप्त हो, तब उदात्त अलंकार होता है।[7] उन्होंने रसवदलंकार से उदात्त के भेद-निरूपण के लिये ही यह लिखा है कि वस्तु-वैभव या चारित्रिक औदात्य का चित्रण उदात्त में गौण रूप में होना चाहिए। जहाँ महात्माओं के चरित्र का अंकन कवि का मुख्य उद्दिष्ट होगा, वहाँ रसवदलङ्कार ही माना जायेगा। इस प्रकार आचार्य उद्भट ने समृद्धि-वर्णन तथा महात्मा-चरित्र-वर्णन के साथ उपलक्षणता पद को जोड़कर पूर्ववर्ती भामहादि आचार्यों की उदात्त धारणा को ही अधिक स्पष्ट किया है। आचार्य वामन ने उदात्त अलङ्कार की चर्चा नहीं की है।

---

१. द्विप्रकारमुदात्तं च।—...काव्यालङ्कार (भामह), ३।११।

२. उदात्तं शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
विहायोपवनं राज्यं यथा वनमुपागमत्॥ —वही, ३।११।

३. (क) एतदेवापरेऽन्येन व्याख्यानेनान्यथा विदुः।
नानारत्नादियुक्तं यत्तत्किलोदात्तमुच्यते॥ —वही, ३।१२।
(ख) द्रष्टव्य—वही, ३।१३।

४. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम्।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणः॥ —काव्यादर्श, २।३००।

५. द्रष्टव्य—वही, १।७६—७८।

६. द्रष्टव्य—वही, २।३०१—३०२।

७. उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम्। उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्व-मागतम्॥ —काव्यालङ्कारसारसंग्रह, ४।१७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

रुद्रटाचार्य ने भी उदात्त अलङ्कार का निरूपण नहीं किया है। उन्होंने उससे मिलते जुलते अवसर अलङ्कार का उल्लेख किया है। उनके अनुसार किसी वस्तु की उत्कृष्टता के प्रतिपादन के लिये किसी उत्कृष्ट अथवा सरस वस्तु को उसका उपलक्षण बनाना अवसर अलङ्कार होता है।[1] उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि रुद्रट को भी अवसर अलङ्कार में चरित्र तथा वस्तु की उदात्तता तथा सरसता का वर्णन अभीष्ट है किन्तु वे उस वर्णन से अन्य का उत्कर्षाधान आवश्यक मानते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रुद्रट का अवसर उद्भट के उदात्त अलङ्कार का ही कुछ परिवर्तित रूप है।

सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज ने भी उदात्त अलङ्कार की चर्चा नहीं की है।

मम्मट तथा राजानक रुय्यक ने उद्भट की उदात्त अलङ्कार की धारणा को स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ किसी वस्तु का समृद्ध वर्णन होता है तथा उदारचरितों का अङ्गरूप में वर्णन किया जाता है, वहाँ उदात्त अलङ्कार होता है।[2] रुय्यक के अनुसार समृद्धि से युक्त वस्तु का वर्णन उदात्त अलङ्कार है और महापुरुषों का अंगभूत चरित भी उदात्त अलङ्कार है।[3]

पीयूषवर्ष जयदेव के अनुसार सम्पत्ति की अधिकता के वर्णन में तथा उत्तम पुरुषों के चरित्र के अङ्ग रूप से वर्णन में उदात्त अलङ्कार होता है।[4]

विश्वनाथ के अनुसार जहाँ लोकोत्तर वैभव का वर्णन किया जाता है तथा उदात्त पुरुषों के चरित का गौण रूप में वर्णन किया जाता है वहाँ उदात्त अलङ्कार होता है।[5]

अप्पयदीक्षित ने भी उद्भट के मत का ही अनुसरण किया है। उनके अनुसार

---

१. (क) अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि वोपलक्षणं क्रियते।
अर्थस्य तदभिधानप्रसङ्गतो यत्र सोऽवसरः॥

—**काव्यालंकार (रुद्रट), ७।१०३।**

(ख) द्रष्टव्य—**वही, ७।१०४—१०५।**

२. उदात्तं वस्तुनः सम्पत् महतां चोपलक्षणम्।

—**काव्यप्रकाश, १०।११५।**

३. (क) समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम्। —**अलंकारसर्वस्व, सूत्र—८१।**

(ख) अङ्गभूतमहापुरुषचरितं च। —**वही, सूत्र—८२।**

४. उदात्तमृद्धिचरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम्। —**चन्द्रालोक, ५।११५।**

५. लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत्॥

—**साहित्यदर्पण, १०।९४।**

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

जहाँ समृद्धि का वर्णन हो अथवा किसी अन्य वस्तु के अंग के रूप में श्लाघ्य चरित का वर्णन हो, वहाँ उदात्त अलङ्कार होता है।[1]

निष्कर्ष यह है कि भामह से लेकर अप्पयदीक्षित तक उदात्त अलङ्कार के दो रूप सर्वमान्य रहे हैं—

१. समृद्धि युक्त वस्तु का वर्णन तथा २. उदार चरित का उपलक्षण रूप में अर्थात् अन्य वस्तु के अङ्ग रूप में वर्णन।

मिश्रित वर्ग—

संसृष्टि—ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर सर्वप्रथम भामह के **काव्यालंकार** में संसृष्टि का वर्णन प्राप्त होता है। भामह के अनुसार अनेक रत्नों से रचित माला के समान बहुत अलङ्कारों के योग से संसृष्टि नामक सुन्दर अलङ्कार निष्पन्न होता है।[2] उन्होंने प्रथम उद्धरण में श्लिष्ट और व्यतिरेक की तथा द्वितीय उद्धरण में विभावना और दृष्टान्त की संसृष्टि प्रदर्शित की है और अन्त में कहा है कि इसी प्रकार अन्य अलङ्कारों की भी संसृष्टि करनी चाहिए।[3]

आचार्य दण्डी ने संसृष्टि के दो रूप स्वीकार किये, जिनमें से एक रूप परवर्ती काल में संकर के रूप में स्वीकृत हुआ। उनके अनुसार संसृष्टि के दो रूप हैं— १. परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से अवस्थिति और २. सभी अलंकारों की समकक्षता[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रथम भेद में अनेक अलंकारों में से एक अलंकार प्रधान या अङ्गी के रूप में रहता है और अन्य अलंकार उसके अङ्ग हो जाते हैं। दूसरे भेद में न कोई अंगी रहता है, न कोई अङ्ग, न कोई प्रधान रहता है, न कोई गौण सभी समकक्ष रहते हैं। अनेक अलंकारों की संसृष्टि को दण्डी ने संकीर्ण भी कहा है।[5] इस प्रकार दण्डी के संसृष्टि के विस्तृत स्वरूप से ही परवर्ती आचार्यों द्वारा कल्पित संकर का विकास हुआ माना जा सकता है।

आचार्य उद्भट ने दण्डी के संसृष्टि के उपर्युक्त दोनों भेदों को पृथक्-पृथक् कर संसृष्टि तथा संकर दो अलंकार स्वीकार किये। संकर की स्वतन्त्र सत्ता की

---

१. उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाघ्यो चान्योपलक्षणम्। —कुवलयानन्द—१६२।

२. वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः। रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा॥ —काव्यलंकार, (भामह), ३।४६।

३. (क) द्रष्टव्य—वही, ३।५०—५१।
(ख) अन्येषामपि कर्तव्या संसृष्टिरनया दिशा।
कियदुद्घटितज्ञेभ्यः शक्यं कथयितुं मया॥ —वही, ३।५२।

४. अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता।
इत्यलंकारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः॥ —काव्यादर्श, २।३६०।

५. नानालंकारसंसृष्टिः संसृष्टिस्तु (संकीर्णं तु संसृष्टिः) निगद्यते। —काव्यादर्श, २।३६०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उद्भावना उद्भट ने ही की, यद्यपि इसके स्वरूप की कल्पना दण्डी द्वारा पूर्व ही हो चुकी थी। उनके अनुसार जहाँ अनेक शब्दार्थालंकारों का परस्पर निरपेक्ष भाव से एकत्र सन्निवेश होता है, वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है।[1]

आचार्य वामन के अनुसार एक अलंकार से अलंकारान्तर का कार्य-कारण भाव सम्बन्ध होना संसृष्टि अलंकार कहलाता है।[2] वामन ने संसृष्टि के दो भेद स्वीकार किये हैं—१. उपमारूपक और २. उत्प्रेक्षावयव।

आचार्य रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष वर्ग के सभी अलंकारों के संकीर्ण रूप को सामान्यत: संकर कहकर पुन: उसके तिलतण्डुल रूप से तथा नीर-क्षीर रूप से अवस्थिति के आधार पर दो भेद किये हैं।[3] ये दोनों भेद वस्तुत: उद्भट के द्वारा स्वीकृत संसृष्टि तथा संकर से भिन्न नहीं हैं। रुद्रट ने दण्डी की तरह संकीर्ण अलंकार को एक ही मानकर पुन: उसके दो भेद स्वीकार किये हैं, किन्तु दोनों में अन्तर केवल यह है कि दण्डी ने संकीर्ण के लिये 'नानालंकारसंसृष्टि' पद का प्रयोग किया है, जबकि रुद्रटाचार्य ने संकर शब्द का प्रयोग किया है। अत: दण्डी द्वारा प्रयुक्त संसृष्टि और रुद्रट द्वारा प्रयुक्त संकर पर्यायवाची कहे जा सकते हैं।

भोजराज ने दण्डी की भाँति संसृष्टि का व्यापक स्वरूप मान कर उसी में संकर को अन्तर्निहित मान लिया है। अलंकारों की पस्पर निरपेक्षता तथा सापेक्षता के आधार पर भेद-निरूपण किया गया है। उनके अनुसार नानालंकारों का संकर संसृष्टि होती है और वह व्यक्त, अव्यक्त तथा व्यक्ताव्यक्त रूप से त्रिविध होती है। तिल-तण्डुलवत् और छायादर्शवत् व्यक्त संसृष्टि होती है, क्षीर-जलवत् तथा पांसु-पानीयवत् अव्यक्त संसृष्टि होती है। नानालंकारसंकर में नरसिहवत् और चित्र-वर्णवत् व्यक्ताव्यक्त संसृष्टि होती है।[4]

---

१. द्रष्टव्य—**काव्यालंकारसारसंग्रह**—६।६।११।

२. अलंकारस्य अलंकारयोनित्वं संसृष्टि:।

—**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति**, ४।३।३०।

३. योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात्संकर उत्पद्यते द्वेधा॥

—**काव्यालंकार** (रुद्रट), १०।२५।

४. संसृष्टिरिति विज्ञेया नानालंकारसंकर:।
सा तु व्यक्ता तथाव्यक्ता व्यक्ताव्यक्तेति च त्रिधा॥
तिलतण्डुलवद्व्यक्ता छायादर्शवदेव च।
अव्यक्ता क्षीरजलवत्पांसुपानीयवच्च सा॥
व्यक्ताव्यक्ता च संसृष्टिर्नरसिंहवदिष्यते।
चित्रवर्णवदन्यस्मिन्नानालंकारसंकरे॥

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ४।८८–९०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ और अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों ने उद्भटाचार्य की भाँति संसृष्टि तथा संकर अलंकारों का निरूपण स्वतन्त्र रूप में किया है। मम्मटाचार्य के अनुसार नवम तथा दशम उल्लास में वर्णित अलंकारों का यथा सम्भव एक दूसरे के निरपेक्षभाव से जहाँ एक स्थान पर शब्द रूप (काव्य के) भाग में या अर्थ के विषय में अथवा शब्द तथा अर्थ दोनों में ही एकत्र स्थिति होती है, वह एक वस्तु में अनेक अलंकारों का सम्बन्ध होना संसृष्टि है।[1]

राजानक रुय्यक के अनुसार अलंकारों के तिल और चावल की भाँति मिलने पर संसृष्टि होती है।[2] तिल-तण्डुलन्याय से होने वाली संसृष्टि शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार में होने के कारण तीन प्रकार की होती है।[3]

विश्वनाथ के अनुसार जहाँ परस्पर निरपेक्ष शब्दालंकारों, अर्थालंकारों तथा शब्दार्थालंकारों की तिल-तण्डुलवत् एकत्र अवस्थिति होती है, वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है।[4]

अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ अनेक शब्दालंकारों या अर्थालंकारों अथवा शब्दार्थालंकारों का तिल-तण्डुलवत् मिश्रण होता है, वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है।[5]

इस प्रकार संसृष्टि के विकास के सम्बन्ध में निम्न विचार प्रकट हुए हैं—

---

१. (क) सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः।

—**काव्यप्रकाश**, १०।१३९।

(ख) एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योन्यनिरपेक्षतया यदेकत्र शब्दभागे एव, अर्थविषये एव, उभयत्रापि वा अवस्थानं सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः।—**वही**, १०।१३९–वृत्ति।

(ग) द्रष्टव्य—**वही**, उद्धरण १०।५६७, ५६८, ५६९।

२. एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वे संसृष्टिः।—**अलंकारसर्वस्व**, सूत्र–८५।

३. (क) तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्ती संसृष्टिस्त्रिविधा। शब्दालंकारगतत्वेन अर्थालंकारगतत्वेन उभयालंकारगतत्वेन च।

—**वही**, सूत्र ८५–वृत्ति।

(ख) द्रष्टव्य—**वही**, उद्धरण–२६४–२६७, पृ० ३५७–३५९।

४. मिथोऽनपेक्षमेतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते।—**साहित्यदर्पण**, १०।९८।

५. (क) अथ एतेषामलंकाराणां यथा सम्भवं क्वचिन्मेलने लौकिकालंकारणां मेलन इव चारुत्वातिशयोपलम्भान्नरसिंहन्यायेन पृथगलंकारावस्थितौ तन्निर्णयः क्रियते। तत्र तिलतण्डुलन्यायेन स्फुटावगम्यभेदालंकारमेलने संसृष्टिः।—**कुवलयानन्द**, पृ० २८५।

(ख) द्रष्टव्य—**वही**, उद्धरण, पृ० २८५–२८६।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

१. अलंकारों का संकीर्ण रूप संसृष्टि कहलाता है तथा संसृष्टि के दो रूप हैं—अनेक अलङ्कारों का परस्पर सापेक्ष तथा निरपेक्ष रूप से एकत्र अवस्थित होना।

२. संसृष्टि तथा संकर पृथक्-पृथक् हैं। अलङ्कारों की परस्पर निरपेक्ष भाव से तिल-तण्डुलवत् एकत्र योजना संसृष्टि है तथा उनकी परस्पर सापेक्ष रूप से दुग्ध-जलवत् योजना संकर है।

संकर अलंकार—आचार्य भामह ने संकर का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया था। दण्डी ने संसृष्टि के दो रूप स्वीकार किये, जिनमें से एक बाद में संकर के रूप में स्वीकृत हुआ। उन्होंने अलङ्कारों के संकीर्णत्व की चर्चा करते हुए उसके एक भेद में अनेक अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव से सद्भाव स्वीकार किया था। दण्डी की संसृष्टि के व्यापक स्वरूप में ही परवर्ती आचार्यों द्वारा कल्पित संकर की सम्भावना अन्तर्निहित थी। आचार्य उद्भट ने दण्डी स्वीकृत संसृष्टि के दोनों भेदों को अलग-अलग कर संसृष्टि तथा संकर नामक दो अलङ्कार स्वीकार किये। इस प्रकार संकर की संसृष्टि से स्वतन्त्र सत्ता की उद्भावना उद्भट ने की। उनके पूर्व संकर का स्वतन्त्र अस्तित्व मान्य नहीं हुआ था, यद्यपि संकर के स्वरूप की कल्पना पूर्व ही हो चुकी थी। आचार्य भरत ने विभूषण लक्षण में अनेक अलङ्कारों तथा गुणों के समानाधिकरण्य की कल्पना की है।[1] संकर में अनेक अलङ्कार समान अधिकरण में रहते हैं। अतः संकर कल्पना का आधार भरतमुनि की विभूषण-धारणा को माना जा सकता है।

आचार्य दण्डी ने अनेक अलङ्कारों की संसृष्टि को संकीर्ण भी कहा है।[2] उन्होंने अलङ्कारों के संकीर्णत्व की चर्चा करते हुए उसके एक भेद में अनेक अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव से सद्भाव स्वीकार किया है।[3]

उद्भटाचार्य नें दण्डी के संकीर्ण अथवा संसृष्टि के दोनों भेदों को अलग-अलग कर संकर एवं संसृष्टि नामक दो अलङ्कारों की सत्ता स्वीकार की। उन्होंने संकर के स्वरूप की धारणा दण्डी की संकीर्ण या संसृष्टि की धारणा से ही ग्रहण की। संकर के चार भेदों की कल्पना भी उद्भट ने ही प्रथम बार की। यथा—१. अनुग्राह्यानुग्राहक संकर २. सन्देहसंकर ३. शब्दार्थवर्त्यलङ्कार संकर तथा ४. एक

---

१. अलंकारैर्गुणैश्चैव बहुभिर्यदलंकृतम्।
भूषणैरिव विन्यस्तैस्तद्भूषणमिति मतम्॥—**नाट्यशास्त्र**, १६।५।

२. नानालंकारसंसृष्टिः संसृष्टिस्तु (संकीर्णं तु) निगद्यते।
—**काव्यादर्श**, २।३५९।

३. अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता।
इत्यलंकारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः॥—**वही**, २।३६०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

शब्दाभिधान संकर। संकर के ये सभी भेद एक अधिकरण में अनेक अलङ्कारों के सद्भाव की मान्यता पर आधृत है।[1]

आचार्य वामन ने अलङ्कार के अलङ्कारयोनित्व को संसृष्टि कहा है।[2] उन्होंने इसके दो भेद स्वीकार किये हैं—उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव। आचार्य भामह ने उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव दोनों अलङ्कारों की संसृष्टि से स्वतन्त्र सत्ता मानी थी किन्तु वामन ने उन्हें संसृष्टि के प्रकार मान लिया। अलङ्कारों के इस अङ्गाङ्गिभावस्थान को भामह और दण्डी ने भी संसृष्टि कहा है किन्तु उद्भट ने इस रूप को संकर तथा अलङ्कारों के परस्पर निरपेक्ष भाव की स्थिति में संसृष्टि अलङ्कार माना है। वामन ने भामह के मत का अनुसरण किया है।

रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष वर्ग के सभी अलंकारों के संकीर्ण रूप को सामान्य रूप से संकर अभिहित कर पुनः उसके तिल-तण्डुलन्याय से (परस्पर निरपेक्ष भाव से) और नीर-क्षीर-न्याय से (परस्पर सापेक्ष भाव से) सद्भाव के आधार पर दो भेद किये हैं।[3] रुद्रट-स्वीकृत ये दोनों भेद उद्भट के संसृष्टि तथा संकर के सदृश हैं। इस प्रकार रुद्रट ने संकीर्णालङ्कार को एक ही स्वीकार कर पुनः उसके दो भेद किये हैं। जहाँ दण्डी ने संकीर्ण के लिये नानालङ्कार संसृष्टि पद का प्रयोग किया है, वहाँ रुद्रट ने संकर शब्द का प्रयोग किया है।

भोजराज ने दण्डी की पद्धति का अनुसरण कर संसृष्टि का व्यापक स्वरूप मानकर उसी में संकर को अन्तर्निहित स्वीकार किया है। अलंकारों की तिल-तण्डुलवत् परस्पर निरपेक्षता तथा नीर-क्षीरवत् परस्पर उसके भेद के रूप में विचार किया गया है।[4]

मम्मटाचार्य ने संसृष्टि तथा संकर अलंकारों का निरूपण परस्पर स्वतन्त्र रूप में किया है। उनके अनुसार अपने स्वरूप में निरपेक्ष भाव से पर्यवसित न होने

---

१. द्रष्टव्य—**काव्यालंकारसारसंग्रह**, ५।११–१३, ६।६, ११।

२. अलंकारस्य अलंकारयोनित्वं संसृष्टिः।

—**काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति**, ४।३।४०।

३. योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात्संकर उत्पद्यते द्वेधा॥

—**काव्यालङ्कार (रुद्रट)** १०।२५।

४. (क) संसृष्टिरिति विज्ञेया नानालंकारसंकरः।
सा तु व्यक्ता तथाव्यक्ता व्यक्ताव्यक्तेति च त्रिधा॥

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ४।८८।

(ख) द्रष्टव्य—**वही**, ४।८९–९०।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

वाले अलंकारों का अङ्ग तथा अङ्गी (अनुग्राहक और अनुग्राह्य) रूप से स्थित होना संकर अलंकार होता है।[1]

राजानक रुय्यक के अनुसार क्षीरनीरन्याय से मिश्रण होने पर संकर अलंकार होता है।[2] यह मिश्रण अङ्गाङ्गिभाव, सन्देह तथा एक वाचकानुप्रवेश इन तीन रूपों का होने से तीन प्रकार के संकर को जन्म देता है।[3]

विश्वनाथ के अनुसार संकर वह अलंकार है जिसे दो या दो से अधिक अलंकारों का ऐसा सम्मिश्रण कहते हैं, जिसमें वे अलंकार या तो अङ्गाङ्गिभाव से सम्बद्ध रहा करते हैं या एकत्र अवस्थित रहा करते हैं अथवा सन्देह के विषय बन जाया करते हैं। अलंकारों की इस त्रिविध संकीर्णता के कारण संकर भी तीन प्रकार का होता है—१. अङ्गाङ्गिभावरूप संकर २. एकत्रावस्थानरूप संकर और ३. सन्दिग्ध रूप संकर।[4]

अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ अनेक अलंकार इस प्रकार मिश्रित हो गये हों कि वे स्पष्ट रूप से अलग-अलग प्रतीत नहीं होते हों। अर्थात् जहाँ वे नीर-क्षीरन्याय से मिल जाएँ, वहाँ संकर अलंकार होता है। यह संकर अलंकार चार प्रकार का होता है—१. अङ्गाङ्गिभाव रूप संकर २. समप्राधान्यरूप संकर ३. सन्देह रूप संकर और ४. एकवाचकानुप्रवेशरूप संकर।[5]

स्पष्ट है कि मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों की संकर के स्वरूप की मान्यता में एक रूपता रही है। अलंकारों का परस्पर सापेक्ष भाव से एकत्र अवस्थान संकर का सर्वमान्य लक्षण है।

---

१. (क) अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः।

—**काव्यप्रकाश**, १०।४०।

(ख) एते च यत्रात्मनि अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकता दधति स एषां संकीर्यमाणस्वरूपत्वात्संकरः।

—**वही**, १०।१४० वृत्ति।

२. क्षीरनीरन्यायेन तु संकर।—**अलंकारसर्वस्व**, सूत्र ८६।

३. अनुत्कटभेदत्वमिश्रत्वं संकरः। तच्च मिश्रत्वमङ्गाङ्गिभावेन, संशयेन एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधा भवत्संकरं त्रिभेदमुत्थापयति।

—**वही**, वृत्ति सूत्र–८६।

४. अङ्गाङ्गित्वेऽलंकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ।
सन्दिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः॥—**साहित्यदर्पण**, १०।९८।

५. नीरक्षीरन्यायेनास्फुटभेदालंकारमेलने संकरः। स चङ्गाङ्गिभावेन समप्राधान्येन सन्देहेन एकवाचकानुप्रवेशेन च तुर्विधः।

—**कुवलयानन्द**, पृ० २८५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

उपसंहार

भारतीय साहित्यशास्त्र (किंवा अलंकारशास्त्र या काव्यशास्त्र) में अलंकार सम्बन्धी चिन्तन की परम्परा अत्यन्त सुदीर्घ रही है, क्योंकि साहित्यशास्त्र में जितना ऊहापोह अलंकार के सम्बन्ध में हुआ है, उतना किसी दूसरे काव्य-तत्त्व के सम्बन्ध में नहीं। अनेक आचार्यों ने केवल अलंकार पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना तक कर डाली है। इसके अतिरिक्त विभिन्न काव्य-तत्त्वों का अनुशीलन-परिशीलन करने वाले आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों के एक अथवा एकाधिक अध्यायों में अलंकारों के स्वरूप का विवेचन अवश्य किया है। अलंकार के महत्त्व का रहस्य यह है कि वे उक्ति के चमत्कार के प्रकाशन में सहायक होकर उसके प्रभाव की वृद्धि करते हैं। मानव की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह अपनी उक्ति को अधिकाधिक प्रभावोत्पादक बनाकर प्रस्तुत करना चाहता है। यही कारण है कि काव्य-भाषा में ही नहीं, लोक-भाषा में भी अनेक अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। उक्ति के प्रभाव को बढ़ाने में ही अलंकारों की सार्थकता है। कवि के मनोवाञ्छित एवं अभीष्टार्थ को अधिकाधिक प्रभाव पूर्ण बनाकर व्यक्त करने में काव्यालंकार सहायक होते हैं, यह बात महिमभट्ट की उक्ति से स्पष्ट हो जाती है कि उत्कर्ष और अपकर्ष के बिना पदार्थ कदापि चमत्कारी नहीं लगते। उस चमत्कार के लिये ही कवि-लोग अलंकारों का प्रयोग करते हैं।[1]

अलंकार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। भाव व्युत्पत्ति से अलंकार शब्द का अर्थ (अलंकृतिः अर्थात् अलम्+कृ+क्तिन्=अलंकृतिः तथा अलम्+कृ+घञ्=अलकारः) भूषण या शोभा का भाव है। इस अर्थ में अलंकार सौन्दर्य से अभिन्न है।[2] इसी अर्थ में वामनाचार्य नें अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय कहकर अलंकार युक्त कार्य को ग्राह्य और अलंकारहीन काव्य को अग्राह्य माना था।[3] उनके अनुसार अलंकृत करने वाले तत्त्वों से अभिप्राय उपमादि से है।[4]

---

१. विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते ॥—**व्यक्तिविवेक**, २।१४।

२. सौन्दर्यमलंकारः।—**काव्यालंकार**, सूत्र वृत्ति, १।१।२।

३. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।—**वही**, १।१।१।

४. अलंकृतिरलंकारः। करणव्युत्पत्त्या पुनः। अलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते।—वही, १।१।२।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अलंकार शब्द का दूसरा विशिष्ट अर्थ उस शब्द की करण व्युत्पत्ति से उपलब्ध होता है—**अलंक्रियते अनेन स अलंकारः** अर्थात् वह तत्त्व जो काव्य को अलंकृत करने का साधन हो। आधुनिक काल में अलंकार शब्द का व्यवहार शब्दार्थ को अलंकृत करने वाले तत्त्व के अर्थ में ही अधिक प्रचलित है। रुय्यक के अनुसार कवि प्रतिभा से समुद्भूत अभिधान के प्रकार विशेष को अलंकार कहते हैं।[1] आनन्दवर्धन के अनुसार वाग्विकल्प अनन्त हैं और उनके प्रकार ही अलंकार कहलाते हैं।[2] आचार्य कुन्तक ने विदग्धों के कथन की प्रणाली को अलंकार माना है।

अलंकार वस्तुतः सौन्दर्य वृद्धि के साधन हैं। काव्य में इनका प्रयोग भावों को सजाने एवं रमणीयता प्रदान करने के लिये होता है। अलंकारों के द्वारा अभिव्यक्ति में तीव्रता और भावों में प्रभावोत्पादकता आ जाती है। अलंकारों की सार्थकता उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग में निहित होती है। आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि उचित स्थान पर धारण करने पर ही लौकिक या काव्यात्मक अलंकारों की अलंकृति स्थिर हो सकती है।[3]

आचार्य मम्मट ने आलंकारिक भाषा में अलंकार का स्वरूप निरूपण किया है—जो (धर्म) अङ्गभूत शब्द और अर्थ के द्वारा अङ्गी रस का हारादि के समान कभी उपकार करते हैं, वे अनुप्रास उपमा आदि अलंकार कहलाते हैं।[4]

आपाततः अलंकार का विवेचन-विश्लेषण काव्य-सौंदर्य के प्रसंग में ही हुआ है। कुछ आचार्यों ने व्यापक अर्थ में अलंकार को काव्य-सौंदर्य का पर्याय मानकर, रस, गुण आदि सभी काव्य-तत्त्वों को उसमें समाविष्ट कर दिया। किन्तु विशिष्ट

---

१. अभिधाप्रकारविशेषा एवालंकाराः।

—**अलंकारसर्वस्व**, भूमिका भाग, पृ० ६।

२. अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः।

—**ध्वन्यालोक**, ३।३७ वृत्ति, पृ० ४०१।

३. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ॥—**औचित्यविचारचर्चा**।

४. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥—**काव्यप्रकाश**, ८।६७।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

अर्थ में अलंकार को काव्य में सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार शब्दार्थमय काव्य-शरीर के माध्यम से उसकी आत्मा रस का उपस्कारक तत्त्व माना गया।

यद्यपि भरतमुनि ने उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक इन चार अलंकारों के स्वरूप का ही विवेचन किया है, तथापि आचार्य भरत काव्य में प्रयुक्त होने वाली सभी उक्ति भङ्गियों के स्वरूप से परिचित थे। उन्होंने उनमें से कुछ का स्वरूप निरूपण अलंकार के रूप में किया था कुछ का लक्षण के रूप। में भरत मुनि के द्वारा स्वीकृत चार अलंकारों की संख्या बढ़कर शताधिक हो गई। भारतीय साहित्यशास्त्र में मान्य अनेक अलंकारों की रूप-रचना में भरतमुनि द्वारा वर्णित लक्षणों के योग को स्पष्ट देखा जा सकता है। जैसे आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि। इसके अतिरिक्त कुछ लक्षण के नाम-रूप भी यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ अलंकार के रूप में स्वीकार कर लिये गये हैं यथा प्रियवचन तथा दृष्टान्त लक्षण क्रमशः प्रेय तथा दृष्टान्त अलंकार के रूप में स्वीकृत हुए हैं। कुछ अलंकारों का मूल भरत की गुणधारणा में प्राप्त होता है। जैसे अर्थव्यक्ति गुण आधार पर स्वभावोक्ति की कल्पना हुई है। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत का स्पष्ट कथन है कि अलंकारों के नये-नये नाम-रूप की कल्पना भरत के द्वारा वर्णित लक्षणों के योग से की गई है। इसके अतिरिक्त अनेक आचार्यों ने समय-समय पर अलंकार विषयक नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं। एक अलंकार के सादृश्य के आधार पर दूसरे अलंकार की कल्पना की गई, एक के वैपरीत्य के आधार पर भी दूसरे अलंकार के स्वरूप की कल्पना की गई। अधिक के वैपरीत्य के आधार पर अल्प के स्वरूप की कल्पना इसका अन्यतम उदाहरण है। इस प्रकार अलंकारशास्त्र में वास्तव, औपम्य, अतिशय, विरोध, शृंखला आदि मूल तत्त्वों के आधार पर अनेक अलंकार कल्पित हुए हैं।

अलंकारों के स्वरूप-विकास के साथ-साथ उनके वर्गीकरण के लिये प्रारम्भ में शब्द और अर्थ के आधार पर दो वर्ग स्वीकृत हुए—शब्दालंकार और अर्थालंकार। इसके अतिरिक्त इन दोनों के बीच एक उभयालंकार वर्ग भी कल्पित हुआ है। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के निर्धारण के लिए यह मानदण्ड स्थापित किया गया है कि जहाँ शब्दगत चमत्कार हो, वहाँ अर्थालंकार होता है। यदि किसी उक्ति में से किसी शब्द को हटाकर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने पर अलंकारत्व की हानि हो, तो उसे शब्दालंकार कहा जाता है। इसके विपरीत यदि किसी शब्द विशेष के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी अलंकारत्व नष्ट न हो, तो उसे अर्थालंकार कहा जाता है। इस प्रकार शब्द-पर्याय को सहन न करने वाला शब्दालंकार तथा शब्द परिवृत्ति को सहन करने वाला अर्थालंकार कहा जाता है। उभयालंकार में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का मिश्रण होता है।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

निष्कर्षत: काव्यालंकारों के स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि अलंकार शब्द और अर्थ का वह धर्म है जो उन्हें लोकव्यवहार के साधारण प्रयोग से अधिक सुन्दर बनाता है, वर्ण्य वस्तु के रूप, गुण, क्रिया की प्रभाव वृद्धि करता है, उसे स्पष्टता एवं लाघव के साथ व्यक्त करने में सहायक होता है, सरस काव्य में उचित योजना होते पर रस की व्यञ्जना में सहायक होता है और रस हीन काव्य में उक्ति में वैचित्र्य का आधान कर श्रोता के मन में विस्मय-मिश्रित प्रसन्नता को उत्पन्न करता है।[1]

———

१. अलङ्कार-धारणा : विकास और विश्लेषण से उद्धृत, पृ० ८०५।

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत

नाट्यशास्त्र—अभिनवभारती सहित	भरतमुनि
काव्यालंकार	भामह
काव्यादर्श	दण्डी
अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग	डा० रामलाल वर्मा
काव्यालंकारसारसंग्रह	उद्भट
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	वामन
काव्यालंकार	रुद्रट
सरस्वतीकण्ठाभरण	भोजराज
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक
व्यक्तिविवेक	महिमभट्ट
काव्यप्रकाश	मम्मट
अलंकारसर्वस्व (विमर्शिनी सहित)	राजानक रुय्यक
चन्द्रालोक	पीयूषवर्ष जयदेव
एकावली	विद्याधर
काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
काव्यमीमांसा	राजशेखर
अलंकार महोदधि	नरेन्द्रप्रभसूरि
प्रतापरुद्रयशोभूषण	विद्यानाथ
अलंकाररत्नाकर	शोभाकर मित्र
अलङ्कारशेखर	केशवमिश्र
साहित्यदर्पण	विश्वनाथ
कुवलयानन्द	अप्पयदीक्षित
चित्रमीमांसा	अप्पयदीक्षित
औचित्यविचारचर्चा	क्षेमेन्द्र
रसगंगाधर	पंडितराज जगन्नाथ
अलङ्कारकौस्तुभ	आचार्य विश्वेश्वर
वाग्भटालङ्कार	वाग्भट
निरुक्त	यास्क
भ[illegible]	पाणिनि

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

हिन्दी

काव्यदर्पण	पं० रामदहिन मिश्र
अलङ्कारमीमांसा	डा० रामचन्द्र द्विवेदी
अलङ्कार-धारणा: विकास और विश्लेषण	डा० शोभाकान्तमिश्र
भारतीय साहित्यशास्त्र भाग १,२	पं० बलदेव उपाध्याय
संस्कृत आलोचना	पं० बलदेव उपाध्याय
सिद्धान्त और अध्ययन	डा० गुलाबराय
ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त	डा० भोलाशंकर व्यास
भारतीय काव्यशास्त्र और काव्यालङ्कार	डा० भोलाशंकर व्यास
अलङ्कार-मीमांसा	डा० राजवंश सहाय हीरा
अलङ्कारानुशीलन	डा० राजवंश सहाय हीरा
संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलङ्कारों का विकास	डा० ब्रह्मानन्द शर्मा
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास	डा० पी० वी० काणे

English

Sanskrit Poetics	Dr. S. K. De
History of Sanskrit Poetics	Dr. P. V. Kane.
Some concepts of Alankara Shastra.	Dr. V. Raghavan
Indian Aesthetics	Dr. K. C. Pandey

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

This PDF you are browsing now is in a series of several scanned rare books and manuscripts from Sanskrit Academy, Hyderabad.

Address:

Manikeshwar Nagar Kaman,

Osmania University, Tarnaka,

Hyderabad, Telangana, 500007

https://sanskritacademy.net/

https://archive.org/details/@sanskrit_academy_hyd

The Academy is currently led by Director Shri Madhushan Penna.

His CV:

Prof. Penna madhusudan,

Director Sanskrit Academy, Hyderabad

Areas of interest

Yoga shastra, nyaya, yoga and vedanta philosophy.

Works

3 mahakavyas, 10 laghukavyas, 30 translations and 140 edited books

Sahitya Academy Awardee for Mahakavya on Gulabrao Maharaj.

Translated the Marathi Jnaneshwari in 9000 Sanskrit shlokas.

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

Honours

Honorary D.Litt by National Sanskrit University, Tirupati AP. for his unique contribution in Indian Philosophy.

-Vachaspati

-Yoga Ratna

-Shastra nidhi

-Utkrisht Sanskrit Pandit

-Yajna Surabhi

-Shastri (Karavir Peeth)

-Shastra Ratnakara

Awards

- Sahitya Academy award
- Maharashtra govt sadhana award
- Pt. Satvalekar award
- Pt. Latkar shastri award
- Pt. Ghatate award
- Somnath Trust Award with Gold Medal and title of Best Scholar
- Sribhashyam national award

and many other.

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding Ravi Parimi, Hyderabad

Foreign Travel

The Netherlands, Canada for World Sanskrit Conference 2018.

Indian embassy, Nepal 2023

DVDs on yoga, Indian philosophy and Sanskrit Literature.

mspenna67@gmail.com

Digitization by eGangotri Trust/Sarayu Trust, New Delhi

Funding for Digitization: Shri Ravi Parimi, Hyderabad

Sanskrit Academy, Hyderabad Collection. c/o Hon. Dir. Shri Madhusudan Penna